मूलसूत्र : एक परिशीलन

(चार मूलसूत्रों की तुलनात्मक सार समीक्षा)

✦ लेखक ✦

आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि

✦ सम्पादन ✦

मुनि श्री नेमीचन्द जी म.

साध्वीरत्न पुष्पवती जी म.

❋ प्रकाशक ❋

श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म. की
प्रथम पुण्य तिथि पर प्रकाशित
श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय का ३६८वाँ पुष्प

पुस्तक : मूलसूत्र : एक परिशीलन

लेखक : आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी म.

सम्पादन : मुनि श्री नेमीचन्द जी म.
साध्वीरत्न पुष्पवती जी म.

सम्प्रेरक : दिनेश मुनि
: बालयोगी द्वीपेन्द्र मुनि

प्रकाशन सौजन्य : गुरुभक्त डॉ. चम्पालाल जी देसरडा
औरंगाबाद

प्रथम प्रकाशन : वि. सं. २०५७ वैशाख
(आचार्यश्री की प्रथम पुण्य तिथि)
१४ मई २०००

प्रकाशक-प्राप्तिस्थान : **श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय**
गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर-३१३ ००१
फोन : ०२९४-४१३५१८

मूल्य : एक सौ पच्चीस रुपया मात्र
१२५/-

मूलसूत्र : एक परिशीलन

अनुक्रम

क्र. सं.	अध्याय	पृष्ठ सं.
१.	उत्तराध्ययनसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन	१३
२.	दशवैकालिकसूत्र एक समीक्षात्मक अध्ययन	१२३
३.	अनुयोगद्वारसूत्र एक समीक्षात्मक अध्ययन	२०९
४.	नन्दीसूत्र एक समीक्षात्मक अध्ययन	२५१

प्रकाशकीय

श्रमणसंघ के तृतीय पट्टधर, विद्वद्मनीषी आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी इस युग में स्थानकवासी जैन परम्परा के एक प्रख्यात प्रज्ञापुरुष सन्त थे। आप जन्मजात प्रतिभा के धनी थे। बहुश्रुतता के साथ-साथ आप सिद्धहस्त लेखक थे। आपश्री ने जैन साहित्य के विविध विषयों पर लगभग ३५० से अधिक पुस्तकों की रचना कर एक विश्व कीर्तिमान स्थापित किया। आचार्यश्री अभी अपनी बहुमुखी प्रतिभा से और भी साहित्य सर्जन कर श्रुत-देवता के भंडार की अभिवृद्धि करते, किन्तु अकस्मात् ही आपश्री का स्वर्गवास हो गया जिससे जैन जगत् की अपूरणीय क्षति हुई।

आचार्यश्री ने जैन आगमों पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रस्तावनाएँ भी लिखीं, जो केवल प्रस्तावना न होकर संपूर्ण आगम की सारपूर्ण समीक्षाएँ सिद्ध हुईं। इन प्रस्तावनाओं को पढ़कर संपूर्ण आगम का विषय दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित हो उठता है। आचार्यश्री द्वारा लिखित प्रस्तावनाओं में आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांगसूत्र एवं भगवतीसूत्र की प्रस्तावना तथा चार छेदसूत्रों की प्रस्तावना तो छप चुकी हैं। मूलसूत्रों की प्रस्तावना भी छपने की तैयारी थी, किन्तु दुर्भाग्यवश इसी बीच परमश्रद्धेय आचार्यश्री का स्वर्गवास हो गया। स्वर्गवास से पहले ही आचार्यश्री ने नन्दीसूत्र की अपूर्ण-प्रस्तावना को पूर्ण कर इसके संशोधन संपादन के लिए विद्वद्रत्न मुनि श्री नेमीचन्द जी म. को संपूर्ण सामग्री प्रेषित कर दी थी। मुनिश्री ने मनोयोगपूर्वक पांडुलिपि में आवश्यक संशोधन परिवर्धन करके पुनः आचार्यश्री की सेवा में अवलोकन हेतु भेजी। आचार्यश्री इसका पूर्ण अवलोकन कर ही नहीं पाये अचानक काल ने उनको हमसे छीन लिया। इन चारों मूलसूत्रों की प्रस्तावनाओं को पुनः व्यवस्थित रूप देने का श्रमपूर्ण सहयोग पूज्य बहन महाराज साध्वीरत्न श्री पुष्पवती जी म. ने किया। और इसके प्रकाशन में गुरुदेव के परमभक्त साहित्य प्रकाशन में एकनिष्ठभावेन सहयोगी उदारमना सुश्रावक डॉ. चम्पालाल जी देसरडा (औरंगाबाद) ने संपूर्ण अर्थ सहयोग प्रदान करके गुरुदेव के प्रति असीम श्रद्धा अभिव्यक्त की है, तथा हमारे कार्य को सहज-सम्पन्न किया है। हम उनके आभारी हैं। पुस्तक के मुद्रण में साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने पूर्ण श्रद्धाभावपूर्वक परिश्रम किया है। इस उपक्रम में गुरुदेव श्री के एकनिष्ठ सेवाभावी अन्तेवासी श्री दिनेश मुनि जी की प्रेरणा हमारा उत्साह बढ़ाती रही है। हम आप सबके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

-चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर

यत्किंचित्

तीर्थंकर गोत्र कर्मबंध के बीस स्थानकों में एक स्थान है–पुनः-पुनः श्रुतज्ञान की आराधना/प्रभावना करना। जो साधक परम एकनिष्ठ भावपूर्वक श्रुतज्ञान की आराधना-साधना में लीन रहता है वह कभी उत्कृष्ट रसायन आने पर संसार का सर्वश्रेष्ठ लोकोत्तर पद भी प्राप्त कर लेता है। यह वीतराग सर्वज्ञ पुरुषों का कथन है।

श्रुत समुपासना के क्षेत्र में अनेक यशस्वी नामों की शृंखला में श्रमणसंघ के तृतीय पट्टधर आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी का नाम जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। नौ वर्ष की लघुवय से ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना में जुटकर ६८ वर्ष की अवस्था तक लगभग ६ दशक तक समर्पित भाव से एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ते गये, बढ़ते गये और अपनी साधना के शिखर तक पहुँचने में सफल हुए। उनका नाम आज भारतीय साहित्य की विशिष्टधारा जैन साहित्य के क्षेत्र में विश्व मंच पर प्रख्यात है। आचार्यश्री ने अपने जीवनकाल में बहुत अध्ययन किया, मनन किया, चिन्तन किया और उस चिन्तन-मनन को लेखनी के माध्यम से साहित्य के रूप में प्रस्तुत कर जैन साहित्य की जो अभिवृद्धि की है, वह आश्चर्यजनक कही जा सकती है। विविध विषयों पर लगभग ३५० से अधिक पुस्तकों का लेखन संपादन संशोधन कर आपश्री ने जैन साहित्य को समृद्ध किया है, तथा लाखों पाठकों की ज्ञान-वृद्धि और दर्शन–विशुद्धि से सहायक बने हैं, यह एक अटल सत्य है।

आचार्यश्री ने इतिहास–दर्शन–संस्कृति–आगम–प्रवचन–चिन्तन–कथा-कहानी–जीवन चरित्र आदि विषयों में जहाँ सरल और कठिन दोनों प्रकार की शैली में सैकड़ों पुस्तकों का प्रणयन किया है। वहीं कर्म सिद्धान्त जैसे अति गहन–गंभीर और सम्यक्त्व की मूल आधार भूमि पर 'कर्म-विज्ञान' नामक विशालकाय ग्रंथ की रचना की है। वह जैन साहित्य के क्षेत्र में एक अनूठी कृति कहलायेगी। नौ भागों में लगभग ४५०० पृष्ठों में प्रकाशित इस महाकाय ग्रंथ का अनुशीलन–परिशीलन करने वाला जिज्ञासु पाठक उनके प्रति बार-बार श्रद्धानत हुए बिना नहीं रहेगा। एक विषय को इतने विस्तार और सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत कर सचमुच आचार्य भगवंत ने एक चिरस्मरणीय कार्य किया है।

इसी प्रकार जैन आगमों पर भी आचार्यश्री ने नवीन शैली में जो लिखा है, वह अपने आप में अनूठा है। श्रमणसंघ के युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म. सा. के निदेशन में आगमों का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन प्रारंभ हुआ तब आपने आगमों पर अधिकार पूर्ण प्रस्तावनाएँ लिखने का उनका आग्रह सादर स्वीकार किया था।

प्रस्तावना का अर्थ ही है--पुस्तक में वर्णित समस्त विषय की पृष्ठभूमि; उसकी रूपरेखा और उस विषय का सर्वांगीण स्वरूप प्रस्तुत कर देना, जिससे पुस्तक पढ़ने से पहले ही पाठक के हृदय में उस विषय की जिज्ञासा और श्रद्धा उत्पन्न हो जाये और उस विषय को स्पष्ट समझने की योग्यता पात्रता भी प्राप्त हो सके। यह कार्य वही कर सकता है जो उस विषय का अधिकारी विद्वान् हो, साथ ही उस विषय के प्रति निष्ठा, श्रद्धा और आदर भाव से समर्पित हो। उस समय युवाचार्यश्री ने प्रस्तावना लिखने के लिए जिन-जिन विद्वानों के नामों पर चिन्तन किया उनमें सर्वाधिक सार्थक नाम श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री का था। उस समय आप श्रमणसंघ के किसी पद पर नहीं थे परन्तु अपनी विशिष्ट विद्वत्ता और बहुमुखी ज्ञान-प्रतिभा के कारण समूचे जैन समाज में प्रसिद्धि प्राप्त थे। युवाचार्यश्री ने आपसे आग्रहपूर्वक अनुरोध किया कि आगम समिति द्वारा प्रकाशित होने वाले आगमों पर आपश्री प्रस्तावनाएँ लिखने का दायित्व स्वीकारें। युवाचार्यश्री के हार्दिक स्नेहानुरोध को श्री देवेन्द्र मुनि जी ने सादर स्वीकार किया और तब प्रकाशित होने वाले अनेक आगमों पर आपश्री ने बड़ी विस्तृत और ज्ञानवर्धक प्रस्तावनाएँ लिखीं। कुछ आगमों की प्रस्तावनाएँ लिखने में तो इतना विलम्ब भी हो गया कि आपश्री की प्रस्तावना तैयार होने से पूर्व ही उस आगम का प्रकाशन करना पड़ा परन्तु फिर भी आपश्री ने अत्यन्त श्रम करके, गहन अध्ययन अनुशीलन करके प्रस्तावनाएँ तैयार कीं। आपश्री की ये प्रस्तावनाएँ संपूर्ण जैन समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान बना चुकी हैं। यही कारण है कि श्री महावीर विद्यालय, मुम्बई से प्रकाशित होने वाले प्रज्ञापनासूत्र पर विद्वान् मनीषी मुनि श्री जम्बूविजय जी जैसे सारस्वत सन्तों ने भी आपश्री की प्रस्तावना का ही उपयोग करने की स्वीकृति ली और यह प्रकाशित भी हो चुकी है। उसी प्रकार अन्य अनेक संस्थाओं ने भी तथा विद्वानों ने भी आचार्यश्री द्वारा लिखित प्रस्तावनाओं से लाभ उठाया है।

आचार्यश्री द्वारा लिखित प्रस्तावनाएँ पढ़कर अनेक विद्वानों, सन्तों व जिज्ञासु पाठकों ने उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशन करने की माँग की। उसी के फलस्वरूप आचारांग आदि तीन अंगसूत्रों की भगवतीसूत्र का तथा छेदसूत्रों की प्रस्तावनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। अन्य अनेक आगमों की महत्त्वपूर्ण प्रस्तावनाएँ अभी भी स्वतंत्र पुस्तकाकार प्रकाशित होने की प्रतीक्षा में है।

दो वर्ष पूर्व उदयपुर चातुर्मास में आचार्यश्री की भावना थी कि मूलसूत्रों पर लिखी प्रस्तावनाएँ पुस्तकाकार प्रकाशित हो सकें तो पाठकों के लिए अधिक उपयोगी रहेंगी। उस समय मुझे भी आपश्री के सान्निध्य का लाभ मिलता रहा और मैं भी उस कार्य में अपनी शक्ति सामर्थ्य अनुसार सहयोग करके सौभाग्यशाली बनी। इसका मुझे परम हर्ष है।

श्रमणसंघ के विद्वान् मनीषी मुनि श्री नेमीचन्द जी म. आचार्यश्री की साहित्य यात्रा में प्रारंभ से ही विशिष्ट सहयोगी रहे हैं। उनके सहयोग से आचार्यश्री श्रमणसंघ के सभी उत्तरदायित्वों के बीच व्यस्त रहते हुए भी अपनी साहित्य सर्जना को आगे बढ़ाते रहे। आपश्री ने एकनिष्ट भावों से आचार्यश्री के साहित्य में जो अमूल्य योगदान किया है वह चिरस्मरणीय रहेगा। प्रस्तुत मूलसूत्रों में नंदीसूत्र की प्रस्तावना तो आचार्यश्री के अन्तिम समय में ही पूर्णता की और बढ़ी और उसकी संशोधित पांडुलिपि तो आचार्यश्री पुनः देख ही नहीं पाये, मैंने तथा श्रद्धेय मुनिश्री ने उस कार्य को सम्पन्न करने का निश्चय किया और आज हमारा यह प्रयास सार्थक हो रहा है। मुझे इसकी परम प्रसन्नता है। मुझे विश्वास है, मूलसूत्रों के सम्बन्ध में इस पुस्तक में बहुत ही ज्ञानवर्धक और ऐतिहासिक तथ्य मिलेंगे जो सभी के लिए उपयोगी होंगे।

मूलसूत्रों के विषय में तो स्वयं आचार्यश्री ने ही उत्तराध्ययनसूत्र की प्रस्तावना के प्रारंभ में काफी विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। अतः यहाँ पिष्ट पेषण की आवश्यकता नहीं रही।

मैं पुनः अपने परम श्रद्धेय आचार्य भगवंत की पावन स्मृति को जीवंत करते हुए उनके द्वारा लिखित साहित्य का स्वाध्याय करते रहने की पाठकों को सद्प्रेरणा करती हूँ ताकि उनका लेखन हम सभी के ज्ञान विकास में सहायक बन सके।

इत्यलम् !

–साध्वी पुष्पवती

श्री तारक गुरु ग्रंथालय, उदयपुर
14-4-2000

हमारे विशिष्ट सहयोगी

डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरडा

सभी प्राणी जीवन जीते हैं, परन्तु जीना उन्हीं का सार्थक है जो अपने जीवन में परोपकार, धर्माचरण करते हुए सभी के लिए सुख और मंगलकारी कर्त्तव्य करते हों। औरंगाबाद निवासी डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरडा एवं सौ. प्रभादेवी का जीवन ऐसा ही सेवाभावी परोपकारी जीवन है।

श्रीयुत चम्पालाल जी के जीवन में जोश और होश दोनों ही हैं। अपने पुरुषार्थ और प्रतिभा के बल पर उन्होंने विपुल लक्ष्मी भी कमाई और उसका जन-जन के कल्याण हेतु सदुपयोग किया व कर रहे हैं। आप में धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि है। समाजहित एवं लोकहित की प्रवृत्तियों में उदारतापूर्वक दान देते हैं, स्वयं अपना समय देकर लोगों को प्रेरित करते हैं। अपने स्वार्थ व सुख-भोग में तो लाखों लोग खर्च करते हैं परन्तु धर्म एवं समाज के हित में खर्च करने वाले विरले होते हैं। आप उन्हीं विरले सत्पुरुषों में एक हैं।

आपके पूज्य पिता श्री फूलचन्द जी साहब तथा मातेश्वरी हरकूबाई के धार्मिक संस्कार आपके जीवन में पल्लवित हुए। आप प्रारम्भ से ही मेधावी छात्र रहे। प्रतिभा की तेजस्विता और दृढ़ अध्यवसाय के कारण धातुशास्त्र (Metallurgical Engineering) में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

आपका पाणिग्रहण पूना निवासी श्री मोतीलाल जी नाहर की सुपुत्री अ. सौ. प्रभादेवी के साथ सम्पन्न हुआ। सौ. प्रभादेवी धर्मपरायण, सेवाभावी महिला हैं। जैन आगमों में धर्मपत्नी को **'धम्मसहाया'** विशेषण दिया है वह आपके जीवन में चरितार्थ होता है। आपके जीवन में सेवा, दान, स्वाध्याय एवं सामायिक की चतुर्मुखी ज्योति है।

आपके सुपुत्र हैं–श्री शेखर जी। वे भी पिता की भाँति तेजस्वी प्रतिभाशाली हैं। इंजीनियरिंग परीक्षा १९८६ में विशेष योग्यता से समुत्तीर्ण की है। आपने तभी से पिता के कारखानों के कारोबार में निष्ठा से तथा अतियोग्यता के साथ कामकाज सँभाला है। पेपर मिलों के अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपने उत्पादन को लब्धप्रतिष्ठित किया है। शेखर जी की धर्मपत्नी सौ. सुनीतादेवी तथा सुपुत्र श्री किशोर कुमार, मधुर एवं उत्कर्ष हैं।

श्री शेखर जी भी धर्म एवं समाज-सेवा में भाग लेते हैं तथा उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान करते हैं।

श्री चम्पालाल जी की दो सुपुत्रियाँ हैं–सौ. सपना दुगड़ नासिक और सौ. शिल्पा दुगड (मद्रास)।

आप अनेक सेवाभावी सामाजिक संस्थाओं के उच्च पदों पर आसीन हैं। दक्षिणकेसरी मुनि श्री मिश्रीलाल जी महाराज होम्योपैथिक मेडिकल कॉलेज, गुरु गणेशनगर तथा गुरु मिश्री अस्पताल, औरंगाबाद के आप सेक्रेटरी रहे हैं।

सन् १९८८ में श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज एवं आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज अहमदनगर का वर्षावास सम्पन्न कर औरंगाबाद पधारे, तब आपका आचार्यश्री से सम्पर्क हुआ। आचार्यश्री के साहित्य के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि जाग्रत हुई। कर्म-विज्ञान पुस्तक के विभिन्न भागों के प्रकाशन में आपश्री ने विशिष्ट अनुदान प्रदान किया है। अन्य अनेक प्रकाशनों में भी आपश्री ने मुक्त हृदय से अनुदान प्रदान किया है तथा स्वाध्यायोपयोगी साहित्य फ्री वितरण करने में भी बहुत रुचि रखते हैं। आपकी भावना है, घर-घर में सत्साहित्य का प्रचार हो, धर्म एवं नीति के सद्विचारों से प्रत्येक पाठक का जीवन महकता रहे।

आपश्री तथा औरंगाबाद का श्रीसंघ कई वर्षों से परम श्रद्धेय आचार्य भगवंत के चातुर्मास की विनती कर रहे थे। आचार्यश्री ने विशेष अनुग्रह करके वि. सं. २०५६ का वर्षावास औरंगाबाद घोषित किया था। परन्तु नियति को कुछ अन्यथा ही मंजूर था। मई में ही अचानक आचार्यश्री का स्वर्गवास हो गया। फिर भी आचार्यश्री के शिष्य परिवार ने औरंगाबाद चातुर्मास कर पूज्य गुरु भगवंतों की मनोभावना का सन्मान किया।

आपने आचार्यश्री के साहित्य प्रकाशन में पूर्ण निष्ठापूर्वक सहयोग देने का पुनः आश्वासन दिया और उसी की संपूर्ति हेतु यह **'मूलसूत्र : एक परिशीलन'** आपके सहयोग से प्रकाशित हो रही है। हम आपके उज्ज्वल-आनन्दमय जीवन की कामना करते हुए इसी प्रकार आपके सहयोग की आशा करते हैं।

आपके व्यावसायिक प्रतिष्ठान निम्न हैं :

- PARATISHTHAN ALLOY CASTINGS
- PRATISHTHAN ALLOYS PVT. LTD.
- PARASON MACHINERY (INDIA) PVT. LTD.
- SUNMOON SLEEVES PVT. LTD.

–चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर

उत्तराध्ययनसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

उत्तराध्ययनसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वर्तमान में उपलब्ध जैन आगम साहित्य को अंग, उपांग, मूल और छेद इन चार वर्गों में विभक्त किया गया है। इस वर्गीकरण का उल्लेख समवायांग और नन्दीसूत्र में नहीं है। तत्त्वार्थभाष्य में सर्वप्रथम अंग के साथ उपांग शब्द का प्रयोग आचार्य उमास्वाति ने किया है।[1] उसके पश्चात् सुखबोधा समाचारी में अंगबाह्य के अर्थ में 'उपांग' शब्द का प्रयोग आचार्य श्रीचन्द्र ने किया।[2] जिस अंग का जो उपांग है, उसका निर्देश 'विधिमार्ग-प्रपा' ग्रन्थ में आचार्य जिनप्रभ ने किया है।[3] मूल और छेदसूत्रों का विभाग किस समय हुआ? यह साधिकार तो नहीं कहा जा सकता, पर यह स्पष्ट है कि आचार्य भद्रबाहु ने उत्तराध्ययन और दशवैकालिकनिर्युक्ति में इस सम्बन्ध में कोई भी चर्चा नहीं की है और न जिनदासगणी महत्तर ने ही अपनी उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक की चूर्णियों में इस सम्बन्ध में किंचिन्मात्र भी चिन्तन किया है। न आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिक वृत्ति में और न शान्त्याचार्य ने उत्तराध्ययन वृत्ति में मूलसूत्र के सम्बन्ध में चर्चा की है। इससे यह स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक 'मूलसूत्र' इस प्रकार का विभाग नहीं हुआ था। यदि विभाग हुआ होता तो निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति में अवश्य ही निर्देश होता।

मूलसूत्र : क्यों और कितने ?

'श्रावक विधि' ग्रन्थ के लेखक धनपाल ने, जिनका समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है, ४५ आगमों का निर्देश किया है।[4] विचारसारप्रकरण के लेखक प्रद्युम्नसूरि ने भी ४५ आगमों का निर्देश किया है, जिनका समय तेरहवीं शताब्दी है। उन्होंने भी मूलसूत्र के रूप में विभाग नहीं किया है। आचार्य श्री प्रभाचन्द्र ने 'प्रभावक चरित्र' में सर्वप्रथम अंग, उपांग, मूल, छेद, यह विभाग किया है।[5] उसके बाद उपाध्याय समयसुन्दर जी ने 'समाचारी-शतक' में इसका उल्लेख किया है।[6] सारांश यह है कि 'मूलसूत्र' विभाग की स्थापना तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई ऐसा प्रतीत होता है।

उत्तराध्ययन, दशवैकालिक प्रभृति आगमों को मूलसूत्र अभिधा क्यों दी गई? इस सम्बन्ध में विभिन्न मनीषियों ने विभिन्न कल्पनाएँ की हैं। प्रोफेसर विण्टरनीत्ज का अभिमत है–इन आगमों पर अनेक टीकाएँ हैं। इनसे मूल ग्रन्थ का पृथक्करण करने के लिए इन्हें मूलसूत्र कहा है।[७] परन्तु उनका यह कथन उचित नहीं है, न उनका तर्क ही वजनदार है, क्योंकि उन्होंने मूलसूत्र की सूची में पिण्डनिर्युक्ति को भी माना है, जबकि उस पर अनेक टीकाएँ नहीं हैं।

डॉ. सारपेण्टियर,[८] डॉ. ग्यारीनो[९] और प्रोफेसर पटवर्धन[१०] प्रभृति विद्वानों का यह अभिमत है–इन आगमों में भगवान महावीर के मूल शब्दों का संग्रह है इसलिए इन्हें मूलसूत्र कहा गया है। किन्तु उनका भी कथन युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि भगवान महावीर के मूल शब्दों के कारण ही किसी आगम को मूलसूत्र माना जाय तो सर्वप्रथम आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध को मूलसूत्र मानना चाहिए। क्योंकि पाश्चात्य विचारक डॉ. हर्मन जैकोबी आदि के अनुसार भगवान महावीर के मूल शब्दों का सबसे प्राचीन संकलन आचारांग में है।

हमारे अपने अभिमतानुसार जिन आगमों में मुख्य रूप से श्रमण के आचार-सम्बन्धी मूलगुण, महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि का निरूपण है और जो श्रमण-जीवनचर्या में मूल रूप से सहायक बनते हैं, जिन आगमों का अध्ययन श्रमण के लिए सर्वप्रथम अपेक्षित है, उन्हें मूलसूत्र कहा गया है। हमारे इस कथन का समर्थन इस बात से होता है कि पहले आगमों का अध्ययन आचारांग से प्रारम्भ होता था। जब आचार्य शय्यम्भव ने दशवैकालिकसूत्र का निर्माण किया तो सर्वप्रथम दशवैकालिक का अध्ययन कराया जाने लगा और उसके बाद उत्तराध्ययनसूत्र पढ़ाया जाने लगा।[११] पहले आचारांग के 'शस्त्र-परिज्ञा' प्रथम अध्ययन से शैक्ष की उपस्थापना की जाती थी। पर जब दशवैकालिक की रचना हो गई तो उसके बाद उसके चतुर्थ अध्ययन से उपस्थापना की जाने लगी।[१२]

मूलसूत्रों की संख्या के सम्बन्ध में भी ऐकमत्य नहीं है। समयसुन्दरगणी ने (१) दशवैकालिक, (२) ओघनिर्युक्ति, (३) पिण्डनिर्युक्ति, तथा (४) उत्तराध्ययन, ये चार मूलसूत्र माने हैं।[१३] भावप्रभसूरि ने (१) उत्तराध्ययन, (२) आवश्यक, (३) पिण्डनिर्युक्ति–ओघनिर्युक्ति, तथा (४) दशवैकालिक, ये चार मूलसूत्र माने हैं।[१४]

प्रोफेसर वेबर, प्रोफेसर बूलर ने (१) उत्तराध्ययन, (२) आवश्यक, तथा (३) दशवैकालिक, इन तीनों को मूलसूत्र कहा है। डॉ. सारपेण्टियर,

डॉ. विण्टरनीत्ज और डॉ. ग्यारीनो ने (१) उत्तराध्ययन, (२) आवश्यक, (३) दशवैकालिक, तथा (४) पिण्डनिर्युक्ति को मूलसूत्र की संज्ञा दी है। डॉ. सुब्रिंग ने (१) उत्तराध्ययन, (२) दशवैकालिक, (३) आवश्यक, (४) पिण्डनिर्युक्ति, तथा (५) ओघनिर्युक्ति, इन पाँचों को मूलसूत्र बताया है।[१५]

स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वारसूत्र को मूलसूत्र मानती हैं।

श्रुत-पुरुष की कल्पना

मूलसूत्र विभाग की कल्पना का आधार श्रुत-पुरुष भी हो सकता है। सर्वप्रथम जिनदासगणी महत्तर ने श्रुत-पुरुष की कल्पना की है।[१६] श्रुत-पुरुष के शरीर में बारह अंग हैं, जैसे–प्रत्येक पुरुष के शरीर में दो पैर, दो जंघायें, दो उरु, दो गात्रार्ध (पेट और पीठ), दो भुजाएँ, ग्रीवा और सिर होते हैं, वैसे ही आगम साहित्य के बारह अंग हैं। अंगबाह्य श्रुत-पुरुष के उपांग स्थानीय हैं। प्रस्तुत परिकल्पना अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य, इन दो आगमिक वर्गों के आधार पर हुई है। इस वर्गीकरण में मूल और छेद को स्थान प्राप्त नहीं है। आचार्य हरिभद्र, जिनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है और आचार्य मलयगिरि, जिनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी है, उन्होंने भी नन्दीसूत्र की अपनी वृत्तियों में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य को ही स्थान दिया है। आचार्य जिनदासगणी महत्तर के आदर्श को लेकर ही वे चले हैं। अंगप्रविष्ट श्रुत की स्थापना इस प्रकार है–

१. दायाँ पैर	=	आचारांग
२. बायाँ पैर	=	सूत्रकृतांग
३. दायीं जंघा	=	स्थानांग
४. बायीं जंघा	=	समवायांग
५. दायाँ उरु	=	भगवती
६. बायाँ उरु	=	ज्ञाताधर्मकथा
७. उदर	=	उपासकदशा
८. पीठ	=	अन्तकृद्दशा
९. दायीं भुजा	=	अनुत्तरौपपातिकदशा

१०. बायीं भुजा = प्रश्नव्याकरण

११. ग्रीवा = विपाक

१२. शिर = दृष्टिवाद

प्रस्तुत स्थापना में आचारांग और सूत्रकृतांग को मूल स्थानीय अर्थात् चरण स्थानीय माना है।[१७] दूसरे रूप में भी श्रुत-पुरुष की स्थापना की गई है। उस रेखांकन में आवश्यक, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति और उत्तराध्ययन, इन चारों को मूल स्थानीय माना है। प्राचीन ज्ञान भण्डारों में श्रुत-पुरुष के अनेक चित्र प्राप्त हैं। द्वादश उपांगों की रचना होने के बाद श्रुत-पुरुष के प्रत्येक अंग के साथ एक-एक उपांग की कल्पना की गई है। क्योंकि अंगों के अर्थ को स्पष्ट करने वाला उपांग है। किस अंग का कौन-सा उपांग है, वह इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है–

अंग	उपांग
आचारांग	औपपातिक
सूत्रकृत	राजप्रश्नीय
स्थानांग	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	सूर्यप्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृद्दशा	निरयावलिया-कल्पिका
अनुत्तरौपपातिकदशा	कल्पावतंसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्पचूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

जिस समय पैंतालीस आगमों की संख्या स्थिर हो गई, उस समय श्रुत-पुरुष की जो आकृति बनाई गई है, उसमें दशवैकालिक और उत्तराध्ययन को मूल स्थान पर रखा गया है। पर यह श्रुत-पुरुष की आकृति का रेखांकन बहुत ही

बाद में हुआ है। यह भी अधिक सम्भव है कि उत्तराध्ययन, दशवैकालिक को मूलसूत्र मानने का एक कारण यह भी रहा हो।[१८]

जैन आगम साहित्य में उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का गौरवपूर्ण स्थान है। चाहे श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य रहे हों, चाहे दिगम्बर परम्परा के, उन्होंने उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का पुनः-पुनः उल्लेख किया है। कषायपाहुड[१९] की जयधवला टीका में तथा गोम्मटसार[२०] में क्रमशः गुणधर आचार्य ने और सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने अंगबाह्य के चौदह प्रकार बताये हैं। उनमें सातवाँ दशवैकालिक है और आठवाँ उत्तराध्ययन है। नन्दीसूत्र में आचार्य देववाचक ने अंगबाह्य श्रुत के दो विभाग किये हैं।[२१] उनमें एक कालिक और दूसरा उत्कालिक है। कालिक सूत्रों की परिगणना में उत्तराध्ययन का प्रथम स्थान है और उत्कालिक सूत्रों की परिगणना में दशवैकालिक का प्रथम स्थान है।

सामान्य रूप से मूलसूत्रों की संख्या चार है। मूलसूत्रों की संख्या के सम्बन्ध में विज्ञों के विभिन्न मत हम पूर्व बता चुके हैं। चाहे संख्या के सम्बन्ध में कितने ही मतभेद हों, पर सभी मनीषियों ने उत्तराध्ययन को मूलसूत्र माना है।

उत्तराध्ययन की शब्द-मीमांसा

'उत्तराध्ययन' में दो शब्द हैं–उत्तर और अध्ययन। समवायांग में **'छत्तीसं उत्तरज्झयणाइं'** यह वाक्य मिलता है।[२२] प्रस्तुत वाक्य में उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों का प्रतिपादन नहीं किन्तु छत्तीस उत्तर अध्ययन प्रतिपादित किये गये हैं। नन्दीसूत्र में भी 'उत्तरज्झयणाणि' यह बहुवचनात्मक नाम प्राप्त है।[२३] उत्तराध्ययन के अन्तिम अध्ययन की अन्तिम गाथा में **'छत्तीसं उत्तरज्झाए'** इस प्रकार बहुवचनात्मक नाम मिलता है।[२४] उत्तराध्ययननिर्युक्ति में भी उत्तराध्ययन का नाम बहुवचन में प्रयोग किया गया है।[२५] उत्तराध्ययनचूर्णि में छत्तीस उत्तराध्ययनों का एक श्रुतस्कंध माना है।[२६] तथापि उसका नाम चूर्णिकार ने बहुवचनात्मक माना है। बहुवचनात्मक नाम से यह विदित है कि उत्तराध्ययन अध्ययनों का एक योग मात्र है। यह एककर्तृक एक ग्रन्थ नहीं है।

'उत्तर' शब्द पूर्व की अपेक्षा से है। जिनदासगणी महत्तर ने इन अध्ययनों की तीन प्रकार से योजना की है–

(१) स-उत्तर —पहला अध्ययन
(२) निरुत्तर —छत्तीसवाँ अध्ययन
(३) स-उत्तर-निरुत्तर —बीच के सारे अध्ययन

परन्तु उत्तर शब्द की प्रस्तुत अर्थ-योजना जिनदासगणी महत्तर की दृष्टि से अधिकृत नहीं है।[२७] वे निर्युक्तिकार भद्रबाहु के द्वारा जो अर्थ दिया गया है, उसे प्रामाणिक मानते हैं। निर्युक्ति की दृष्टि से यह अध्ययन आचारांग के उत्तरकाल में पढ़े जाते थे, इसीलिए इस आगम को 'उत्तर अध्ययन' कहा है।[२८] उत्तराध्ययनचूर्णि व उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति में भी प्रस्तुत कथन का समर्थन है। श्रुतकेवली आचार्य शय्यम्भव के पश्चात् यह अध्ययन दशवैकालिक के उत्तरकाल में पढ़े जाने लगे।[२९] अतः ये उत्तर अध्ययन ही बने रहे हैं। प्रस्तुत उत्तर शब्द की व्याख्या तर्कसंगत है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में उत्तर शब्द की विविध दृष्टियों से परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम की धवलावृत्ति में लिखा–उत्तराध्ययन उत्तर पदों का वर्णन करता है। यह उत्तर शब्द समाधान का प्रतीक है।[३०] अंगपन्नत्ति में आचार्य शुभचन्द्र ने उत्तर शब्द के दो अर्थ किये हैं–[३१]

(१) उत्तरकाल–किसी ग्रन्थ के पश्चात् पढ़े जाने वाले अध्ययन,

(२) उत्तर–प्रश्नों का उत्तर देने वाले अध्ययन।

इन अर्थों में उत्तर और अध्ययनों के सम्बन्ध में सत्य-तथ्य का उद्घाटन किया गया है। उत्तराध्ययन में ४, १६, २३, २५ और २९वाँ–ये अध्ययन प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये हैं। कुछ अन्य अध्ययनों में भी आंशिक रूप से कुछ प्रश्नोत्तर आये हैं। प्रस्तुत दृष्टि से उत्तर का 'समाधान' सूचक अर्थ संगत होने पर भी सभी अध्ययनों में वह पूर्ण रूप से घटित नहीं होता है। उत्तरवाची अर्थ संगत होने के साथ ही पूर्ण रूप से व्याप्त भी है। इसलिए उत्तर का मुख्य अर्थ यही उचित प्रतीत होता है।

अध्ययन का अर्थ पढ़ना है। किन्तु यहाँ पर अध्ययन शब्द अध्याय के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। निर्युक्ति और चूर्णि में अध्ययन का विशेष अर्थ भी दिया है।[३२] पर अध्ययन से उनका तात्पर्य परिच्छेद से है।

उत्तराध्ययन की रचनाएँ

उत्तराध्ययन की रचना के सम्बन्ध में निर्युक्ति, चूर्णि तथा अन्य मनीषी एक मत नहीं हैं। निर्युक्तिकार भद्रबाहु की दृष्टि से उत्तराध्ययन एक व्यक्ति की रचना

नहीं है। उनकी दृष्टि से उत्तराध्ययन कर्तृत्व की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है–(१) अंगप्रभव, (२) जिनभाषित, (३) प्रत्येकबुद्धभाषित, (४) संवादसमुत्थित।[३३] उत्तराध्ययन का द्वितीय अध्ययन अंगप्रभव है। वह कर्मप्रवादपूर्व के सत्तरहवें प्राभृत से उद्धृत है।[३४] दसवाँ अध्ययन जिनभाषित है।[३५] आठवाँ अध्यय प्रत्येकबुद्धभाषित है।[३६] नौवाँ और तेईसवाँ अध्ययन संवादसमुत्थित है।[३७]

उत्तराध्ययन के मूल पाठ पर ध्यान देने से उसके कर्तृत्व के सम्बन्ध में अभिनव चिन्तन किया जा सकता है।

द्वितीय अध्ययन के प्रारम्भ में यह वाक्य आया है–"**सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं–इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया।**"

सोलहवें अध्ययन के प्रारम्भ में यह वाक्य उपलब्ध है–"**सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं–इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस बंभचेरसमाहिठाणा पण्णत्ता।**"

उनतीसवें अध्ययन के प्रारम्भ में यह वाक्य प्राप्त है–"**सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं–इह खलु सम्मत्तपरिक्कमे नामऽज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए।**"

उपर्युक्त वाक्यों से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि दूसरा तथा उनतीसवाँ अध्ययन श्रमण भगवान महावीर के द्वारा प्ररूपित है और सोलहवाँ अध्ययन स्थविरों के द्वारा रचित है। निर्युक्तिकार ने द्वितीय अध्ययन को कर्मप्रवादपूर्व से निरूढ़ माना है।

जब हम गहराई से इस विषय में चिन्तन करते हैं तो सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट ज्ञात होता है कि निर्युक्तिकार ने उत्तराध्ययन को कर्तृत्व की दृष्टि से चार भागों में विभक्त कर उस पर प्रकाश डालना चाहा, पर उससे उसके कर्तृत्व पर प्रकाश नहीं पड़ता, किन्तु विषय-वस्तु पर प्रकाश पड़ता है। दसवें अध्ययन में जो विषय-वस्तु है, वह भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित है, किन्तु उनके द्वारा रचित नहीं। क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन की अन्तिम गाथा "**बुद्धस्स निसम्म भासियं**" से यह बात स्पष्ट होती है। इसी प्रकार दूसरे व उनतीसवें अध्ययन के प्रारम्भिक वाक्यों से भी यह तथ्य उजागर होता है।

छठे अध्ययन की अन्तिम गाथा है–अनुत्तर ज्ञानी, अनुत्तर दर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शन के धारक, अरिहन्त, ज्ञातपुत्र, भगवान वैशालिक महावीर ने ऐसा कहा है।[३८] वैशालिक का अर्थ भगवान महावीर है।

प्रत्येकबुद्धभाषित अध्ययन भी प्रत्येकबुद्ध द्वारा ही रचे गये हों, यह बात नहीं है। क्योंकि आठवें अध्ययन की अन्तिम गाथा में यह बताया है कि विशुद्ध प्रज्ञा वाले कपिल मुनि ने इस प्रकार धर्म कहा है। जो इसकी सम्यक् आराधना करेंगे, वे संसार-समुद्र को पार करेंगे। उनके द्वारा ही दोनों लोक आराधित होंगे।[३९] यदि प्रस्तुत अध्ययन कपिल के द्वारा विरचित होता तो वे इस प्रकार कैसे कहते?

संवाद-समुत्थित अध्ययन नौवें और तेईसवें अध्ययनों का अवलोकन करने पर यह परिज्ञात होता है कि वे अध्ययन नमि राजर्षि और केशी-गौतम द्वारा विरचित नहीं हैं। नौवें अध्ययन की अन्तिम गाथा है–संबुद्ध, पण्डित, प्रविचक्षण पुरुष कामभोगों से उसी प्रकार निवृत्त होते हैं जैसे नमि राजर्षि।[४०] तेईसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा है–समग्र सभा धर्मचर्चा से परम संतुष्ट हुई, अतः सन्मार्ग में समुपस्थित उसने भगवान केशी और गणधर गौतम की स्तुति की कि वे दोनों प्रसन्न रहें।[४१]

उपर्युक्त चर्चा का सारांश यह है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने उत्तराध्ययन को कर्तृत्व की दृष्टि से चार वर्गों में विभक्त किया है। उसका तात्पर्य इतना ही है कि भगवान महावीर, कपिल, नमि और केशी-गौतम के उपदेश तथा संवादों को आधार बनाकर इन अध्ययनों की रचना हुई है। इन अध्ययनों के रचयिता कौन हैं और उन्होंने इन अध्ययनों की रचना कब की? इन प्रश्नों का उत्तर न निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने दिया, न चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर ने दिया है और न बृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने ही दिया है।

आधुनिक अनुसंधानकर्त्ता विज्ञों का यह मानना है कि वर्तमान में जो उत्तराध्ययन उपलब्ध है, वह किसी एक व्यक्ति-विशेष की रचना नहीं है, किन्तु अनेक स्थविर मुनियों की रचनाओं का संकलन है। उत्तराध्ययन के कितने ही अध्ययन भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित हैं तो कितने ही अध्ययन स्थविरों के द्वारा संकलित हैं।[४२] इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उत्तराध्ययन में भगवान महावीर का धर्मोपदेश नहीं है। उसमें वीतराग वाणी का अपूर्व तेज कभी छिप नहीं सकता। क्रूर काल की काली आँधी भी उसे धुँधला नहीं कर सकती। वह आज भी प्रदीप्त है और साधकों के अन्तर्जीवन को उजागर करता है। आज भी हजारों भव्यात्मा उस पावन उपदेश को धारण कर अपने जीवन को पावन बना रहे हैं। यह पूर्ण रूप से निश्चित है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक उत्तराध्ययन

छत्तीस अध्ययनों के रूप में संकलित हो चुका था। समवायांगसूत्र में छत्तीस उत्तर अध्ययनों के नाम उल्लिखित हैं।

विषय वर्गीकरण

विषय-वस्तु की दृष्टि से उत्तराध्ययन के अध्ययन धर्मकथात्मक, उपदेशात्मक, आचारात्मक और सैद्धान्तिक, इन चार भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। जैसे–

(१) **धर्मकथात्मक**–७, ८, ९, १२, १३, १४, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २५ और २७

(२) **उपदेशात्मक**–१, ३, ४, ५, ६ और १०

(३) **आचारात्मक**–२, ११, १५, १६, १७, २४, २६, ३२ और ३५

(४) **सैद्धान्तिक**–२८, २९, ३०, ३१, ३३, ३४ और ३६

विक्रम की प्रथम शती में आर्यरक्षित ने आगमों को चार अनुयोगों में विभक्त किया। उसमें उत्तराध्ययन को धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत गिना है।[४३] उत्तराध्ययन में धर्मकथानुयोग की प्रधानता होने से जिनदासगणी महत्तर ने उसे धर्मकथानुयोग माना है,[४४] पर आचारात्मक अध्ययनों को चरणकरणानुयोग में और सैद्धान्तिक अध्ययनों को द्रव्यानुयोग में सहज रूप से ले सकते हैं। उत्तराध्ययन का जो वर्तमान रूप है, उसमें अनेक अनुयोग मिले हुए हैं।

कितने ही विद्वानों का यह भी मानना है कि कल्पसूत्र के अनुसार उत्तराध्ययन की प्ररूपणा भगवान महावीर ने अपने निर्वाण से पूर्व पावापुरी में की थी।[४५] इससे यह सिद्ध है कि भगवान के द्वारा यह प्ररूपित है, इसलिए इसकी परिगणना अंग-साहित्य में होनी चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र की अन्तिम गाथा को कितने ही टीकाकार इसी आशय को व्यक्त करने वाली मानते हैं– "उत्तराध्ययन का कथन करते हुए भगवान महावीर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।" यह प्रश्न काफी गम्भीर है। इसका सहज रूप से समाधान होना कठिन है। तथापि इतना कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन के कितने ही अध्ययनों की भगवान महावीर ने प्ररूपणा की थी और कितने ही अध्ययन बाद में स्थविरों के द्वारा संकलित हुए। उदाहरण के रूप में–केशी-गौतमीय अध्ययन में श्रमण भगवान महावीर का अत्यन्त श्रद्धा के साथ उल्लेख हुआ है। स्वयं भगवान महावीर अपने ही मुखारविन्द से अपनी प्रशंसा कैसे करते? उनतीसवें

अध्ययन में प्रश्नोत्तर शैली है, जो परिनिर्वाण के समय सम्भव नहीं है। क्योंकि कल्पसूत्र में उत्तराध्ययन को अपृष्ठ व्याकरण अर्थात् बिना किसी के पूछे कथन किया हुआ शास्त्र कहा है।

कितने ही आधुनिक चिन्तकों का यह भी अभिमत है कि उत्तराध्ययन के पहले के अठारह अध्ययन प्राचीन हैं और उसके बाद के अठारह अध्ययन अर्वाचीन हैं। किन्तु अपने मन्तव्य को सिद्ध करने के लिए उन्होंने प्रमाण नहीं दिये हैं।

कितने ही विद्वान् यह भी मानते हैं कि अठारह अध्ययन तो अर्वाचीन नहीं हैं। हाँ, उनमें से कुछ अर्वाचीन हो सकते हैं। जैसे–इकतीसवें अध्ययन में आचारांग, सूत्रकृतांग आदि प्राचीन नामों के साथ दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ-जैसे अर्वाचीन आगमों के नाम भी मिलते हैं।[४६] जो श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा निर्यूढ़ या कृत हैं।[४७] भद्रबाहु का समय वीर निर्वाण की दूसरी शती है, इसलिए प्रस्तुत अध्ययन की रचना भद्रबाहु के पश्चात् होनी चाहिए।

अन्तकृद्दशा आदि प्राचीन आगम साहित्य में श्रमण-श्रमणियों के चौदह पूर्व, ग्यारह अंग या बारह अंगों के अध्ययन का वर्णन मिलता है।[४८] अंगबाह्य या प्रकीर्णक सूत्र के अध्ययन का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। किन्तु उत्तराध्ययन के अट्ठाईसवें अध्ययन में अंग और अंगबाह्य, इन दो प्राचीन विभागों के अतिरिक्त ग्यारह अंग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद का उल्लेख उपलब्ध होता है।[४९] अतः प्रस्तुत अध्ययन भी उत्तरकालीन आगम-व्यवस्था की संरचना होनी चाहिए।

दूसरी बात यह है कि अट्ठाईसवें अध्ययन में द्रव्य,[५०] गुण,[५१] पर्याय[५२] की जो संक्षिप्त परिभाषाएँ दी गई हैं, वैसी परिभाषाएँ प्राचीन आगम साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। वहाँ पर विवरणात्मक अर्थ की प्रधानता है, अतः यह अध्ययन अर्वाचीन प्रतीत होता है।

दिगम्बर साहित्य में उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु का संकेत किया गया है वह इस प्रकार है–

धवला में लिखा है–उत्तराध्ययन में उद्गम, उत्पादन और एषणा से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्तों का विधान है[५३] और उत्तराध्ययन उत्तरपदों का वर्णन करता है।[५४]

अंगपण्णत्ती में वर्णन है कि बाईस परीषहों और चार प्रकार के उपसर्गों के सहन का विधान, उसका फल तथा प्रश्नों का उत्तर; यह उत्तराध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।[५५]

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि उत्तराध्ययन में वीर निर्वाण गमन का वर्णन है।[५६]

दिगम्बर साहित्य में जो उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु का निर्देश है, वह वर्णन वर्तमान में उपलब्ध उत्तराध्ययन में नहीं है। आंशिक रूप से अंगपण्णत्ती का विषय मिलता है, जैसे–(१) बाईस परीषहों के सहन करने का वर्णन–दूसरे अध्ययन में, तथा (२) प्रश्नों के उत्तर–उनतीसवें अध्ययन में।

प्रायश्चित्त का विधान और भगवान महावीर के निर्वाण का वर्णन उत्तराध्ययन में प्राप्त नहीं है। यह हो सकता है कि उन्हें उत्तराध्ययन का अन्य कोई संस्करण प्राप्त रहा हो। तत्त्वार्थराजवार्तिक में उत्तराध्ययन को आरातीय आचार्यों (गणधरों के पश्चात् के आचार्यों) की रचना माना है।[५७]

समवायांग[५८] और उत्तराध्ययननिर्युक्ति[५९] आदि में उत्तराध्ययन की जो विषय-सूची दी गई है, वह उत्तराध्ययन में ज्यों की त्यों प्राप्त होती है। अतः यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु प्राचीन है। वीर निर्वाण की प्रथम शताब्दी में दशवैकालिकसूत्र की रचना हो चुकी थी। उत्तराध्ययन दशवैकालिक के पहले की रचना है, वह आचारांग के पश्चात् पढ़ा जाता था, अतः इसकी संकलना वीर निर्वाण की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही हो चुकी थी।

क्या उत्तराध्ययन भगवान महावीर की अन्तिम वाणी है ?

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या उत्तराध्ययन श्रमण भगवान महावीर की अन्तिम वाणी है? उत्तर में निवेदन है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने कल्पसूत्र में लिखा है कि श्रमण भगवान महावीर कल्याणफलविपाक वाले पचपन अध्ययनों और पापफल वाले पचपन अध्ययनों एवं छत्तीस अपृष्ट व्याकरणों का व्याकरण कर प्रधान नामक अध्ययन का प्ररूपण करते-करते सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।[६०]

इसी आधार से यह माना जाता है कि छत्तीस अपृष्ट व्याकरण उत्तराध्ययन के ही छत्तीस अध्ययन हैं। उत्तराध्ययन के छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा से भी प्रस्तुत कथन की पुष्टि होती है–

"इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीयसंमए॥"

जिनदासगणी महत्तर ने इस गाथा का अर्थ इस प्रकार किया है–ज्ञातकुल में उत्पन्न वर्द्धमान स्वामी छत्तीस उत्तराध्ययनों का प्रकाशन या प्रज्ञापन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।[६१]

शान्त्याचार्य ने अपनी बृहद्वृत्ति में उत्तराध्ययनचूर्णि का अनुसरण करके भी अपनी ओर से दो बातें और मिलाई हैं। पहली बात यह कि भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन अर्थ-रूप में और कुछ अध्ययन सूत्र-रूप में प्ररूपित किये।[६२] दूसरी बात उन्होंने परिनिर्वृत्त का वैकल्पिक अर्थ स्वस्थीभूत किया है।[६३]

निर्युक्ति में इन अध्ययनों को जिन-प्रज्ञप्त लिखा है।[६४] बृहद्वृत्ति में जिन शब्द का अर्थ श्रुतजिन–श्रुतकेवली किया है।[६५]

निर्युक्तिकार का अभिमत है कि छत्तीस अध्ययन श्रुतकेवली प्रभृति स्थविरों द्वारा प्ररूपित हैं। उन्होंने निर्युक्ति में इस सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की है कि यह भगवान ने अन्तिम देशना के रूप में कहा है। बृहद्वृत्तिकार भी इस सम्बन्ध में संदिग्ध हैं। केवल चूर्णिकार ने अपना स्पष्ट मन्तव्य व्यक्त किया है।

समवायांग में छत्तीस अपृष्ट-व्याकरणों का कोई भी उल्लेख नहीं है। वहाँ इतना ही सूचन है कि भगवान महावीर अन्तिम रात्रि के समय पचपन कल्याणफलविपाक वाले अध्ययनों तथा पचपन पापफलविपाक वाले अध्ययनों का व्याकरण कर परिनिर्वृत्त हुए।[६६] छत्तीसवें समवाय में भी जहाँ पर उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों का नाम निर्देश किया है, वहाँ पर भी इस सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं है।

उत्तराध्ययन के अठारहवें अध्ययन की चौबीसवीं गाथा के प्रथम दो चरण वे ही हैं जो छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा के हैं। देखिए–

"इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुडे।
विज्जाचरणसम्पन्ने, सच्चे सच्चपरक्कमे॥" –उत्तराध्ययन १८/२४

"इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीय संमए॥ –वही ३६/२६९

बृहद्वृत्तिकार ने अठारहवें अध्ययन की चौबीसवीं गाथा के पूर्वार्द्ध का जो अर्थ किया है, वही अर्थ छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा का किया जाय

तो उससे यह फलित नहीं होता कि ज्ञातपुत्र महावीर छत्तीस अध्ययनों का प्रज्ञापन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। वहाँ पर अर्थ है–बुद्ध–अवगततत्त्व, परिनिर्वृत्त–शीतीभूत ज्ञातपुत्र महावीर ने इस तत्त्व का प्रज्ञापन किया है।[६७]

उत्तराध्ययन का गहराई से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि इसमें भगवान महावीर की वाणी का संगुम्फन सम्यक् प्रकार से हुआ है। यह श्रमण भगवान महावीर का प्रतिनिधित्व करने वाला आगम है। इसमें जीव, अजीव, कर्मवाद, षट्द्रव्य, नवतत्त्व, पार्श्वनाथ और महावीर की परम्परा प्रभृति सभी विषयों का समुचित रूप से प्रतिपादन हुआ है। केवल धर्मकथानुयोग का ही नहीं, अपितु चारों अनुयोगों का मधुर संगम हुआ है। अतः यह भगवान महावीर की वाणी का प्रतिनिधित्व करने वाला आगम है। इसमें वीतराग वाणी का विमल प्रवाह प्रवाहित है। इसके अर्थ के प्ररूपक भगवान महावीर हैं किन्तु सूत्र के रचयिता स्थविर होने से इसे अंगबाह्य आगमों में रखा है। उत्तराध्ययन शब्दतः भगवान महावीर की अन्तिम देशना ही है, यह साधिकार तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कल्पसूत्र में उत्तराध्ययन को अपृष्ट-व्याकरण अर्थात् बिना किसी के पूछे स्वतः कथन किया हुआ शास्त्र बताया है, किन्तु वर्तमान के उत्तराध्ययन में आये हुए केशी-गौतमीय, सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन जो प्रश्नोत्तर शैली में हैं, वे चिन्तकों को चिन्तन के लिए अवश्य ही प्रेरित करते हैं। केशी-गौतमीय अध्ययन में भगवान महावीर का जिस भक्ति और श्रद्धा के साथ गौरवपूर्ण उल्लेख है, वह भगवान स्वयं अपने लिए किस प्रकार कह सकते हैं? अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन में कुछ अंश स्थविरों ने अपनी ओर से संकलित किया हो और उन प्राचीन और अर्वाचीन अध्ययनों को वीर निर्वाण की एक सहस्राब्दी के पश्चात् देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने संकलन कर उसे एक रूप दिया हो।[६८]

विनय : एक विश्लेषण

प्रस्तुत आगम विषय-विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सूत्र का प्रारम्भ होता है–विनय से। विनय अहंकारशून्यता है। अहंकार की उपस्थिति में विनय केवल औपचारिक होता है। 'वायजीद' एक सूफी सन्त थे। उनके पास एक व्यक्ति आया। उसने नमस्कार कर निवेदन किया कि "कुछ जिज्ञासाएँ हैं।" वायजीद ने कहा–"पहले झुको!" उस व्यक्ति ने कहा–"मैंने नमस्कार किया है, क्या आपने नहीं देखा?" वायजीद ने मुस्कराते हुए कहा–"मैं शरीर को

झुकाने की बात नहीं कहता। तुम्हारा अहंकार झुका है या नहीं? उसे झुकाओ!" विनय और अहंकार में कहीं भी तालमेल नहीं है। अहं के शून्य होने से ही मानसिक, वाचिक और कायिक विनय प्रतिफलित होगा। व्यक्ति का रूपान्तर होगा। कई बार व्यक्ति बाह्य रूप से नम्र दिखता है, किन्तु अन्दर अहं से अकड़ा रहता है। बिना अहंकार को जीते व्यक्ति विनम्र नहीं हो सकता। विनय का सही अर्थ है–अपने आपको अहं से मुक्त कर देना। जब अहं नष्ट होता है, तब व्यक्ति गुरु के अनुशासन को सुनता है और जो गुरु कहते हैं, उसे स्वीकार करता है। उनके वचनों की आराधना करता है। अपने मन को आग्रह से मुक्त करता है। विनीत शिष्य को यह परिबोध होता है कि किस प्रकार बोलना, किस प्रकार बैठना, किस प्रकार खड़े होना चाहिए? वह प्रत्येक बात पर गहराई से चिन्तन करता है। आज जन-जीवन में अशान्ति और अनुशासनहीनता के काले-कजराले बादल उमड़-घुमड़कर मँडरा रहे हैं। उसका मूल कारण जीवन के ऊषाकाल से ही व्यक्ति में विनय का अभाव होता जाना है और यही अभाव पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय जीवन में शैतान की आँत की तरह बढ़ रहा है, जिससे न परिवार सुखी है, न समाज सुखी है और न राष्ट्र के अधिनायक ही शान्ति में हैं। प्रथम अध्ययन में शान्ति का मूल मन्त्र विनय को प्रतिपादित करते हुए उसकी महिमा और गरिमा के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण है।

प्रथम अध्ययन में **विनय का विश्लेषण** करते हुए जो गाथाएँ दी गई हैं, उनकी तुलना महाभारत, धम्मपद और थेरगाथा में आये हुए पद्यों के साथ की जा सकती है। देखिए–

"नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुब्वेज्जा, धारेज्जा, पियमप्पियं॥" –उत्तराध्ययन १/१४

तुलना कीजिए–

"नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्, नाप्यन्यायेन पृच्छतः।
ज्ञानवानपि मेधावी, जडवत् समुपाविशेत्॥" –शान्तिपर्व २८७/३५

"अप्पा चेव दमेयब्बो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥" –उत्तराध्ययन १/१५

तुलना कीजिए–

"अत्तानञ्ञे तथा कयिरा, यथञ्ञमनुसासति (?)।
सुदन्तो वत दम्मेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो॥" –धम्मपद १२/३

"पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि॥" –उत्तराध्ययन १/१७

तुलना कीजिए–

"मा कासि पापकं कम्मं, आवि वा यदि वा रहो।
सचे च पापकं कम्मं, करिस्ससि करोसि वा॥" –थेरगाथा २४७

परीषह : एक चिन्तन

द्वितीय अध्ययन में **परिषह-जय** के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। संयम-साधना के पथ पर कदम बढ़ाते समय विविध प्रकार के कष्ट आते हैं, पर साधक उन कष्टों से घबराता नहीं है। वह तो उस झरने की तरह है, जो वज्र चट्टानों को चीरकर आगे बढ़ता है। न उसके मार्ग को पत्थर रोक पाते हैं और न गहरे गर्त्त ही। वह तो अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ता रहता है। पीछे लौटना उसके जीवन का लक्ष्य नहीं होता। स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा निर्जरा के लिए जो कुछ सहा जाता है, वह 'परीषह' है।[६९] परीषह के अर्थ में उपसर्ग शब्द का भी प्रयोग हुआ है। परीषह का अर्थ केवल शरीर, इन्द्रिय, मन को ही कष्ट देना नहीं है, अपितु अहिंसा आदि धर्मों की आराधना व साधना के लिए सुस्थिर बनाना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है–सुख से भावित ज्ञान दुःख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है, इसलिए योगी को यथाशक्ति अपने आपको दुःख से भावित करना चाहिए। जमीन में वपन किया हुआ बीज तभी अंकुरित होता है, जब उसे जल की शीतलता के साथ सूर्य की ऊष्मा प्राप्त हो, वैसे ही साधना की सफलता के लिए अनुकूलता की शीतलता के साथ प्रतिकूलता की ऊष्मा भी आवश्यक है। परीषह साधक के लिए बाधक नहीं, अपितु उसकी प्रगति का ही कारण है। उत्तराध्ययन,[७०] समवायांग[७१] और तत्त्वार्थसूत्र[७२] में परीषह की संख्या बाईस बताई है। किन्तु संख्या की दृष्टि समान होने पर भी क्रम की दृष्टि से कुछ अन्तर है। समवायांग में परीषह के बाईस भेद इस प्रकार मिलते हैं–

१. क्षुधा	२. पिपासा
३. शीत	४. उष्ण
५. दंश-मशक	६. अचेल
७. अरति	८. स्त्री

९. चर्या	१०. निषद्या
११. शय्या	१२. आक्रोश
१३. वध	१४. याचना
१५. अलाभ	१६. रोग
१७. तृणस्पर्श	१८. जल्ल
१९. सत्कार-पुरस्कार	२०. ज्ञान
२१. दर्शन	२२. प्रज्ञा

उत्तराध्ययन में उन्नीस परीषहों के नाम व क्रम वही हैं, किन्तु २०, २१ व २२ के नाम में अन्तर है। उत्तराध्ययन में (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान, और (२२) दर्शन है।

नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव[७३] ने 'अज्ञान' परीषह का क्वचित् श्रुति के रूप में वर्णन किया है। आचार्य उमास्वाति[७४] ने 'अचेल' परीषह के स्थान पर 'नाग्न्य' परीषह लिखा है और 'दर्शन' परीषह के स्थान पर 'अदर्शन' परीषह लिखा है। आचार्य नेमिचन्द्र[७५] ने 'दर्शन' परीषह के स्थान पर 'सम्यक्त्व' परीषह माना है। दर्शन और सम्यक्त्व इन दोनों में केवल शब्द का अन्तर है, भाव का नहीं।

परीषहों की उत्पत्ति का कारण ज्ञानावरणीय, अन्तराय, मोहनीय और वेदनीय कर्म हैं। ज्ञानावरणीय कर्म प्रज्ञा और अज्ञान परीषहों का, अन्तराय कर्म अलाभ परीषह का, दर्शनमोहनीय अदर्शन परीषह का और चारित्रमोहनीय अचेल, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार, इन सात परीषहों का कारण है। वेदनीय कर्म क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और जल्ल, इन ग्यारह परीषहों का कारण है।[७६]

अधिकारी-भेद की दृष्टि से जिसमें सम्पराय अर्थात् लोभ-कषाय की मात्रा कम हो, उस दसवें सूक्ष्म सम्पराय[७७] में तथा ग्यारहवें उपशान्तमोह और बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में (१) क्षुधा, (२) पिपासा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंश-मशक, (६) चर्या, (७) प्रज्ञा, (८) अज्ञान, (९) अलाभ, (१०) शय्या, (११) वध, (१२) रोग, (१३) तृणस्पर्श, और (१४) जल्ल, ये चौदह परीषह ही सम्भव हैं। शेष मोहजन्य आठ परीषह वहाँ मोहोदय का

अभाव होने से नहीं हैं। दसवें गुणस्थान में अत्यल्प मोह रहता है। इसलिए प्रस्तुत गुणस्थान में भी मोहजन्य आठ परीषह सम्भव न होने से केवल चौदह ही होते हैं।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान[७८] में (१) क्षुधा, (२) पिपासा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंश-मशक, (६) चर्या, (७) वध, (८) रोग, (९) शय्या, (१०) तृणस्पर्श, और (११) जल्ल, ये वेदनीयजनित ग्यारह परीषह सम्भव हैं। इन गुणस्थानों में घातिकर्मों का अभाव होने से शेष ग्यारह परीषह नहीं हैं।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि १३वें और १४वें गुणस्थानों में परीषहों के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के दृष्टिकोण में किंचित् अन्तर है और उसका मूल कारण है–दिगम्बर परम्परा केवली में कवलाहार नहीं मानती है। उसके अभिमतानुसार सर्वज्ञ में क्षुधा आदि ग्यारह परीषह तो हैं, पर मोह का अभाव होने से क्षुधा आदि वेदना रूप न होने के कारण उपचार मात्र से परीषह हैं।[७९] उन्होंने दूसरी व्याख्या भी की है। 'न' शब्द का अध्याहार करके यह अर्थ लगाया है–जिनमें वेदनीय कर्म होने पर भी तदाश्रित क्षुधा आदि ग्यारह परीषह मोह के अभाव के कारण बाधा रूप न होने से हैं ही नहीं।

सुत्तनिपात[८०] में तथागत बुद्ध ने कहा–"मुनि शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, वात, आतप, दंश और सरीसृप का सामना कर खड्गविषाण की तरह अकेला विचरण करे। यद्यपि बौद्ध साहित्य में कायक्लेश को किंचित् मात्र भी महत्त्व नहीं दिया गया, किन्तु श्रमण के लिए परीषह-सहन करने पर उन्होंने भी बल दिया है।

कितनी ही गाथाओं की तुलना बौद्ध ग्रन्थ–थेरगाथा, सुत्तनिपात तथा धम्मपद और वैदिक ग्रन्थ–महाभारत, भागवत और मनुस्मृति में आये हुए पद्यों के साथ की जा सकती है। उदाहरण के रूप में हम आगे वह तुलना दे रहे हैं। देखिए–

"कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमनसो चरे॥" –उत्तराध्ययन २/३

तुलना कीजिए–

"काल(ला) पव्वंगसंकासो, किसो धम्मनिसन्थतो।
मत्तञ्ञू अन्नपाणम्हि, अदीनमनसो नरो॥" –थेरगाथा २४६, ६८६

"अष्टचक्रं हि तद् यानं, भूतयुक्तं मनोरथम्।
तत्राद्यौ लोकनाथौ तौ, कृशौ धमनिसंततौ॥" –शान्तिपर्व ३३४/११

"एवं चीर्णेन तपसा, मुनिर्धर्ममनिसर्गतः।" –भागवत ११/१८/९

"पंसुकूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं।
एकं वनस्मिं झायन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥" –धम्मपद २६/१३

"पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरेव महामुणी।
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं॥" –उत्तराध्ययन २/१०

तुलना कीजिए–

"फुट्ठो डंसेहि मसकेहि, अरञ्ञस्मिं ब्रहावने।
नागो संगामसीसे व, सतो तत्राऽधिवासये॥" –थेरगाथा ३४, २४७, ६८७

"एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए॥" –उत्तराध्ययन २/१८

तुलना कीजिए–

"एक एव चरेन्नित्यं, सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्, न जहाति न हीयते॥" –मनुस्मृति ६/४२

"असमाणो चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए॥" –उत्तराध्ययन २/१९

तुलना कीजिए–

"अनिकेतः परितपन्, वृक्षमूलाश्रयो मुनिः।
अयाचकः सदा योगी, स त्यागी पार्थ ! भिक्षुकः॥" –शान्तिपर्व १२/१०

"सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं॥" –उत्तराध्ययन २/२०

तुलना कीजिए–

"पांशुभिः समभिच्छन्नः, शून्यागारप्रतिश्रयः।
वृक्षमूलनिकेतो वा, त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः॥" –शान्तिपर्व ९/१३

"सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे॥" –उत्तराध्ययन २/२५

तुलना कीजिए–

"सुत्वा रुसितो बहुं वाचं, समणाणं पुथुवचनानं।
फरुसेन ते न पतिवज्जा, न हि सन्तो पटिसेनिकरोन्ति॥"

–सुत्तनिपात, व. ८, १४/१८

"अणुक्कसाई, अपिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नवं॥" –उत्तराध्ययन २/३९

तुलना कीजिए–

"चक्खूहि नेव लोलस्स, गामकथाय आवरये सोतं।
रसे च नानुगिज्झेय्य, न च ममायेथ किंचि लोकस्मिं॥"

–सुत्तनिपात, व. ८, १४/८

प्रस्तुत अध्ययन में 'खेत्तं वत्थुं हिरण्णं' वाली जो गाथा है, वैसी गाथा सुत्तनिपात में भी उपलब्ध है। देखिए–

"खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं।
चत्तारि कामखन्धाणि, तत्थ से उववज्जई॥" –उत्तराध्ययन ३/१७

तुलना कीजिए–

"खेत्तं वत्थुं हिरञ्ञं वा, गवास्सं दासपोरिसं।
थियो बन्धू पुथू कामे, यो नरो अनुगिज्झति॥" –सुत्तनिपात, व. ८, १/४

तृतीय अध्ययन में **मानवता, सद्धर्म-श्रवण, श्रद्धा और संयम-साधना में पुरुषार्थ**–इन चार विषयों पर चिन्तन किया गया है। मानव-जीवन अत्यन्त पुण्योदय से प्राप्त होता है। भगवान महावीर ने "**दुल्लहे खलु माणुसे भवे**" कहकर मानव-जीवन की दुर्लभता बताई है तो आचार्य शंकर ने भी "**नरत्वं दुर्लभं लोके**" कहा है। तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में कहा–

"बड़े भाग मानुस तन पावा।
सुर-नर मुनि सब दुर्लभ गावा॥"

मानव-जीवन की महत्ता का कारण यह है कि वह अपने जीवन को सद्गुणों से चमका सकता है। मानव-तन मिलना कठिन है किन्तु 'मानवता' प्राप्त करना और भी कठिन है। नर-तन तो चोर, डाकू एवं बदमाशों को भी मिलता है पर मानवता के अभाव में वह तन मानव-तन नहीं, दानव-तन है। मानवता के साथ ही निष्ठा की भी उतनी ही आवश्यकता है, क्योंकि बिना निष्ठा के ज्ञान प्राप्त

नहीं होता। गीताकार ने भी "श्रद्धावान् लभते ज्ञानं" कहकर श्रद्धा की महत्ता प्रतिपादित की है। जब तक साधक की श्रद्धा समीचीन एवं सुस्थिर नहीं होती, तब तक साधना के पथ पर उसके कदम दृढ़ता से आगे नहीं बढ़ सकते, इसलिए श्रद्धा पर बल दिया गया है। साथ ही धर्म-श्रवण के लिए भी प्रेरणा दी गई है। धर्म-श्रवण से जीवादि तत्त्वों का सम्यक् परिज्ञान होता है और सम्यक् परिज्ञान होने से साधक पुरुषार्थ के द्वारा सिद्धि को वरण करता है।

जागरूकता का सन्देश

चतुर्थ अध्ययन का नाम **समवायांग**[८१] में **'असंख्य'** है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में 'प्रमादाप्रमाद' नाम दिया है।[८२] निर्युक्तिकार ने अध्ययन में वर्णित विषय के आधार पर नाम दिया है तो समवायांग में जो नाम है वह प्रथम गाथा के प्रथम पद पर आधृत है। अनुयोगद्वार से भी इस बात का समर्थन होता है।[८३] व्यक्ति सोचता है–अभी तो मेरी युवावस्था है, धर्म वृद्धावस्था में करूँगा, पर उसे पता नहीं कि वृद्धावस्था आयेगी अथवा नहीं? इसलिए भगवान ने कहा–"धर्म करने में प्रमाद न करो ! जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि अर्थ पुरुषार्थ है, अतः अर्थ मेरा कल्याण करेगा, पर उन्हें यह पता नहीं कि अर्थ अनर्थ का कारण है। तुम जिस प्रकार के कर्मों का उपार्जन करोगे उसी प्रकार का फल प्राप्त होगा।" "**कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।**"–कृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है। इस प्रकार अनेक जीवनोत्थान के तथ्यों का प्रतिपादन प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है और साधक को यह प्रेरणा दी गई है कि वह प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक रहकर साधना के पथ पर आगे बढ़े।

चतुर्थ अध्ययन की **प्रथम और तृतीय गाथा** में जो भाव अभिव्यक्त हुए हैं, वैसे ही भाव बौद्ध ग्रन्थ–अंगुत्तरनिकाय तथा थेरगाथा में भी आये हैं। हम जिज्ञासुओं के लिए यहाँ पर उन गाथाओं को तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करने हेतु दे रहे हैं। देखिए–

"असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति॥"

–उत्तराध्ययन ४/१

तुलना कीजिए–

"उपनीयति जीवितं अप्पमायु, जरूपनीतस्स न सन्ति ताणा।
एतं भयं मरणे पेक्खमाणो, पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि॥"

–अंगुत्तरनिकाय, पृष्ठ १५९

"तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि॥"

–उत्तराध्ययन ४/३

तुलना कीजिए–

"चोरो यथा सन्धिमुखे गहीतो, सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो।
एवं पजा पेच्च परम्हि लोके, सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो॥"

–थेरगाथा ७८९

मृत्यु : एक चिन्तन

पाँचवें अध्ययन में अकाममरण के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। भारत के तत्त्वदर्शी ऋषि, महर्षि और सन्तगण जीवन और मरण के सम्बन्ध में समय-समय पर चिन्तन करते रहे हैं। जीवन सभी को प्रिय है और मृत्यु अप्रिय है। जीवित रहने के लिए सभी प्रयास करते हैं और चाहते हैं कि हम दीर्घकाल तक जीवित रहें। उत्कट जिजीविषा प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। पर सत्य यह है कि जीवन के साथ मृत्यु का चोली-दामन का सम्बन्ध है। न चाहने पर भी मृत्यु निश्चित है, यहाँ तक कि मृत्यु की आशंका से मानव और पशु ही नहीं अपितु स्वर्ग के अनुपम सुखों को भोगने वाले देव और इन्द्र भी काँपते हैं। संसार में जितने भी भय हैं, उन सब में मृत्यु का भय सबसे बढ़कर है। पर चिन्तकों ने कहा–तुम मृत्यु से भयभीत मत बनो ! जीवन और मरण तो खेल है। तुम खिलाड़ी बनकर कलात्मक ढंग से खेलो, चालक को मोटर चलाने की कला आनी चाहिए तो मोटर को रोकने की कला भी आनी चाहिए। जो चालक केवल चलाना ही जानता हो, रोकने की कला से अनभिज्ञ हो, वह कुशल चालक नहीं होता। जीवन और मरण दोनों ही कलाओं का पारखी ही सच्चा पारखी है। जैसे हँसते हुए जीना आवश्यक है, वैसे ही हँसते हुए मृत्यु को वरण करना भी आवश्यक है। जो हँसते हुए मरण नहीं करता है, वह अकाममरण को प्राप्त होता है। अकाममरण विवेकरहित और सकाममरण विवेकयुक्त मरण है। अकाममरण में विषय-वासना की प्रबलता होती है, कषाय की प्रधानता होती है और सकाममरण में विषय-वासना और कषाय का अभाव होता है। सकाममरण में साधक शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् मानता है। शुद्ध दृष्टि से आत्मा विशुद्ध है, अनन्त आनन्दमय है। शरीर का कारण कर्म है और कर्म से ही मृत्यु और पुनर्जन्म है। इसलिए उस साधक के मन में न वासना होती है

और न दुर्भावना ही होती है। वह बिना किसी कामना के स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु को इसलिए वरण करता है कि उसका शरीर अब साधना करने में सक्षम नहीं है। अतः समाधिपूर्वक सकाममरण की महिमा आगम व आगमेतर साहित्य में गायी गई है।

सकाममरण को **पण्डितमरण** भी कहते हैं। पण्डितमरण के अनेक भेद-प्रभेदों की चर्चाएँ आगम साहित्य में विस्तार से निरूपित हैं। बालमरण के भी अनेक भेद-प्रभेद हैं। विस्तारभय से उन सभी की चर्चा हम यहाँ नहीं कर रहे हैं। आत्म-बलिदान और समाधिमरण में बहुत अन्तर है। आत्म-बलिदान में भावना की प्रबलता होती है। बिना भावातिरेक के आत्म-बलिदान सम्भव नहीं है। समाधिमरण में भावातिरेक नहीं होता। उसमें विवेक और वैराग्य की प्रधानता होती है।

आत्मघात और संलेखना-संथारे में भी आकाश-पाताल जितना अन्तर है। आत्मघात करने वाले के **चेहरे पर तनाव** होता है, उसमें एक प्रकार का **पागलपन** आ जाता है। आकुलता-व्याकुलता होती है। जबकि समाधिमरण करने वाले की मृत्यु आकस्मिक नहीं होती। आत्मघाती में कायरता होती है, कर्त्तव्य से पलायन की भावना होती है, पर पण्डितमरण में वह वृत्ति नहीं होती। वहाँ प्रबल समभाव होता है। पण्डितमरण के सम्बन्ध में जितना जैन मनीषियों ने चिन्तन किया है, उतना अन्य मनीषियों ने नहीं।

बौद्ध परम्परा में इच्छापूर्वक मृत्यु को वरण करने वाले साधकों का संयुक्तनिकाय में समर्थन भी किया है। सीठ, सप्पदास, गोधिक, भिक्षुवक्कली,[८४] कुलपुत्र और भिक्षुछन्न,[८५] ये असाध्य रोग से ग्रस्त थे। उन्होंने आत्म-हत्याएँ कीं। तथागत बुद्ध को ज्ञात होने पर उन्होंने अपने संघ को कहा–ये भिक्षु निर्दोष हैं। इन्होंने आत्म-हत्या कर परिनिर्वाण को प्राप्त किया है। आज भी जापानी बौद्धों में हाराकीरी (स्वेच्छा से शस्त्र के द्वारा आत्म-हत्या) की प्रथा प्रचलित है। बौद्ध परम्परा में शस्त्र के द्वारा उसी क्षण मृत्यु को वरण करना श्रेष्ठ माना है। जैन परम्परा ने इस प्रकार मरना अनुचित माना है, उसमें मरने की आतुरता रही हुई है।

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में आत्म-हत्या को महापाप माना है। **पाराशरस्मृति** में उल्लेख है–क्लेश, भय, घमण्ड, क्रोध आदि के वशीभूत होकर जो आत्म-हत्या करता है, वह व्यक्ति ६० हजार वर्ष तक नरक में निवास करता

है।[८६] महाभारत की दृष्टि से भी आत्म-हत्या करने वाला कल्याणप्रद लोक में नहीं जा सकता।[८७] वाल्मीकिरामायण,[८८] शांकरभाष्य,[८९] बृहदारण्यकोपनिषद्,[९०] महाभारत[९१] आदि ग्रन्थों में आत्मघात को अत्यन्त हीन माना है। जो आत्मघात करते हैं, उनके सम्बन्ध में मनुस्मृति,[९२] याज्ञवल्क्य,[९३] उषनस्मृति,[९४] कूर्मपुराण,[९५] अग्निपुराण,[९६] पाराशरस्मृति[९७] आदि ग्रन्थों में बताया है कि उन्हें जलाञ्जलि भी नहीं देनी चाहिए।

जहाँ एक ओर आत्मघात को निंद्य माना है तो दूसरी ओर विशेष पापों के प्रायश्चित्त के रूप में आत्मघात का समर्थन भी किया है। जैसे मनुस्मृति में **आत्मघाती, मदिरापायी ब्राह्मण, गुरुपत्नीगामी** को उग्र शस्त्र, अग्नि आदि से आत्मघात करने का विधान है[९८] क्योंकि वह उससे शुद्ध होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति,[९९] गौतमस्मृति,[१००] वशिष्ठस्मृति,[१०१] आपस्तम्भीय धर्मसूत्र,[१०२] महाभारत[१०३] आदि में इसी तरह से शुद्धि के उपाय बताये हैं, जिसके फलस्वरूप काशीकरवट, प्रयाग में अक्षयवट से कूदकर आत्म-हत्या करने की प्रथाएँ प्रचलित हुईं। इस प्रकार मृत्युवरण को एक पवित्र और श्रेष्ठ धार्मिक आचरण माना गया। महाभारत के अनुशासनपर्व,[१०४] वनपर्व,[१०५] मत्स्यपुराण[१०६] में स्पष्ट वर्णन है–अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश, गिरिपतन, विष-प्रयोग या अनशन द्वारा देह-त्याग करने पर ब्रह्मलोक अथवा मुक्ति प्राप्त होती है।

प्रयाग, सरस्वती, काशी आदि तीर्थ-स्थलों में आत्मघात करने का विधान है। महाभारत में कहा है–वेद-बचन या लोक-वचन से प्रयाग में मरने का विचार नहीं त्यागना चाहिए।[१०७] इसी प्रकार कूर्मपुराण,[१०८] पद्मपुराण,[१०९] स्कन्दपुराण,[११०] मत्स्यपुराण,[१११] ब्रह्मपुराण,[११२] लिङ्गपुराण[११३] में स्पष्ट उल्लेख है कि जो इन स्थलों पर मृत्यु को वरण करता है, भले ही वह स्वस्थ हो या अस्वस्थ, मुक्ति को अवश्य ही प्राप्त करता है।

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में परस्पर विरोधी वचन प्राप्त होते हैं। कहीं पर आत्मघात को निकृष्ट माना है तो कहीं पर उसे प्रोत्साहन भी दिया गया है। कहीं पर जैन परम्परा की तरह समाधिमरण का मिलता-जुलता वर्णन है। किन्तु जल-प्रवेश, अग्नि-प्रवेश, विष-भक्षण, गिरिपतन, शस्त्राघात के द्वारा मरने का वर्णन अधिक है। इस प्रकार मृत्यु के वरण में कषाय की तीव्रता रहती है। श्रमण भगवान महावीर ने इस प्रकार के मरण को बालमरण कहा है। क्योंकि ऐसे मरण में समाधि का अभाव होता है।

इस्लाम धर्म में स्वैच्छिक मृत्यु का विधान नहीं है। उसका मानना है कि खुदा की अनुमति के बिना निश्चित समय के पूर्व किसी को मरने का अधिकार नहीं है। इसी प्रकार ईसाई धर्म में भी आत्म-हत्या का विरोध किया गया है। ईसाइयों का मानना है कि न तुम्हें दूसरों को मारना है और न स्वयं मरना है।[११४]

संक्षेप में कहा जाय तो उत्तराध्ययन में मृत्यु के सन्निकट आने पर चारों प्रकार के आहार का त्याग कर आत्म-ध्यान करते हुए जीवन और मरण की कामना से मुक्त होकर समभावपूर्वक प्राणों का विसर्जन करना 'पण्डितमरण' या 'सकाममरण' है। जो व्यक्ति जन, परिजन, धन आदि में मूर्च्छित होकर मृत्यु को वरण करता है, उसका मरण 'बालमरण' या 'अकाममरण' है। अकाम और बालमरण को भगवान महावीर ने त्याज्य बताया है।

निर्ग्रन्थ : एक अध्ययन

छट्ठे अध्ययन का नाम **'क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय'** है। 'निर्ग्रन्थ' शब्द जैन परम्परा का एक विशिष्ट शब्द है। आगम साहित्य में शताधिक स्थानों पर निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। बौद्ध साहित्य में **'निग्गंठो नायपुत्तो'** शब्द अनेकों बार व्यवहृत हुआ है।[११५] तपागच्छ पट्टावली में यह स्पष्ट निर्देश है कि गणधर सुधर्मा स्वामी से लेकर आठ पट्ट परम्परा तक निर्ग्रन्थ परम्परा के रूप में विश्रुत थी। सम्राट् अशोक के शिलालेखों में **'नियंठ'** शब्द का प्रयोग हुआ है।[११६] जो निर्ग्रन्थ का ही रूप है। ग्रन्थियाँ दो प्रकार की होती हैं–एक स्थूल और दूसरी सूक्ष्म। आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना 'स्थूल ग्रन्थ' कहलाता है तथा आसक्ति 'सूक्ष्म ग्रन्थ' कहलाता है। ग्रन्थ का अर्थ गाँठ है। निर्ग्रन्थ होने के लिए स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही ग्रन्थियों से मुक्त होना आवश्यक है। राग, द्वेष आदि कषायभाव 'आभ्यन्तर ग्रन्थियाँ' हैं। उन्हीं ग्रन्थियों के कारण बाह्य ग्रन्थ एकत्रित किया जाता है। श्रमण इन दोनों ही ग्रन्थियों का परित्याग कर साधना के पथ पर अग्रसर होता है। प्रस्तुत अध्ययन में इस सम्बन्ध में गहराई से अनुचिन्तन किया गया है।

दुःख का मूल : आसक्ति

सातवें अध्ययन में अनासक्ति पर बल दिया है। जहाँ आसक्ति है, वहाँ दुःख है; जहाँ अनासक्ति है, वहाँ सुख है। इन्द्रियाँ क्षणिक सुख की ओर प्रेरित

होती हैं, पर वह सच्चा सुख नहीं होता। वह सुखाभास है। प्रस्तुत अध्ययन में पाँच उदाहरणों के माध्यम से विषय को स्पष्ट किया गया है। पाँचों दृष्टान्त अत्यन्त हृदयग्राही हैं। प्रस्तुत अध्ययन का नाम समवायांग[११७] और उत्तराध्ययननिर्युक्ति[११८] में 'उरब्भिज्जं' है। अनुयोगद्वार में 'एलइज्ज' नाम प्राप्त होता है।[११९] प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा में भी 'एलयं' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। उरभ्र और एलक, ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं, अतः ये दोनों शब्द आगम साहित्य में आये हैं। इनके अर्थ में कोई भिन्नता नहीं है।

लोभ

आठवें अध्ययन में लोभ की अभिवृद्धि का सजीव चित्रण किया गया है। लोभ उस सरिता की तेज धारा के सदृश है जो आगे बढ़ना जानती है, पीछे हटना नहीं। ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों द्रौपदी के चीर की तरह लोभ बढ़ता चला जाता है। लोभ को नीतिकारों ने पाप का बाप कहा है। अन्य कषाय एक-एक सद्गुण का नाश करता है, पर लोभ सभी सद्गुणों का नाश करता है। क्रोध, मान, माया के नष्ट होने पर भी लोभ की विद्यमानता में वीतरागता नहीं आती। बिना वीतराग बने सर्वज्ञ नहीं बनता। कपिल केवली के कथानक द्वारा यह तथ्य उजागर हुआ है। कपिल के अन्तर्मानस में लोभ की बाढ़ इतनी अधिक आ गई थी कि उसकी प्रतिक्रियास्वरूप उसका मन विरक्ति से भर गया। वह सब कुछ छोड़कर निर्ग्रन्थ बन गया। एक बार तस्करों ने उसे चारों ओर से घेर लिया। कपिल मुनि ने संगीत की सुरीली स्वर-लहरियों में मधुर उपदेश दिया। संगीत के स्वर तस्करों को इतने प्रिय लगे कि वे भी उन्हीं के साथ गाने लगे। कपिल मुनि के द्वारा प्रस्तुत अध्ययन गाया गया था, इसलिए इस अध्ययन का नाम 'कापिलीय' अध्ययन है। वादीवेताल शान्तिसूरि ने अपनी बृहद्वृत्ति में इस सत्य को व्यक्त किया है।[१२०] जिनदासगणी महत्तर ने प्रस्तुत अध्ययन को 'ज्ञेय' माना है।[१२१] "अधुवे असासयंमि, संसारम्मि दुक्खपउराए।" यह ध्रुव पद था, जो प्रत्येक गाथा के साथ गाया गया। कितने ही तस्कर तो प्रथम गाथा को सुनकर ही संबुद्ध हो गये। कितनेक दूसरी, तीसरी गाथा को सुनकर संबुद्ध हुए। इस प्रकार ५०० तस्कर प्रतिबुद्ध होकर मुनि बने। प्रस्तुत अध्ययन में ग्रन्थि-त्याग, संसार की असारता, कुतीर्थियों की अज्ञता, अहिंसा, विवेक, स्त्री-संगम प्रभृति अनेक विषय चर्चित हैं। कपिल स्वयंबुद्ध थे। उन्हें स्वयं ही बोध प्राप्त हुआ था।

आठवें अध्ययन में कहा गया है–जो साधु लक्षणशास्त्र, स्वप्नशास्त्र और अंगविद्या का प्रयोग करता है, वह साधु नहीं है। यही बात तथागत बुद्ध ने भी सुत्तनिपात में कही है। उदाहरण के लिए–

"जे लक्खणं च सुविणं च, अंगविज्जं च जे पउंजन्ति।
न हु ते समणा वुच्चन्ति, एवं आयरिएहिं अक्खायं॥" –उत्तराध्ययन ८/१३

तुलना कीजिए–

"आथब्बणं सुपिनं लक्खणं, नो विदहे अथो पि नक्खत्तं।
विरुतं च गब्भकरणं, तिकिच्छं मामको न सेवेय्य॥"

–सुत्तनिपात, व. ८, १४/१३

नवमें अध्ययन में नमि राजर्षि संयम-साधना के पथ को स्वीकार करते हैं। उनकी परीक्षा के लिए इन्द्र ब्राह्मण के रूप को धारण कर आता है। उनके वैराग्य की परीक्षा करना चाहता है। पर नमि राजर्षि अध्यात्म के अन्तस्तल को स्पर्श किये हुए महान् साधक थे। उन्होंने कहा–"कामभोग त्याज्य हैं, वे तीक्ष्ण शल्य हैं, भयंकर विष के सदृश हैं, आशीविष सर्प के समान हैं। जो इन काम-भोगों की इच्छा करता है, उनका सेवन करता है, वह दुर्गति को प्राप्त होता है।" इन्द्र ने उन्हें प्रेरणा दी–"अनेक राजागण आपके अधीन नहीं हैं, प्रथम उन्हें अधीन करके बाद में प्रव्रज्या ग्रहण करना।" राजर्षि ने कहा–"एक मानव रण-क्षेत्र में लाखों वीर योद्धाओं पर विजय-वैजयन्ती फहराता है, दूसरा आत्मा को जीतता है। जो अपनी आत्मा को जीतता है, वह उस व्यक्ति की अपेक्षा महान् है।"

प्रस्तुत संवाद में इन्द्र ब्राह्मण परम्परा का प्रतिनिधि है तो नमि राजर्षि श्रमण परम्परा के प्रतिनिधि हैं। इन्द्र ने गृहस्थाश्रम का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए उसे घोर आश्रम कहा। क्योंकि वैदिक परम्परा का आघोष था–चार आश्रमों में गृहस्थाश्रम मुख्य है। गृहस्थ ही यजन करता है, तप तपता है। जैसे–नदी और नद समुद्र में आकर स्थित होते हैं, वैसे ही सभी आश्रमी गृहस्थ पर आश्रित हैं।[१२२]

नवमें अध्ययन के नमि राजर्षि की जो कथावस्तु है, उस कथावस्तु की आंशिक तुलना महाजनजातक, सोनकजातक, माण्डव्य मुनि और जनक, जनक और भीष्म के कथानकों से की जा सकती है। हमने विस्तारभय से उन

कथानकों को यहाँ पर नहीं दिया है। यहाँ हम नवमें अध्ययन की कुछ गाथाओं की तुलना जातक, धम्मपद, अंगुत्तरनिकाय, दिव्यावदान और महाभारत के पद्यों के साथ कर रहे हैं। उदाहरणस्वरूप देखिए–

"सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचणं।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचणं॥" –उत्तराध्ययन ९/१४

तुलना कीजिए–

"सुसुखं बत जीवाम ये, सं नो नत्थि किंचनं।
मिथिलाय डव्हमानाय, न मे किंचि अडव्हथ॥"

–जातक ५३९, श्लोक १२५; जातक ५२९, श्लोक १६; धम्मपद १५

"सुसुखं बत जीवामि, यस्य मे नास्ति किंचन्।
मिथिलायां प्रदीप्तायां, न मे दह्यति किंचन्॥" –मोक्षधर्मपर्व २७६/२

"जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥" –उत्तराध्ययन ९/३४

तुलना कीजिए–

"यो सहस्सं सहस्सेन, संगामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं, स वे संगामजुत्तमो॥" –धम्मपद ८/४

"जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचणं॥" –उत्तराध्ययन ९/४०

तुलना कीजिए–

"मासे मासे सहस्सेन, यो यजेथ सतं समं।
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये॥
सा येव पूजना सेय्यो, यं चे वस्ससतं हुतं।
यो च वस्ससतं जन्तु, अग्गिं परिचरे बने॥
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो, यं चे वस्ससतं हुतं॥" –धम्मपद ८/७-९

"यो ददाति सहस्राणि, गवामश्वशतानि च।
अभयं सर्वभूतेभ्यः, सदा तमभिवर्तते॥" –शान्तिपर्व २९८/५

"मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥" –उत्तराध्ययन ९/४४

तुलना कीजिए–

"मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुंजेथ भोजनं।
न सो संखतधम्मानं, कलं अग्घति सोलसिं॥" –धम्मपद ५/११

"अट्ठंगुप्रेतस्स उपोसथस्स, कलं पि ते नानुभवंति सोलंसि।"
–अंगुत्तरनिकाय, पृष्ठ २२१

"सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया॥"
–उत्तराध्ययन ९/४८

तुलना कीजिए–

"पर्वतोपि सुवर्णस्य, समो हिमवता भवेत्।
नालं एकस्य तद् वित्तं, इति विद्वान् समाचरेत्॥"
–दिव्यावदान, पृष्ठ २२४

"पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे॥" –उत्तराध्ययन ९/४९

तुलना कीजिए–

"यत्पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
सर्वं तन्नालमेकस्य, तस्माद् विद्वाञ्छमं चरेत्॥" –अनुशासनपर्व ९३/४०

"यत् पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति, पश्यन्न मुह्यति॥" –उद्योगपर्व ३९/८४

"यद् पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं, तदित्यवितृष्णां त्यजेत्॥" –विष्णुपुराण ४/१०/१०

वैदिक दृष्टि में गृहस्थाश्रम को प्रमुख माना गया है। इन्द्र ने कहा–"राजर्षि ! इस महान् आश्रम को छोड़कर तुम अन्य आश्रम में जाना चाहते हो, यह उचित नहीं है। यहीं पर रहकर धर्म का पोषण करो एवं पौषध में रत रहो।" नमि राजर्षि ने कहा–"हे ब्राह्मण ! मास-मास का उपवास करके पारणा में कुशाग्र

मात्र आहार ग्रहण करने वाला गृहस्थ मुनिधर्म की सोलहवीं कला भी प्राप्त नहीं कर सकता।'' इस प्रकार गृहस्थ-जीवन की अपेक्षा श्रमण-जीवन को श्रेष्ठ बताया गया है। अन्त में इन्द्र नमि राजर्षि के दृढ़ संकल्प को देखकर अपना असली रूप प्रकट करता है और नमि राजर्षि की स्तुति करता है। प्रस्तुत अध्ययन में ब्राह्मण-संस्कृति और श्रमण-संस्कृति का पार्थक्य प्रकट किया गया है।

जागरण का सन्देश

दसवें अध्ययन में भगवान महावीर द्वारा गौतम को किया गया उद्‌बोधन संकलित है। गौतम-के माध्यम से सभी श्रमणों को उद्‌बोधन दिया गया है। जीवन की अस्थिरता, मानवभव की दुर्लभता, शरीर और इन्द्रियों की धीरे-धीरे क्षीणता तथा त्यक्त कामभोगों को पुनः न ग्रहण करने की शिक्षा दी गई है। जीवन की नश्वरता द्रुमपत्र की उपमा से समझाई गई है। यह उपमा अनुयोगद्वार आदि में भी प्रयुक्त हुई है। वहाँ पर कहा है–पके हुए पत्तों को गिरते देख कोपलें खिलखिलाकर हँस पड़ीं। तब पके हुए पत्तों ने कहा–''जरा ठहरो ! एक दिन तुम पर भी वही बीतेगी जो आज हम पर बीत रही है।''[१२३] इस उपमा का उपयोग परवर्ती साहित्य में कवियों ने जमकर किया है।

दसवें अध्ययन में बताया है–जैसे शरद ऋतु का रक्त कमल जल में लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार भगवान महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा–''तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिप्त बन।'' यही बात धम्मपद में भी कही गई है। भाव एक है, पर भाषा में कुछ परिवर्तन है। उदाहरण के रूप में देखिए–

''वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम ! मा पमायए॥''

–उत्तराध्ययन १०/२८

तुलना कीजिए–

''उच्छिन्द सिनेहमत्तनो, कुमुदं सारदिकं व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूह्य, निब्बानं सुगतेन देसितं॥'' –धम्मपद २०/१३

बहुश्रुतता : एक चिन्तन

ग्यारहवें अध्ययन में बहुश्रुत की भाव-पूजा का निरूपण है। इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'बहुश्रुत-पूजा' है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने बहुश्रुत का अर्थ

चतुर्दशपूर्वी किया है। प्रस्तुत अध्ययन में बहुश्रुत के गुणों का वर्णन है। यों बहुश्रुत के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ये तीन भेद किये हैं। जघन्य–निशीथशास्त्र का ज्ञाता, मध्यम–निशीथ से लेकर चौदह पूर्व के पहले तक का ज्ञाता और उत्कृष्ट–चौदह पूर्वों का वेत्ता। प्रस्तुत अध्ययन में विविध उपमाओं से तेजस्वी व्यक्तित्त्व को उभारा गया है। वस्तुतः ये उपमाएँ इतनी वास्तविक हैं कि पढ़ते-पढ़ते पाठक का सिर सहज ही श्रद्धा से बहुश्रुत के चरणों में नत हो जाता है। बहुश्रुतता प्राप्त होती है–विनय से। विनीत व्यक्ति को प्राप्त करके ही श्रुत फलता और फूलता है। जिसमें **क्रोध, प्रमाद, रोग, आलस्य** और **स्तब्धता** ये पाँच विघ्न हैं, वह बहुश्रुतता प्राप्त नहीं कर सकता। विनीत व्यक्ति ही बहुश्रुतता का पूर्ण अधिकारी है।

बारहवें अध्ययन में **मुनि हरिकेशबल** के सम्बन्ध में वर्णन है। हरिकेश चाण्डाल-कुल में उत्पन्न हुए थे। किन्तु तप के दिव्य प्रभाव से वे देवताओं के द्वारा भी वन्दनीय बन गये थे। प्रस्तुत 'अध्ययन' में दान के लिए सुपात्र कौन है? इस सम्बन्ध में कहा है–"जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह की प्रधानता है, वह दान का पात्र नहीं है। स्नान के सम्बन्ध में भी चिन्तन किया गया है। हरिकेश मुनि ने ब्राह्मणों से कहा–"बाह्य स्नान से आत्म-शुद्धि नहीं होती, क्योंकि वैदिक परम्परा में जल-स्नान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था।" हरिकेशबल मुनि से पूछा गया–"आपका जलाशय कौन-सा है, शान्तितीर्थ कौन-सा है, आप कहाँ पर स्नान कर कर्मरज को धोते हैं?" मुनि ने कहा–"अकलुषित एवं आत्मा के प्रसन्न लेश्या वाला धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्तितीर्थ है। जहाँ पर स्नान कर मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्मरज का त्याग करता हूँ। यह स्नान कुशल पुरुषों द्वारा इष्ट है। यह महास्नान है, अतः ऋषियों के लिए प्रशस्त है। इस धर्म-नद में स्नान किये हुए महर्षि विमल विशुद्ध होकर उत्तम गति (मुक्ति) को प्राप्त हुए हैं। निर्ग्रन्थ परम्परा में आत्म-शुद्धि के लिए बाह्य स्नान को स्थान नहीं दिया गया है। एकदण्डी, त्रिदण्डी परिव्राजक स्नानशील और शुचिवादी थे।[१२४] आचार्य संघदासगणी ने त्रिदण्डी परिव्राजक को श्रमण कहा है।[१२५] आचार्य शीलांक ने भी उसे श्रमण माना है।[१२६] आचार्य वट्टकेर ने तापस, परिव्राजक, एकदण्डी, त्रिदण्डी आदि को श्रमण कहा है।[१२७] ये श्रमण जल-स्नान को महत्त्व देते थे, किन्तु निर्ग्रन्थ परम्परा ने स्नान को अनाचीर्ण कहा है। बौद्ध परम्परा में पहले स्नान का निषेध नहीं था। बौद्ध भिक्षु नदियों में स्नान करते थे। एक बार बौद्ध

भिक्षु 'तपोदा' नदी में स्नान कर रहे थे। राजा श्रेणिय बिम्बिसार वहाँ स्नान के लिए पहुँचे। भिक्षुओं को स्नान करते देखकर वे एक ओर रहकर प्रतीक्षा करते रहे। रात्रि होने पर भी भिक्षु स्नान करते रहे। भिक्षुओं के जाने के बाद श्रेणिय बिम्बिसार ने स्नान किया। नगर के द्वार बन्द हो चुके थे। अतः राजा को वह रात बाहर ही बितानी पड़ी। प्रातः गन्ध-विलेपन कर राजा बुद्ध के पास पहुँचा। तथागत ने पूछा–"आज इतने शीघ्र गन्ध-विलेपन कैसे हुआ?" राजा ने सारी बात कही। बुद्ध ने राजा को प्रसन्न कर रवाना किया। तथागत बुद्ध ने भिक्षुओं को बुलाकर कहा–"तुम राजा के देखने के पश्चात् भी स्नान करते रहे, यह ठीक नहीं किया।" उन्होंने नियम बनाया–"जो भिक्षु पन्द्रह दिन से पूर्व स्नान करेगा, उसे 'पाचित्तिय' दोष लगेगा।" गर्मी के दिनों में पहनने तथा शयन करने के वस्त्र पसीने से गन्दे होने लगे। तब बुद्ध ने कहा–"गर्मी के दिनों में पन्द्रह दिन के अन्दर भी स्नान किया जा सकता है।" रुग्णता तथा वर्षा-आँधी के समय में भी स्नान करने की छूट दी गई।[१२८] भगवान महावीर ने साधुओं के लिए प्रत्येक परिस्थिति में स्नान करने का स्पष्ट निषेध किया। स्नान के सम्बन्ध में कोई अपवाद नहीं रखा। उत्तराध्ययन,[१२९] आचारचूला,[१३०] सूत्रकृतांग[१३१] आदि में श्रमणों के लिए स्नान करने का वर्जन है। श्रमण भगवान महावीर के समय कितने ही चिन्तक प्रातः स्नान करने से ही मोक्ष मानते थे।[१३२] भगवान ने स्पष्ट शब्दों में उसका विरोध करते हुए कहा–"स्नान करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं है।[१३३] जो जल-स्पर्श से ही मुक्ति मानते हैं, वे मिथ्यात्वी हैं। यदि जल-स्नान से कर्ममल नष्ट होता है तो पुण्य-फल भी नष्ट होगा, अतः यह धारणा भ्रान्त है।

प्रस्तुत अध्ययन में हिंसात्मक यज्ञ की निरर्थकता भी सिद्ध की है। यज्ञ वैदिक संस्कृति की प्रमुख मान्यता रही है। वैदिक दृष्टि से यज्ञ की उत्पत्ति का मूल विश्व का आधार है। पापों के नाश के लिए, शत्रुओं के संहार के लिए, विपत्तियों के निवारण के लिए, राक्षसों के विध्वंस के लिए, व्याधियों के परिहार के लिए यज्ञ आवश्यक है। यज्ञ से सुख, समृद्धि और अमरत्व प्राप्त होता है। ऋग्वेद में कहा है–यज्ञ इस भुवन की उत्पत्ति करने वाले संसार की नाभि है। देव तथा ऋषिगण यज्ञ से ही उत्पन्न हुए हैं। यज्ञ से ही ग्राम, अरण्य और पशुओं की सृष्टि हुई है। यज्ञ ही देवों का प्रमुख एवं प्रथम धर्म है।[१३४] जैन और बौद्ध परम्परा ने यज्ञ का विरोध किया। उत्तराध्ययन के नवमें, बारहवें, चौदहवें और पच्चीसवें अध्ययनों में यज्ञ का विरोध इसलिए किया है

कि उसमें जीवों की हिंसा होती है। वह धर्म नहीं अपितु पाप है। साथ ही वास्तविक आध्यात्मिक यज्ञ का स्वरूप भी इन अध्ययनों में स्पष्ट किया गया है। उस समय निर्ग्रन्थ श्रमण यज्ञ के बाड़ों में भिक्षा के लिए जाते थे और यज्ञ की व्यर्थता बताकर आत्मिक यज्ञ की सफलता का प्रतिपादन करते थे।[१३५] तथागत बुद्ध भिक्षुसंघ के साथ यज्ञ-मण्डप में गये थे। उन्होंने अल्प सामग्री के द्वारा महान् यज्ञ का प्रतिपादन किया। उन्होंने 'कूटदन्त' ब्राह्मण को पाँच महाफलदायी यज्ञ बताये थे। वे ये हैं–(१) दानयज्ञ, (२) त्रिशरणयज्ञ, (३) शिक्षापदयज्ञ, (४) शीलयज्ञ, तथा (५) समाधियज्ञ।[१३६]

इस तरह बारहवें अध्ययन में श्रमण-संस्कृति की दृष्टि से विपुल सामग्री है। प्रस्तुत कथा प्रकारान्तर से बौद्ध साहित्य में भी आई है। उस कथा का सारांश इस प्रकार है–वाराणसी का मंडव्यकुमार प्रतिदिन सोलह सहस्र ब्राह्मणों को भोजन प्रदान करता था। एक बार मातंग पण्डित हिमालय के आश्रम से भिक्षा के लिए वहाँ आया। उसके मलिन और जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को देखकर उसे वहाँ से लौट जाने को कहा गया। मातंग पण्डित ने मंडव्य को उपदेश देकर दान-क्षेत्र की यथार्थता प्रतिपादित की। मंडव्य के साथियों ने मातंग को खूब पीटा। नगर के देवताओं ने क्रुद्ध होकर ब्राह्मणों की दुर्दशा की। श्रेष्ठी-कन्या 'दिट्ठमंगला' वहाँ पर आई। उसने वहाँ की स्थिति देखी। उसने स्वर्ण-कलश और प्याले लेकर मातंग पण्डित से जाकर क्षमायाचना की। मातंग पण्डित ने ब्राह्मणों को ठीक होने का उपाय बताया। दिट्ठमंगला ने ब्राह्मणों को दान-क्षेत्र की यथार्थता बतलाई।[१३७]

उत्तराध्ययन के बारहवें अध्ययन की अनेक गाथाओं का ही रूप **मातंग** जातक की अनेक गाथाओं में ज्यों का त्यों मिलता है।[१३८] डॉ. घाटगे का मानना है कि बौद्ध परम्परा की कथावस्तु विस्तार के साथ लिखी गई है। उसमें अनेक विचारों का सम्मिश्रण हुआ है। जबकि जैन परम्परा की कथावस्तु में अत्यन्त सरलता है तथा हृदय को छूने की विशेषता रही हुई है। इससे यह स्पष्ट है कि बौद्ध कथावस्तु से जैन कथावस्तु प्राचीन है। मातंग जातक में ब्राह्मणों के प्रति तीव्र रोष व्यक्त किया गया है। ब्राह्मणों को अपराध हो जाने से झूठन खाने के लिए उत्प्रेरित करना और उन्हें धोखा देना, ये ऐसे तथ्य हैं जो साम्प्रदायिक भावना के प्रतीक हैं।[१३९] पर जैन कथा में मानवता और सहानुभूति रही हुई है।[१४०]

चित्त और संभूत

तेरहवें अध्ययन में चित्त और संभूत के पारस्परिक सम्बन्ध और विसम्बन्ध का वर्णन है। इसलिए इस अध्ययन का नाम निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने 'चित्तसंभूतीय' लिखा है। ब्रह्मदत्त की उत्पत्ति से अध्ययन का प्रारम्भ होता है। व्याख्या-साहित्य में सम्पूर्ण कथा विस्तार के साथ दी गई है। चित्त और संभूत पूर्वभव में भाई थे। चित्त का जीव पुरिमताल नगर में सेठ का पुत्र हुआ और मुनि बना। संभूत का जीव ब्रह्म राजा का पुत्र ब्रह्मदत्त बना। चित्त का जीव जो मुनि हो गया था, ब्रह्मदत्त को संसार की असारता बताकर श्रामण्यधर्म स्वीकार करने के लिए प्रेरणा देता है पर ब्रह्मदत्त भोगों में अत्यन्त आसक्त था। अतः उसे उपदेश प्रिय नहीं लगा। पाँचवीं, छठी और सातवीं गाथा में उनके पूर्व-जन्मों का उल्लेख हुआ है। आचार्य नेमिचन्द्र ने सुखबोधावृत्ति में उनके पूर्व के पाँच भवों का विस्तार से वर्णन किया है।[१४१]

बौद्ध जातक साहित्य में भी यह कथा प्रकारान्तर से मिलती है। तथागत बुद्ध ने जन्म-जन्मान्तरों तक परस्पर मैत्रीभाव रहता है, यह बताने के लिए यह कथा कही थी। उज्जयिनी के बाहर चाण्डाल ग्राम था। बोधिसत्व ने भी वहाँ जन्म ग्रहण किया था और दूसरे एक प्राणी ने भी वहाँ जन्म लिया था। उनमें से एक का नाम चित्त और दूसरे का नाम संभूत था। वहाँ पर उनके जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन है। उनके तीन पूर्वभवों का भी उल्लेख है जो इस प्रकार है–

(१) नरेञ्जरा सरिता के तट पर हरिणी की कोख से उत्पन्न होना।

(२) नर्मदा नदी के किनारे बाज के रूप में उत्पन्न होना।

(३) चित्त का जीव कौशाम्बी में पुरोहित का पुत्र और संभूत का जीव पांचाल राजा के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ।[१४२]

दोनों भाई परस्पर मिलते हैं। चित्त ने संभूत को उपदेश दिया किन्तु संभूत का मन भोगों से मुड़ा नहीं। अतः चित्त ने उसके सिर पर धूल फेंकी और वहाँ से हिमालय की ओर प्रस्थित हो गया। राजा संभूत को वैराग्य हुआ। वह भी उसके पीछे-पीछे हिमालय की ओर चला। चित्त ने उसे योग-साधना की विधि बताई। दोनों ही योग की साधना कर ब्रह्म देवलोक में उत्पन्न हुए।

उत्तराध्ययन के प्रस्तुत अध्ययन की गाथाएँ चित्त-संभूत जातक के अन्दर प्रायः मिलती-जुलती हैं। उत्तराध्ययन की कथा विस्तृत है। उसमें अनेक अवान्तर कथाएँ भी हैं। वे सारी कथाएँ ब्रह्मदत्त से सम्बन्धित हैं। जैन दृष्टि से

चित्त मुनिधर्म की आराधना कर एवं सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर मुक्त होते हैं। ब्रह्मदत्त कामभोगों में आसक्त बनकर नरकगति को प्राप्त होता है। बौद्ध परम्परा की दृष्टि से संभूत को ब्रह्मलोकगामी बताया गया है। डॉ. घाटगे का अभिमत है कि जातक का पद्य-विभाग गद्य-विभाग से अधिक प्राचीन है। गद्य-भाग बाद में लिखा गया है। इस तथ्य की पुष्टि भाषा और तर्क के आधार से होती है। तथ्यों के आधार से यह भी सिद्ध है कि उत्तराध्ययन की कथावस्तु प्राचीन है। जातक का गद्य-भाग उत्तराध्ययन की रचनाकाल से बहुत बाद में लिखा गया है। उसमें पूर्वभवों का सुन्दर संकलन है, किन्तु जैन कथावस्तु में वह छूट गया है।[१४३]

उत्तराध्ययन के तेरहवें अध्ययन में जो गाथाएँ आई हैं, उसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति महाभारत के शान्तिपर्व और उद्योगपर्व में भी हुई है। हम यहाँ उत्तराध्ययन की गाथाओं के साथ उन पद्यों को भी दे रहे हैं, जिससे प्रबुद्ध पाठकों को सहज रूप से तुलना करने में सहूलियत हो। देखिए–

"जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिंसहरा भवंति॥"

–उत्तराध्ययन १३/२

तुलना कीजिए–

"तं पुत्तपशुसम्पन्नं, व्यासक्तमनसं नरम्।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव, मृत्युरादाय गच्छति॥
सचिन्वानकमेवैनं, कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवादाय, मृत्युरादाय गच्छति॥" –शान्तिपर्व १७५/१८-१९

"न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं॥"

–उत्तराध्ययन १३/२३

तुलना कीजिए–

"मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या, उत्क्षिप्य राजन् ! स्वगृहान्निर्हरन्ति।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति, चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति॥"

–उद्योगपर्व ४०/१५

"अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं, कर्मान्वेति स्वयं कृतम्।"

–वही ४०/१८

"चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुन्दर पावगं वा॥"

–उत्तराध्ययन १३/२४

तुलना कीजिए–

"अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते, वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून्।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र, पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः॥"

–उद्योगपर्व ४०/१७

"तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से, चिईगयं डहिय उ पावगेणं।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य, दायारमन्नं अणुसंकमन्ति॥"

–उत्तराध्ययन १३/२५

तुलना कीजिए–

"उत्सृज्य विनिवर्तन्ते, ज्ञातयः सुहृदः सुताः।
अपुष्पानफलान् वृक्षान्, यथा तात ! पतत्रिणः॥" –उद्योगपर्व ४०/१७

"अनुगम्य विनाशान्ते, निवर्तन्ते ह बान्धवाः।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं, सुहृदस्तथा॥" –शान्तिपर्व ३२१/७४

"अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ, न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति, दुमं जहा खीणफलं व पक्खी॥"

–उत्तराध्ययन १३/३१

तुलना कीजिए–

"अच्चयन्ति अहोरत्ता ..... ।
.....॥" –थेरगाथा १४८

सरपेण्टियर ने प्रस्तुत अध्ययन की तीन गाथाओं को अर्वाचीन माना है, किन्तु उसके लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है। उत्तराध्ययन के चूर्णि व अन्य व्याख्या-साहित्य में कहीं पर भी इस सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों ने ऊहापोह नहीं किया है। ये तीनों गाथाएँ प्रकरण की दृष्टि से भी उपयुक्त प्रतीत होती हैं, क्योंकि इन गाथाओं का सम्बन्ध आगे की गाथाओं से है। यह सत्य है कि प्रारम्भ की तीन गाथाएँ आर्या छन्द में निबद्ध हैं तो आगे की अन्य गाथाएँ अनुष्टुप्,

उपजाति प्रभृति विभिन्न छन्दों में निर्मित हैं। किन्तु छन्दों की पृथक्ता के कारण उन गाथाओं को प्रक्षिप्त और अर्वाचीन मानना अनुपयुक्त है।

चौदहवें अध्ययन में राजा इषुकार, महारानी कमलावती, भृगु पुरोहित, यशा पुरोहित-पत्नी तथा भृगु पुरोहित के दोनों पुत्र, इन छह पात्रों का वर्णन है। पर राजा की प्रधानता होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'इषुकारीय' रखा गया है, ऐसा निर्युक्तिकार का मंतव्य है।[१४४]

श्रमण भगवान महावीर के युग में अनेक विचारकों की यह धारणा थी कि बिना पुत्र के सद्गति नहीं होती।[१४५] स्वर्ग सम्प्राप्त नहीं होता। अतः प्रत्येक व्यक्ति को गृहस्थधर्म का पालन करना चाहिए जिससे सन्तानोत्पत्ति होगी और लोक तथा परलोक दोनों सुधरेंगे। परलोक को सुखी बनाने के लिए पुत्र-प्राप्ति हेतु विविध प्रयत्न किये जाते थे। भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में इस मान्यता का खण्डन किया। उन्होंने कहा–स्वर्ग और नरक की उपलब्धि सन्तान से नहीं होती। यहाँ तक कि माता-पिता, भ्राता, पुत्र, स्त्री आदि कोई भी कर्मों के फलविपाक से बचाने में समर्थ नहीं हैं। सभी को अपने ही कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इस कथा का चित्रण प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है।

आचार्य भद्रबाहु ने प्रस्तुत अध्ययन में आये हुए सभी पात्रों के पूर्वभव, वर्तमान भव और निर्वाण का संक्षेप में वर्णन किया है। इस अध्ययन में यह भी बताया गया है कि माता-पिता मोह के वशीभूत होकर पुत्रों को मिथ्या बात कहते हैं–जैन श्रमण बालकों को उठाकर ले जाते हैं। वे उनका माँस खा जाते हैं। किन्तु जब बालकों को सही स्थिति का परिज्ञान होता है तो वे श्रमणों के प्रति आकर्षित ही नहीं होते किन्तु श्रमणधर्म को स्वीकार करने को उद्यत हो जाते हैं। इस अध्ययन में पिता और पुत्र का मधुर संवाद है। इस संवाद में पिता ब्राह्मण-संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहा है तो पुत्र श्रमण-संस्कृति का। ब्राह्मण-संस्कृति पर श्रमण-संस्कृति की विजय बताई गई है। उनकी मौलिक मान्यताओं की चर्चा है। पुरोहित भी त्याग-मार्ग को ग्रहण करता है और उसकी पत्नी आदि भी।

प्रस्तुत अध्ययन का गहराई से अध्ययन करने पर यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग में यदि किसी का कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था तो उसकी सम्पत्ति का अधिकारी राजा होता था। भृगु पुरोहित का परिवार दीक्षित हो गया तो राजा ने उसकी सम्पत्ति पर अधिकार करना चाहा, किन्तु महारानी

कमलावती ने राजा से निवेदन किया–जैसे वमन हुए पदार्थों को खाने वाले व्यक्ति की प्रशंसा नहीं होती, वैसे ही ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को ग्रहण करने वाले की प्रशंसा नहीं हो सकती। वह भी वमन खाने के सदृश है। आचार्य भद्रबाहु ने प्रस्तुत अध्ययन के राजा का नाम 'सीमन्धर' दिया है[१४६] तो वादीवैताल शान्तिसूरि ने लिखा है–'इषुकार' यह राज्यकाल का नाम है तो 'सीमन्धर' राजा का मौलिक नाम होना सम्भव है।[१४७]

हस्तीपाल जातक बौद्ध-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमें कुछ परिवर्तन के साथ यह कथा उपलब्ध है। हस्तीपाल जातक में कथावस्तु के आठ पात्र हैं। राजा ऐसुकारी, पटरानी, पुरोहित, पुरोहित की पत्नी, प्रथम पुत्र हस्तीमल, द्वितीय पुत्र अश्वपाल, तृतीय पुत्र गोपाल, चौथा पुत्र अजपाल, ये सब मिलाकर आठ पात्र हैं। ये चारों पुत्र न्यग्रोध वृक्ष के देवता के वरदान से पुरोहित के पुत्र होते हैं। चारों प्रव्रजित होना चाहते हैं। पिता उन चारों पुत्रों की परीक्षा करता है। चारों पुत्रों के साथ पिता का संवाद होता है। चारों पुत्र क्रमशः पिता को जीवन की नश्वरता, संसार की असारता, मृत्यु की अविकलता और कामभोगों की मोहकता का विश्लेषण करते हैं। पुरोहित भी प्रव्रज्या ग्रहण करता है। उसके बाद ब्राह्मणी प्रव्रज्या लेती है। अन्त में राजा और रानी भी प्रव्रजित हो जाते हैं।

सरपेण्टियर की दृष्टि से उत्तराध्ययन की कथा जातक के गद्य-भाग से अत्यधिक समानता लिए हुए है। वस्तुतः जातक से **जैन कथा प्राचीन** होनी चाहिए।[१४८] डॉ. घाटगे का मन्तव्य है कि जैन कथावस्तु जातक कथा से अधिक व्यवस्थित, स्वाभाविकता और यथार्थता लिए हुए है। जैन कथावस्तु से जातक में संगृहीत कथावस्तु अधिक पूर्ण है। उसमें पुरोहित के चारों पुत्रों के जन्म का विस्तृत वर्णन है। जातक में पुरोहित के चार पुत्रों का उल्लेख है, तो उत्तराध्ययन में केवल दो का। उत्तराध्ययन में राजा और पुरोहित के बीच किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, जबकि जातक में पुरोहित और राजा का सम्बन्ध है। पुरोहित राजा के परामर्श से ही पुत्रों की परीक्षा लेता है। स्वयं राजा भी उनकी परीक्षा लेने में सहयोग करता है। जैन कथा के अनुसार पुरोहित का कुटुम्ब दीक्षित होने पर राजा सम्पत्ति पर अधिकार करता है। उसका प्रभाव महारानी कमलावती पर पड़ता है और वह श्रमणधर्म को ग्रहण करना चाहती है तथा राजा को भी दीक्षित होने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। जैन कथावस्तु में जो ये तथ्य हैं, वे बहुत ही स्वाभाविक और यथार्थ हैं। जातक कथावस्तु में

ऐसा नहीं हो पाया है। जातक कथा में न्यग्रोध वृक्ष के देवता के द्वारा पुरोहित को चार पुत्रों का वरदान मिलता है परन्तु राजा को एक पुत्र का वरदान भी नहीं मिलता है, जबकि राज्य के संरक्षण के लिए उसे एक पुत्र की अत्यधिक आवश्यकता है। इन्हीं तथ्यों के आधार से डॉ. घाटगे उत्तराध्ययन की कथावस्तु को प्राचीन और व्यवस्थित मानते हैं।[१४९]

प्रस्तुत अध्ययन की कथावस्तु महाभारत के शान्तिपर्व, अध्याय १७५ तथा २७७ से मिलती-जुलती है। महाभारत के दोनों अध्यायों का प्रतिपाद्य विषय एक है। केवल नामों में अन्तर है। दोनों अध्यायों में महाराजा युधिष्ठिर भीष्म पितामह से कल्याण-मार्ग के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत करते हैं। उत्तर में भीष्म पितामह प्राचीन इतिहास का एक उदाहरण देते हैं, जिसमें एक ब्राह्मण और मेधावी पुत्र का मधुर संवाद है। पिता ब्राह्मण-पुत्र मेधावी से कहता है–"वेदों का अध्ययन करो, गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर पुत्र पैदा करो, क्योंकि उससे पितरों की सद्गति होगी। यज्ञों को करने के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट होना।" उत्तर में मेधावी ने कहा–"संन्यास संग्रहण करने के लिए काल की मर्यादा अपेक्षित नहीं है। अत्यन्त वृद्धावस्था में धर्म नहीं हो सकता। धर्म के लिए मध्यम वय ही उपयुक्त है। किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। यज्ञ करना कोई आवश्यक नहीं है। जिस यज्ञ में पशुओं की हिंसा होती है, वह तामस यज्ञ है। तप, त्याग और सत्य ही शान्ति का राजमार्ग है। सन्तान के द्वारा कोई पार नहीं उतरता। धन, जन परित्रायक नहीं हैं, इसलिए आत्मा की अन्वेषणा की जाये।

उत्तराध्ययन और महाभारत के पद्यों में अर्थसाम्य ही नहीं शब्दसाम्य भी है। शब्दसाम्य को देखकर जिज्ञासुओं को आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। विस्तारभय से हम यहाँ उत्तराध्ययन की गाथाओं और महाभारत के श्लोकों की तुलना प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। संक्षेप में संकेत मात्र दे रहे हैं।[१५०] साथ ही उत्तराध्ययन और जातक कथा में आये हुए कुछ पद्यों का भी यहाँ संकेत सूचित कर रहे हैं, जिससे पाठकों को तुलनात्मक अध्ययन करने में सहूलियत हो।[१५१]

प्रस्तुत अध्ययन की ४४ और ४५वीं गाथा में जो वर्णन है, वह वर्णन जातक के १८ श्लोक में दी गई कथा से जान सकते हैं। वह प्रसंग इस प्रकार है–जब पुरोहित का सम्पूर्ण परिवार प्रव्रजित हो जाता है, राजा उसका सारा

धन मँगवाता है। रानी को परिज्ञात होने पर उसने राजा को समझाने के लिए एक उपाय किया। राजप्रांगण में कसाई के घर से माँस मँगवाकर चारों ओर बिखेर दिया। सीधे मार्ग को छोड़कर सभी तरफ जाल लगवा दिया। माँस को देखकर दूर-दूर से गिद्ध आये। उन्होंने भरपेट माँस खाया। जो गिद्ध समझदार थे, उन्होंने सोचा–'हम माँस खाकर बहुत ही भारी हो चुके हैं, जिससे हम सीधे नहीं उड़ सकेंगे।' उन्होंने खाया हुआ माँस वमन के द्वारा बाहर निकाल दिया। हल्के होकर मार्ग से उड़ गये, वे जाल में नहीं फँसे। पर जो गिद्ध बुद्धू थे, वे प्रसन्न होकर गिद्धों के द्वारा वमित माँस को खाकर अत्यधिक भारी हो गये। वे गिद्ध सीधे उड़ नहीं सकते थे। टेढ़े-मेढ़े उड़ने से वे जाल में फँस गये। उन फँसे हुए गिद्धों में से एक गिद्ध महारानी के पास लाया गया। महारानी ने राजा से निवेदन किया–"आप भी गवाक्ष से राजप्रांगण में गिद्धों का दृश्य देखें। जो गिद्ध खाकर वमन कर रहे हैं, वे अनन्त आकाश में उड़े जा रहे हैं और जो खाकर वमन नहीं कर रहे हैं, वे मेरे चंगुल में फँस गये हैं।"[१५२]

सरपेण्टियर ने प्रस्तुत अध्ययन की ४९ से ५३वीं गाथाओं को मूल नहीं माना है। उनका अभिमत है–ये पाँचों गाथाएँ मूलकथा से सम्बन्धित नहीं हैं। सम्भव है जैन कथाकारों ने बाद में निर्माण कर यहाँ रखा हो।[१५३] पर उसका उन्होंने कोई ठोस आधार नहीं दिया है।

प्रस्तुत कथानक में आये हुए संवाद से मिलता-जुलता वर्णन मार्कण्डेयपुराण में भी प्राप्त होता है। वहाँ पर जैमिनि ने पक्षियों से प्राणियों के जन्म आदि के सम्बन्ध में विविध जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की हैं। उन जिज्ञासाओं के समाधान में उन्होंने एक संवाद प्रस्तुत किया–भार्गव ब्राह्मण ने अपने पुत्र धर्मात्मा सुमति को कहा–"वत्स ! पहले वेदों का अध्ययन करके गुरु की सेवा-शुश्रूषा कर, गार्हस्थ्य जीवन सम्पन्न कर, यज्ञ आदि कर। फिर पुत्रों को जन्म देकर संन्यास ग्रहण करना, उससे पहले नहीं।"[१५४] सुमति ने पिता से निवेदन किया–"पिताजी ! जिन क्रियाओं को करने का आप मुझे आदेश दे रहे हैं, वे क्रियाएँ मैं अनेक बार कर चुका हूँ। मैंने विविध शास्त्रों का व शिल्पों का अध्ययन भी अनेक बार किया है। मुझे यह अच्छी तरह से परिज्ञात हो गया है कि मेरे लिए वेदों का क्या प्रयोजन है ?[१५५] मैंने इस विराट् विश्व में बहुत ही परिभ्रमण किया है। अनेक माता-पिता के साथ मेरा सम्बन्ध हुआ। संयोग और वियोग की घड़ियाँ भी देखने को मिलीं। विविध प्रकार के सुखों और

दुःखों का अनुभव किया। इस प्रकार जन्म-मरण को प्राप्त करते-करते मुझे ज्ञान की अनुभूति हुई है। पूर्व-जन्मों को मैं स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ। मोक्ष में सहायक जो ज्ञान है वह मुझे प्राप्त हो चुका है। उस ज्ञान की प्राप्ति के बाद यज्ञ-याग, वेदों की क्रिया मुझे संगत नहीं लगती। अब मुझे आत्म-ज्ञान हो चुका है और उसी उत्कृष्ट ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति होगी।''[१५६]

भार्गव ने कहा–''वत्स ! तू ऐसी बहकी-बहकी बातें कर रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ऋषि या देव ने तुझे शाप दिया है, जिससे यह तेरी स्थिति हुई है।''[१५७]

सुमति ने कहा–''तात ! मैं पूर्व-जन्म में ब्राह्मण था। मैं प्रतिपल-प्रतिक्षण परमात्मा के ध्यान में तल्लीन रहता था, जिससे आत्म-विद्या का चिन्तन मुझमें पूर्ण विकसित हो चुका था। मैं सदा साधना में रत रहता था। मुझे अतीत के लाखों जन्मों की स्मृति हो आई। धर्मत्रयी में रहे हुए मानव को जाति-स्मरण ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। मुझे यह आत्म-ज्ञान पहले से ही प्राप्त है। इसलिए अब मैं आत्म-मुक्ति के लिए प्रयास करूँगा।''[१५८] उसके बाद सुमति अपने पिता भार्गव को मृत्यु का रहस्य बताता है। इस प्रकार इस संवाद में वेदज्ञान की निरर्थकता बताकर आत्म-ज्ञान की सार्थकता सिद्ध की है।

प्रस्तुत संवाद के सम्बन्ध में विण्टरनीत्ज का अभिमत है–यह बहुत कुछ सम्भव है–यह संवाद जैन और बौद्ध परम्परा का रहा होगा। उसके बाद उसे महाकाव्य या पौराणिक साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया हो ![१५९]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तराध्ययन के चौदहवें अध्ययन में जो वर्णन है, उसकी प्रतिच्छाया वैदिक और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में भी प्राप्त है। उदाहरण के रूप में देखिए–

''अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते पडिट्ठप्प गिहंसि जाया !
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहि, आरण्णगा होह मुणी पसत्था॥''

–उत्तराध्ययन १४/९

तुलना कीजिए–

''वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र ! पुत्रानिच्छेत् पावनार्थ पितृणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो, वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत्॥''

–शान्तिपर्व १७५/६, २७७/६; जातक ५०९/४

"वेया अहीया न भवन्ति ताणं, भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं, को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं॥"

–उत्तराध्ययन १४/१२

तुलना कीजिए–

"वेदा न सच्चा न च वित्तलाभो, न पुत्तलाभेन जरं विहन्ति।
गन्धे रसे मुच्चनं आहु सन्तो, सकम्मुना होति फलूपपत्ति॥"

–जातक ५०९/६

"इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए ?॥"

–उत्तराध्ययन १४/१५

तुलना कीजिए–

"इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम्।
एवमीहासुखासक्तं, मृत्युरादाय गच्छति॥" –शान्तिपर्व १७५/२०

विस्तारभय से हम उन सभी गाथाओं का अन्य ग्रन्थों के आलोक में तुलनात्मक अध्ययन नहीं दे रहे हैं। विशेष जिज्ञासु लेखक का 'जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा' ग्रन्थ में 'तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक निबन्ध देखें।

भिक्षु : एक विश्लेषण

पन्द्रहवें अध्ययन में भिक्षुओं के लक्षणों का निरूपण है। जिसकी आजीविका केवल भिक्षा हो, वह 'भिक्षु' कहलाता है। सच्चा सन्त भी भिक्षा से आहार प्राप्त करता है तो पाखण्डी साधु भी भिक्षा से ही आहार प्राप्त करता है। इसीलिए दोनों ही प्रकार के भिक्षुओं की संज्ञा 'भिक्षु' है। जैसे स्वर्ण अपने सद्‌गुणों के कारण कृत्रिम स्वर्ण से पृथक् होता है वैसे ही सद् भिक्षु अपने सद्‌गुणों के कारण असद् भिक्षु से पृथक् होता है। स्वर्ण को जब कसौटी पर कसते हैं तो वह खरा उतरता है। कृत्रिम स्वर्ण स्वर्ण के सदृश दिखाई तो देता है किन्तु कसौटी पर कसने से अन्य गुणों के अभाव में वह खरा नहीं उतरता है। इसीलिए वह शुद्ध सोना नहीं है। केवल नाम और रूप से सोना सोना नहीं होता; वैसे ही केवल नाम और वेश से कोई सच्चा भिक्षु नहीं होता। सद्‌गुणों से ही जैसे सोना सोना होता है वैसे ही सद्‌गुणों से भिक्षु भी ! संवेग, निर्वेद, विवेक,

सुशील, संसर्ग, आराधना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, शान्ति, मार्दव, आर्जव, अदीनता, तितिक्षा, आवश्यक, शुद्धि, ये सभी सच्चे भिक्षु के लिंग हैं। भिक्षु का निरुक्त है–**जो भेदन करे वह भिक्षु है।** कुल्हाड़ी से वृक्ष का भेदन करना द्रव्य-भिक्षु का लक्षण हो सकता है, भाव-भिक्षु तो **तपरूपी कुल्हाड़ी से कर्मों का भेदन** करता है। जो केवल भीख माँगकर खाता है किन्तु दारायुक्त है, त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, मन, वचन और काया से सावद्य प्रवृत्ति करता है, वह द्रव्य-भिक्षु है। केवल भिक्षाशील व्यक्ति ही भिक्षु नहीं है। किन्तु जो अहिंसक जीवन जीता है, संयममय जीवन यापन करता है, वह भिक्षु है। इससे यह स्पष्ट है कि भिखारी अलग है और भिक्षु अलग है।

भिक्षु को प्रत्येक वस्तु याचना करने पर मिलती है। मनोवांछित वस्तु मिलने पर वह प्रसन्न नहीं होता और न मिलने पर अप्रसन्न नहीं होता। वह तो दोनों ही स्थितियों में समभाव से रहता है। श्रमण आवश्यकता की सम्पूर्ति के लिए किसी के सामने हीन भावना से हाथ नहीं पसारता। वह वस्तु की याचना तो करता है किन्तु आत्म-गौरव की क्षति करके नहीं। वह महान् व्यक्तियों की न तो चापलूसी करता है और न छोटे व्यक्तियों का तिरस्कार। न धनवानों की प्रशंसा करता है और न निर्धनों की निन्दा। वह सभी के प्रति समभाव रखता है। इस प्रकार समत्व की साधना ही भिक्षु के आचार-दर्शन का सार है। फ्रायड का मन्तव्य है–चैतसिक जीवन और सम्भवतया स्नायविक जीवन की भी प्रमुख प्रवृत्ति है–आन्तरिक उद्दीपकों के तनाव को नष्ट कर एवं साम्यावस्था को बनाये रखने के लिए सदैव प्रयासशील रहना ![१६०]

प्रस्तुत अध्ययन में भिक्षु के जीवन का शब्दचित्र प्रस्तुत किया गया है। इससे उस युग की अनेक दार्शनिक व सामाजिक जानकारियाँ भी प्राप्त होती हैं। उस समय कितने ही श्रमण व ब्राह्मण मंत्रविद्या का प्रयोग करते थे, चिकित्साशास्त्र का उपयोग करते थे। भगवान महावीर ने भिक्षुओं के लिए उसका निषेध किया। वमन, विरेचन और धूम्रनेत्र ये प्राचीन चिकित्सा-प्रणाली के अंग थे। धूम्रनेत्र का प्रयोग मस्तिष्क-सम्बन्धी रोगों के लिए होता था। आचार्य जिनदास के अभिमतानुसार रोग की आशंका और शोक आदि से बचने के लिए अथवा मानसिक आह्लाद के लिए धूप का प्रयोग किया जाता था।[१६१] आचार्य नेमिचन्द्र ने उत्तराध्ययन की बृहद्वृत्ति में धूम्र को 'मेनसिल' आदि से सम्बन्धित माना है।[१६२] चरक में 'मेनसिल' आदि के धूम्र को 'शिरोविरेचन' करने वाला माना है।[१६३] सुश्रुत के चिकित्सा-स्थान के

चालीसवें अध्याय में धूम्र का विस्तार से वर्णन है। सूत्रकृतांग में धूपन और धूम्रपान दोनों का निषेध है। 'विनयपिटक' के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि बौद्ध भिक्षु धूम्रपान करने लगे थे तब तथागत बुद्ध ने उन्हें धूम्रनेत्र की अनुमति दी।[१६४] उसके पश्चात् भिक्षु स्वर्ण, रौप्य आदि के धूम्रनेत्र रखने लगे।[१६५] इससे यह स्पष्ट है कि भिक्षु और संन्यासियों में धूम्रपान न करने के लिए धूम्रनेत्र रखने की प्रथा थी। पर भगवान महावीर ने श्रमणों के लिए इनका निषेध किया। वमन का अर्थ उल्टी करना–'मदन' फल आदि के प्रयोग से आहार को उल्टी के द्वारा बाहर निकालना है। इसे ऊर्ध्वविरेक कहा है।[१६६] अपानमार्ग के द्वारा स्नेह आदि का प्रक्षेप 'वस्तिकर्म' कहलाता है। चरक आदि में विभिन्न प्रकार के वस्तिकर्मों का वर्णन है।[१६७] जुलाब के द्वारा मल को दूर करना विरेचन है। इसे अधोविरेक भी कहा है।[१६८] उस युग में आजीवक आदि श्रमण छिन्नविद्या, स्वरविद्या, भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दण्ड, वास्तुविद्या, अंगविकार एवं स्वरविज्ञान विद्याओं से आजीविका करते थे, जिससे जन-जन का अन्तर्मानस आकर्षित होता था। साधना में विघ्नजनक होने से भगवान ने इनका निषेध किया।

ब्रह्मचर्य : एक अनुचिन्तन

सोलहवें अध्ययन में ब्रह्मचर्य-समाधि का निरूपण है। अनन्त, अप्रतिम, अद्वितीय, सहज आनन्द आत्मा का स्वरूप है। वासना विकृति है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है–विकृति से बचकर स्वरूपबोध प्राप्त करना। प्रश्नव्याकरणसूत्र में विविध उपमाओं के द्वारा ब्रह्मचर्य की महिमा और गरिमा गाई है। जो ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करता है वही समस्त व्रत, नियम, तप, शील, विनय, सत्य, संयम आदि की आराधना कर सकता है। ब्रह्मचर्य व्रतों का सरताज है, यहाँ तक कि ब्रह्मचर्य स्वयं भगवान है। ब्रह्मचर्य का अर्थ मैथुन-विरति या सर्वेन्द्रिय संयम है। सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों का सम्बन्ध मानसिक भूमिका से है, पर ब्रह्मचर्य के लिए दैहिक और मानसिक ये दोनों भूमिकाएँ आवश्यक हैं। इसीलिए ब्रह्मचर्य को समझने के लिए शरीरशास्त्र का ज्ञान भी जरूरी है।

मोह और शारीरिक स्थिति, ये दो अब्रह्म के मुख्य कारण हैं। शारीरिक दृष्टि से मनुष्य जो आहार करता है उससे रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य बनता है।[१६९] वीर्य सातवीं भूमिका में बनता है। उसके पश्चात् वह ओज रूप में शरीर में व्याप्त होता है। ओज केवल वीर्य का ही सार नहीं है,

वह सभी धातुओं का सार है। हमारे शरीर में अनेकों नाड़ियों में एक नाड़ी कामवाहिनी है। वह पैर के अँगूठे से लेकर मस्तिष्क के पिछले भाग तक है। विविध आसनों के द्वारा इस नाड़ी पर नियंत्रण किया जाता है। आहार से जो वीर्य बनता है, वह रक्त के साथ भी रहता है और वीर्याशय के अन्दर भी जाता है। जब वीर्याशय में वीर्य की मात्रा अधिक पहुँचती है तो वासनाएँ उभरती हैं। अतः ब्रह्मचारी के लिए यह कठिन समस्या है। क्योंकि जब तक जीवन है तब तक आहार तो करना ही पड़ता है। आहार से वीर्य का निर्माण होगा। वह वीर्याशय में जायेगा और पहले का वीर्य बाहर निकलेगा। वह क्रम सदा जारी रहेगा। इसीलिए भारतीय ऋषियों ने वीर्य को मार्गान्तरित करने की प्रक्रिया बताई है। मार्गान्तरित करने से वीर्य वीर्याशय में कम जाकर ऊपर सहस्रार चक्र में अधिक मात्रा में जाने से साधक ऊर्ध्वरेता बन सकता है। आगम साहित्य में साधकों के लिए घोर ब्रह्मचारी शब्द व्यवहृत हुआ है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में घोर ब्रह्मचारी उसे माना है जिसका वीर्य स्वप्न में भी स्खलित नहीं होता। स्वप्न में भी उसके मन में अशुभ संकल्प पैदा नहीं होते।

ब्रह्मचारी के लिए आहार का विवेक रखना आवश्यक है। अतिमात्रा में और प्रणीत आहार ये दोनों ही त्याज्य हैं। गरिष्ठ आहार का सरलता से पाचन नहीं होता, इसीलिए कब्ज होती है। कब्ज से कुवासनायें उत्पन्न होती हैं और उससे वीर्य नष्ट होता है। इसलिए उतना आहार करो जिससे पेट भारी न हो। मलावरोध से वायु का निर्माण होता है। जितना अधिक वायु का निर्माण होगा, वीर्य पर उतना ही अधिक दबाव पड़ेगा, जिससे ब्रह्मचर्य के पालन में कठिनता होगी। जननेन्द्रिय और मस्तिष्क ये दोनों वीर्य-व्यय के मार्ग हैं। भोगी तथा रोगी व्यक्ति कामवासना से ग्रस्त होकर तथा वायुविकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेन्द्रिय के माध्यम से करते हैं। योगी लोग वीर्य के प्रवाह को नीचे से ऊपर की ओर मोड़ देते हैं जिससे कामवासना घटती है। ऊपर की ओर प्रवाहित होने वाले वीर्य का व्यय मस्तिष्क में होता है। जननेन्द्रिय के द्वारा जो वीर्य व्यय होता है, वह अब्रह्मचर्य है। यदि वह सीमित मात्रा में व्यय होता है तो शरीर पर उतना प्रभाव नहीं होता पर मन में मोह उत्पन्न होने से आध्यात्मिक दृष्टि से हानि होती है।

जिस व्यक्ति की अब्रह्म के प्रति आसक्ति होती है, उसकी वृषण ग्रन्थियाँ रस, रक्त का उपयोग बहिःस्राव उत्पन्न करती हैं जिससे अन्तःस्राव उत्पन्न करने

वाले अवयव उससे वंचित रह जाते हैं। उनमें जो क्षमता आनी चाहिए, वह नहीं आ पाती। फलतः शरीर में विविध प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। इसी बात को आयुर्वेद के आचार्यों ने एक रूपक के माध्यम से स्पष्ट किया है। सात क्यारियों में से सातवीं क्यारी में बड़ा खड्डा हो और जल को बाहर निकलने के लिए छेद हो तो सारा जल उस गड्ढे में एकत्रित होगा। यही स्थिति अब्रह्म के कारण शुक्र क्षय की होती है। छहों रस शुक्र धातु की पुष्टि में लगते हैं। किन्तु अत्यन्त अब्रह्म के सेवन करने वाले का शुक्र पुष्ट नहीं होता जिसके फलस्वरूप अन्य धातुओं की पुष्टि नहीं हो पाती और शरीर में नाना प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं। इन्द्रियविजेता ही ब्रह्मचर्य का पालन कर पाता है। ब्रह्मचर्य के पालन से शरीर में अपूर्व स्थिरता, मन में स्थिरता, अपूर्व उत्साह और सहिष्णुता आदि सद्‌गुणों का विकास होता है।

कितने ही चिन्तकों का यह मानना है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य से शरीर और मन पर जैसा अनुकूल प्रभाव होना चाहिए, वह नहीं होता। उनके चिन्तन में आंशिक सच्चाई है। और वह यह है–जब ब्रह्मचर्य का पालन स्वेच्छा से न कर विवशता से किया जाता है, तन से तो ब्रह्मचर्य का पालन होता है, किन्तु मन में विकार भावनाएँ होने से वह ब्रह्मचर्य हानिप्रद होता है किन्तु जिस ब्रह्मचर्य में विवशता नहीं होती, आन्तरिक भावना से जिसका पालन किया जाता है, विकारी भावनाओं को उदात्त भावनाओं की ओर मोड़ दिया जाता है, उस ब्रह्मचर्य का तन और मन पर श्रेष्ठ प्रभाव पड़ता है।

जो लोग ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना चाहते हैं वे गरिष्ठ आहार व दर्पकर आहार ग्रहण न करें और मन पर भी नियंत्रण करें। जब कामवासना मस्तिष्क के पिछले भाग से उभरे तब उसके उभरते ही उस स्थान पर मन को एकाग्र कर शुभ संकल्प किया जाये तो वह उभार शान्त हो जायेगा। कामजनक अवयवों के स्पर्श से भी वासना उभरती है, इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन में ब्रह्मचर्य-समाधि के दश स्थानों का उल्लेख किया गया है।

स्थानांग और समवायांग में भी नौ गुप्तियों का वर्णन है। जो पाँचवाँ स्थान उत्तराध्ययन में बताया गया है वह स्थानांग और समवायांग में नहीं है। उत्तराध्ययन का 'दश समाधि-स्थान' वर्णन बड़ा ही मनोवैज्ञानिक है। शयन, आसन, कामकथा आदि ब्रह्मचर्य की साधना में विघ्नरूप हैं। इन विघ्नों के निवारण करने से ही ब्रह्मचर्य सम्यक् प्रकार से पालन किया जाता है।

आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार[१७०] में और पं. आशाधर जी[१७१] ने अनगारधर्मामृत में शील आराधना में विघ्न समुत्पन्न करने वाले दस कारण बताये हैं। उन सभी कारणों में प्रायः उत्तराध्ययन में निर्दिष्ट कारण ही हैं। कुछ कारण पृथक् भी हैं। इन सभी कारणों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि जैन आगम साहित्य तथा उसके पश्चात्वर्ती साहित्य में जिस क्रम से निरूपण हुआ है, वैसा शृंखलाबद्ध निरूपण वेद और उपनिषदों में नहीं हुआ है। दक्षस्मृति[१७२] में कहा गया है–मैथुन के स्मरण, कीर्तन, क्रीड़ा, देखना, गुह्य भाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रिया ये आठ प्रकार बताये गये हैं–इनसे अलग रहकर ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए।

त्रिपिटक साहित्य में ब्रह्मचर्य-गुप्तियों का जैन साहित्य की तरह व्यवस्थित क्रम प्राप्त नहीं है किन्तु कुछ छुटपुट नियम प्राप्त होते हैं। उन नियमों में मुख्य भावना है–अशुचि भावना ! अशुचि भावना से शरीर की आसक्ति दूर की जाती है। इसे ही कायगता स्मृति कहा है।[१७३]

श्रेष्ठ-श्रमण और पाप-श्रमण में अन्तर

सत्तरहवें अध्ययन में **पाप-श्रमण के स्वरूप** का दिग्दर्शन कराया गया है। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का सम्यक् प्रकार से पालन करता है, वह श्रेष्ठ-श्रमण है। श्रामण्य का आधार आचार है। आचार में मुख्य अहिंसा है। अहिंसा का अर्थ है–सभी जीवों के प्रति संयम करना। जो श्रमणाचार का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं करता और जो अकर्त्तव्य कार्यों का आचरण करता है, वह पाप-श्रमण है। जो विवेक-भ्रष्ट श्रमण है, वह सारा समय खाने, पीने और सोने में व्यतीत कर देता है। न समय पर प्रतिलेखन करता है और न समय पर स्वाध्याय, ध्यान आदि ही। समय पर सेवा-शुश्रूषा भी नहीं करता है। वह पाप-श्रमण है। श्रमण का अर्थ केवल वेश-परिवर्तन करना नहीं, जीवन-परिवर्तन करना है। जिसका जीवन परिवर्तित–आत्मनिष्ठ, अध्यात्मनिरत हो जाता है, भगवान महावीर ने उसे श्रेष्ठ-श्रमण की अभिधा से अभिहित किया है।

प्रस्तुत अध्ययन में पाप-श्रमण के जीवन का शब्द-चित्र संक्षेप में प्रतिपादित है।

गागर में सागर

अठारहवें अध्ययन में **राजा संजय का वर्णन** है। एक बार राजा संजय शिकार के लिए केशर उद्यान में गया। वहाँ उसने संत्रस्त मृगों को मारा।

इधर-उधर निहारते हुए उसकी दृष्टि मुनि गर्दभाल पर गिरी। वे ध्यानमुद्रा में थे। उन्हें देखकर राजा संजय भयभीत हुआ। वह सोचने लगा–'मैंने मुनि की आशातना की है।' मुनि से क्षमा याचना की। मुनि ने जीवन की अस्थिरता, पारिवारिक जनों की असारता और कर्म-परिणामों की निश्चितता का प्रतिपादन किया जिससे राजा के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह मुनि बन गया। एक बार एक क्षत्रिय मुनि ने संजय मुनि से पूछा–"आप कौन हैं? आपका नाम और गोत्र क्या है? किस प्रकार आचार्यों की सेवा करते हो? कृपा करके बताइये।" मुनि संजय ने संक्षेप में उत्तर दिया। उत्तर सुनकर मुनि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मुनि संजय को जैन प्रवचन में सुदृढ़ करने के लिए अनेक महापुरुषों के उदाहरण दिये। इस अध्ययन में अनेक चक्रवर्तियों का उल्लेख हुआ है। भरत चक्रवर्ती भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे। इन्हीं के नाम पर प्रस्तुत देश का नाम 'भारतवर्ष' हुआ। इन्होंने षट्खण्ड के साम्राज्य का परित्याग कर श्रमणधर्म स्वीकार किया था। दूसरे चक्रवर्ती सगर थे। अयोध्या में इक्ष्वाकुवंशीय राजा जितशत्रु का राज्य था। उसके भाई का नाम सुमित्रविजय था। विजया और यशोमती ये दो पत्नियाँ थीं। विजया के पुत्र का नाम अजित था, जो द्वितीय तीर्थंकर के नाम से विश्रुत हुए और यशोमती के पुत्र का नाम सगर था, जो द्वितीय चक्रवर्ती हुआ।

तृतीय चक्रवर्ती का नाम मघव था। ये श्रावस्ती नगरी के राजा समुद्रविजय की महारानी भद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। सनत्कुमार चतुर्थ चक्रवर्ती थे। ये कुरु जांगल जनपद में हस्तिनापुर नगर के निवासी थे। उनके पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम सहदेवी था। शान्तिनाथ हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम अचिरादेवी था। ये पाँचवें चक्रवर्ती हुए। राज्य का परित्याग कर श्रमण बने और सोलहवें तीर्थंकर हुए। कुन्थु हस्तिनापुर के राजा सूर के पुत्र थे। इनकी माता का नाम श्रीदेवी था। ये छठे चक्रवर्ती हुए। अन्त में राज्य का परित्याग कर श्रमण बने। तीर्थ की स्थापना कर सत्तरहवें तीर्थंकर हुए। 'अर' गजपुर के राजा सुदर्शन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम देवी था। ये सातवें चक्रवर्ती हुए। राज्य-भार को छोड़कर श्रमणधर्म में दीक्षित हुए। तीर्थ की स्थापना करके अठारहवें तीर्थंकर हुए। नवें चक्रवर्ती महापद्म थे। ये हस्तिनापुर के पद्मोत्तर राजा के पुत्र थे। उनकी माता का नाम झाला था। उनके दो पुत्र हुए–विष्णुकुमार और महापद्म। महापद्म नौवें चक्रवर्ती हुए। हरिसेण दसवें चक्रवर्ती हुए। ये काम्पिल्यपुर नगर के निवासी थे।

इनके पिता का नाम 'महाहरिश' था और माता का नाम 'मेरा' था। जय राजगृह नगर के राजा समुद्रविजय के पुत्र थे। इनकी माँ का नाम वप्रका था। ये ग्यारहवें चक्रवर्ती के रूप में विश्रुत हुए।

भरत से लेकर जय तक तीर्थंकरों और चक्रवर्तियों का अस्तित्त्व काल प्रागैतिहासिक काल है। इन सभी ने संयममार्ग को ग्रहण किया। दशार्णभद्र दशार्ण जनपद के राजा थे। ये भगवान महावीर के समकालीन थे। नमि विदेह के राजा थे। चूड़ी की नीरवता के निमित्त से प्रतिबुद्ध हुए थे। 'कुम्भजातक' में मिथिला के निमि राजा का उल्लेख है। वह गवाक्ष में बैठा हुआ राजपथ की शोभ निहार रहा था। एक चील माँस का टुकड़ा लिए हुए आकाश में जा रही थी। इधर-उधर से गिद्धों ने उसे घेर लिया। एक गिद्ध ने उस माँस के टुकड़े को पकड़ लिया। दूसरा छोड़कर चल दिया। राजा ने देखा–जिस पक्षी ने माँस का टुकड़ा लिया, उसे दुःख सहन करना पड़ा है और जिसने माँस का टुकड़ा छोड़ा उसे सुख मिला। जो कामभोगों को ग्रहण करता है, उसे दुःख मिलता है। मेरी सोलह हजार पत्नियाँ हैं। मुझे उनका परित्याग कर सुखपूर्वक रहना चाहिए। निमि ने भावना की बुद्धि से प्रत्येकबोधि को प्राप्त किया।[१७४] करकण्डू कलिंग के राजा थे। वे बूढ़े बैल को देखकर प्रतिबुद्ध हुए। वे सोचने लगे–'एक दिन यह बैल बछड़ा था, युवा हुआ। इसमें अपार शक्ति थी। आज इसकी आँखें गड़ी जा रही हैं, पैर लड़खड़ा रहे हैं।' उनका मन वैराग्य से भर गया। संसार की परिवर्तनशीलता का भान होने से वह प्रत्येकबुद्ध हुए।

बौद्ध-साहित्य[१७५] में भी कलिंग राष्ट्र के दन्तपुर नगर का राजा करकण्डू था। एक दिन उसने फलों से लदे हुए आम्र-वृक्ष को देखा। उसने एक आम तोड़ा। राजा के साथ जो अन्य व्यक्ति थे उन सभी ने आमों को एक-एक कर तोड़ लिया। वृक्ष फलहीन हो गया। लौटते समय राजा ने उसे देखा। उसकी शोभा नष्ट हो चुकी थी। राजा सोचने लगा–'वृक्ष फल-सहित था, तब तक उसे भय था। धनवान् को सर्वत्र भय होता है। अकिंचन को कहीं भी भय नहीं।' मुझे भी फलरहित वृक्ष की तरह होना चाहिए। वह विचारों की तीव्रता से प्रत्येकबुद्ध हो गया।

द्विमुख पांचाल के राजा थे। ये इन्द्रध्वज को देखकर प्रतिबोधित हुए। बौद्ध-साहित्य में भी दुमुख राजा का वर्णन है।[१७६] वे उत्तरपांचाल राष्ट्र में कम्पिल नगर के अधिपति थे। वे भोजन से निवृत्त होकर राजाङ्गण की श्री को

निहार रहे थे। उसी समय ग्वालों ने ब्रज का द्वार खोल दिया। दो साँड़ों ने कामुकता के अधीर होकर एक गाय का पीछा किया। दोनों परस्पर लड़ने लगे। एक के सींग से दूसरे साँड़ की आँतें बाहर निकल आईं और वह मर गया। राजा चिन्तन करने लगा–'सभी प्राणी विकारों के वशीभूत होकर कष्ट प्राप्त करते हैं।' ऐसा चिन्तन करते हुए वह प्रत्येकबोधि को प्राप्त हो गया।

नग्गति गांधार का राजा था। वह मंजरीविहीन आम्र-वृक्ष को निहारकर प्रत्येकबुद्ध हुआ। बौद्ध-साहित्य में भी 'नग्गजी' नाम के राजा का वर्णन है।[१७७] वह गांधार राष्ट्र के तक्षशिला का अधिपति था। उसकी एक स्त्री थी। वह एक हाथ में एक कंगन पहनकर सुगन्धित द्रव्य को पीस रही थी। राजा ने देखा–'एक कंगन के कारण न परस्पर रगड़ होती है और न ध्वनि ही होती है।' उस स्त्री ने कुछ समय के बाद दूसरे हाथ से पीसना प्रारम्भ किया। उस हाथ में दो कंगन थे। परस्पर घर्षण से शब्द होने लगा। राजा सोचने लगा–'दो होने से रगड़ होती है और साथ ही ध्वनि भी। मैं भी अकेला हो जाऊँ जिससे संघर्ष नहीं होगा।' और वह प्रत्येकबुद्ध हो गया।

उत्तराध्ययन में जिन चार प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख है, वैसा ही उल्लेख बौद्ध-साहित्य में भी हुआ है किन्तु वैराग्य के निमित्तों में व्यत्यय है। जैन कथा में वैराग्य का जो निमित्त नग्गति और नमि का है, वह बौद्ध कथाओं में करकण्डू और नग्गजी का है। उत्तराध्ययन सुखबोधावृत्ति में तथा अन्य ग्रन्थों में इन चार प्रत्येकबुद्धों की कथाएँ बहुत विस्तार के साथ आई हैं। उनमें अनेक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथ्यों का संकलन है, जबकि बौद्ध कथाओं में केवल प्रतिबुद्ध होने के निमित्त का ही वर्णन है।

विण्टरनीत्ज का अभिमत है–जैन और बौद्ध-साहित्य में जो प्रत्येकबुद्धों की कथाएँ आई हैं, वे प्राचीन भारत के श्रमण-साहित्य की निधि हैं।[१७८] प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख वैदिक परम्परा के साहित्य में नहीं हुआ है। महाभारत[१७९] में जनक के रूप में जिस व्यक्ति का उल्लेख हुआ है, उसका उत्तराध्ययन में नमि के रूप में उल्लेख है। यद्यपि मूल पाठ में उनके प्रत्येकबुद्ध होने का उल्लेख नहीं है। यह उल्लेख सर्वप्रथम उत्तराध्ययननिर्युक्ति में हुआ है, उसके पश्चात् टीका-साहित्य में।

उदायन : एक परिचय

'उदायन' सिन्धु-सौवीर जनपद के राजा थे। इनके अधीन सोलह जनपद, वीतभय आदि तीन सौ तिरेसठ नगर और महासेन आदि दस मुकुटधारी राजा

थे। वैशाली के गणतन्त्र के राजा चेटक की पुत्री उदायन की पटरानी थी। भगवतीसूत्र[१८०] में उदायन का प्रसंग प्राप्त है। उदायन का पुत्र अभीचकुमार निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक था। राजा उदायन ने अपना राज्य अभीचकुमार को न देकर अपने भानजे केशी को दिया। 'केशी' को राज्य देने का कारण यही था कि वह राज्य में आसक्त होकर कहीं नरक न जाये। किन्तु राज्य न देने के कारण अभीचकुमार के मन में द्रोह उत्पन्न हुआ। उदायन को, उसकी दिवंगत धर्मपत्नी जो देवी बनी थी वह स्वर्ग से आकर धर्म की प्रेरणा प्रदान करती है। राजा उदायन को दीक्षा प्रदान करने के लिए श्रमण भगवान महावीर मगध से विहार कर सिन्धु-सौवीर पधारते हैं। उदायन मुनि उत्कृष्ट तप का अनुष्ठान प्रारम्भ करते हैं। स्वाध्याय और ध्यान में अपने आपको पूर्ण रूप से समर्पित कर देते हैं। दीर्घ तपस्या तथा अरस–नीरस आहार से उनका शरीर अत्यन्त कृश हो चुका था, शारीरिक बल क्षीण होने से रुग्ण रहने लगे। जब रोग ने उग्र रूप धारण किया तो स्वाध्याय, ध्यान आदि में विघ्न उपस्थित हुआ। वैद्यों ने दही के प्रयोगे का परामर्श दिया। राजर्षि ने देखा–वीतभय में गोकुल की सुलभता है। उन्होंने वहाँ से विहार किया और वीतभय पधारे। राजा केशी को मंत्रियों ने राजर्षि के विरुद्ध यह कहकर भड़काया कि राजर्षि राज्य छीनने के लिए आये हैं। केशी ने राजर्षि के शहर में आने का निषेध कर दिया। एक कुम्भकार के घर में उन्होंने विश्राम लिया। राजा केशी ने उन्हें मरवाने के लिए आहार में विष मिलवा दिया। पर रानी प्रभावती, जो देवी बनी थी, वह विष का प्रभाव क्षीण करती रही। एक बार देवी की अनुपस्थिति में विष-मिश्रित आहार राजर्षि के पात्र में आ गया। वे उसे शान्त भाव से खा गये। शरीर में विष व्याप्त हो गया। उन्होंने अनशन किया और केवलज्ञान की उन्हें प्राप्ति हुई। देवी के प्रकोप से वीतभय नगर धूलिसात् हो गया।[१८१]

बौद्ध-साहित्य में भी राजा उदायन का वर्णन मिलता है। अवदान कल्पलता के अनुसार उनका नाम उद्रायण था।[१८२] दिव्यावदान के अनुसार रुद्रायण था।[१८३] आवश्यकचूर्णि में उदायन का नाम उद्रायण भी मिलता है।[१८४] वह सिन्धु-सौवीर देश का स्वामी था। उसकी राजधानी रोरूक थी। दिवंगत पत्नी ही उसे धर्ममार्ग के लिए उत्प्रेरित करती है। उद्रायण सिन्धु-सौवीर से चलकर मगध पहुँचता है। बुद्ध उसे दीक्षा प्रदान करते हैं। दीक्षित होने के बाद वे अपनी राजधानी में जाते हैं और दुष्ट अमात्यों की प्रेरणा से उनका वध होता है। बौद्ध दृष्टि से रुद्रायण ने अपना राज्य अपने पुत्र शिखण्डी को सौंपा था। अन्त में देवी के प्रकोप के कारण रोरूक धूमिसात् हो जाता है। विज्ञों का यह मन्तव्य है कि

प्रस्तुत रुद्रायण प्रकरण बौद्ध-साहित्य में बाद में आया है क्योंकि हीनयान परम्परा के ग्रन्थों में यह वर्णन प्राप्त नहीं है। महायानी परम्परा के त्रिपिटक, जो संस्कृत में हैं, उनमें यह वर्णन सम्प्राप्त है। डॉ. पी. एल. वैद्य का अभिमत है कि दिव्यावदान की रचना ई. सन् २०० से ३५० तक के मध्य में हुई है। इसीलिए जैन परम्परा के उदायन को ही बौद्ध परम्परा में रुदायणावदान के रूप में परिवर्तित किया है। दोनों ही परम्पराओं में एक ही व्यक्ति दीक्षित कैसे हो सकता है? बौद्ध परम्परा की अपेक्षा जैन परम्परा का 'उदायण प्रकरण' अधिक विश्वस्त है।

प्रस्तुत अध्ययन में उदायन का केवल नाम निर्देश ही हुआ है। हमने दोनों ही परम्पराओं के आधार से संक्षेप में उल्लेख किया है।

काशीराज का नाम नन्दन था और वे सातवें बलदेव थे। वे वाराणसी के राजा अग्निशिख के पुत्र थे। इनकी माता का नाम जयन्ती और लघु भ्राता का नाम दत्त था।

'विजय' द्वारकावती नगरी के राजा ब्रह्मराज के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सुभद्रा तथा लघु भ्राता का नाम द्विपृष्ठ था। नेमिचन्द्र ने उत्तराध्ययनवृत्ति में लिखा है–आवश्यकचूर्णि में 'नन्दन' और 'विजय' इनका उल्लेख है। हम उसी के अनुसार उनका यहाँ पर वर्णन दे रहे हैं। यदि यहाँ पर वे दोनों व्यक्ति दूसरे हों तो आगम-साहित्य के मर्मज्ञ उनकी अन्य व्याख्या कर सकते हैं।[१८५] इससे यह स्पष्ट है कि नेमिचन्द्र को इस सम्बन्ध में अनिश्चितता थी। शान्त्याचार्य ने अपनी टीका में इस सम्बन्ध में कोई चिन्तन प्रस्तुत नहीं किया है। काशीराज और विजय के पूर्व उदायन राजा का उल्लेख हुआ है, जो श्रमण भगवान महावीर के समय में हुए थे। उनके बाद बलदेवों का उल्लेख संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन में पहले तीर्थंकर, चक्रवर्ती और राजाओं के नाम क्रमशः आये हैं, इसीलिए प्रकरण की दृष्टि से महावीर युग के ही ये दोनों व्यक्ति होने चाहिए। स्थानांगसूत्र[१८६] में भगवान महावीर के पास आठ राजाओं ने दीक्षा ग्रहण की, उसमें काशीराज शंख का भी नाम है। सम्भव है, काशीराज से शंख राजा का यहाँ अभिप्राय हो। भगवान महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले राजाओं में विजय नाम के राजा का उल्लेख नहीं है। पोलासपुर में विजय नाम के राजा थे। उनके पुत्र अतिमुक्तकुमार ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ली, परन्तु उनके पिता ने भी दीक्षा ली, ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं है।[१८७] विजय नाम का एक अन्य राजा भी भगवान महावीर के समय हुआ था, जो

मृगगाँव नगर का था। उसकी रानी का नाम मृगा था।[१८८] वह दीक्षित हुआ हो, ऐसा भी उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। विज्ञों के लिए अन्वेषणीय है।

महाबल राजा का भी नाम इस अध्ययन में आया है। टीकाकार नेमिचन्द्र ने महाबल की कथा विस्तार से उट्टंकित की है।[१८९] और उसका मूल स्रोत उन्होंने भगवती बताया है।[१९०] महाबल हस्तिनापुर के राजा बल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम प्रभावती था। वे तीर्थंकर विमलनाथ की परम्परा के आचार्य धर्मघोष के पास दीक्षित हुए थे। बारह वर्ष श्रमण-पर्याय में रहकर वे ब्रह्मदेवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से वाणिज्यग्राम में श्रेष्ठी के पुत्र सुदर्शन बने। इन्होंने भगवान महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। यह कथा देने के पश्चात् नेमिचन्द्र ने लिखा है–महाबल यही है अथवा अन्य, यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते। हमारी दृष्टि से ये महाबल अन्य होने चाहिए। यह अधिक सम्भव है कि विपाकसूत्र में आये हुए महापुर नगर का अधिपति बल का पुत्र महाबल हो।[१९१]

इस प्रकार अठारहवें अध्ययन में तीर्थंकर और चक्रवर्ती राजाओं का निरूपण हुआ है, जो ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक काल में हुए हैं और जिन्होंने साधना-पथ को स्वीकार किया था। इनके साथ ही दशार्ण, कलिंग, पांचाल, विदेह, गांधार, सौवीर, काशी आदि जनपदों का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही भगवान महावीर के युग में प्रचलित क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद आदि वादों का भी उल्लेख हुआ है। अठारहवें अध्ययन में इस तरह प्रचुर सामग्री रही हुई है।

उन्नीसवें अध्ययन में **मृगा रानी के पुत्र का वर्णन** होने से अध्ययन का नाम 'मृगापुत्र' रखा गया है। एक बार महारानियों के साथ आनन्द-क्रीड़ा करते हुए मृगापुत्र नगर की सौन्दर्य-सुषमा निहार रहे थे। उनकी दृष्टि राजमार्ग पर चलते हुए एक तेजस्वी मुनि पर गिरी। वे टकटकी लगाकर मंत्रमुग्ध से उन्हें देखते रहे। मृगापुत्र को सहज स्मृति हो आई–'मैं भी पूर्व-जन्म में ऐसा ही साधु था।' उन्हें भोग बन्धनरूप प्रतीत हुए। संसार में रहना उन्हें अब असह्य हो गया। माता-पिता ने श्रामण्य-जीवन की कठोरता समझाई–"वत्स ! श्रामण्य-जीवन का मार्ग फूलों का नहीं काँटों का है। नंगे पैरों, जलती हुई आग पर चलने के सदृश है। साधु होना लोहे के जव चबाना है, दहकती ज्वालाओं को पीना है,

कपड़े के थैले को हवा से भरना है, मेरु पर्वत को तराजू पर रखकर तोलना है, महासमुद्र को भुजाओं द्वारा तैरना है। इतना ही नहीं तलवार की धार पर नंगे पैरों से चलना है। इस उग्र श्रमण-जीवन को धीर, वीर, गम्भीर साधक ही पार कर सकता है। तुम तो बहुत ही सुकुमाल हो। इस कठोर श्रमणचर्या का कैसे पालन कर सकोगे?'' उत्तर में मृगापुत्र ने नरकों की दारुण वेदना का चित्रण प्रस्तुत किया। नरकों में इस जीव ने कितनी ही असह्य वेदनाओं को सहन किया है। अन्त में माता-पिता कहते हैं–''रुग्ण होने पर वहाँ कौन चिकित्सा करेगा?''

मृगापुत्र ने कहा–''जब जंगल में पशु रुग्ण होते हैं, उनकी कौन चिकित्सा करता है? वे पहले की तरह ही स्वस्थ हो जाते हैं। वैसे ही मैं भी पूर्ण स्वस्थ हो जाऊँगा।'' अन्त में माता-पिता की अनुमति से मृगापुत्र ने संयम ग्रहण किया और पवित्र श्रामण्य-जीवन का पालन कर सिद्धि को वरण किया।

प्रस्तुत अध्ययन में आई एक गाथा की तुलना बौद्ध ग्रन्थ 'महावग्ग' में आई हुई गाथा से कर सकते हैं–

देखिये–

''जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो॥'' –उत्तराध्ययन १९/१५

तुलना कीजिए–

''जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा।
ब्याधिपि दुक्खा, मरणंपि दुक्खं॥'' –महावग्ग १/६/१९

निर्ग्रन्थ : एक चिन्तन

बीसवें अध्ययन का नाम **'महानिर्ग्रन्थीय'** है। जैन श्रमणों का आगमिक प्राचीन नाम निर्ग्रन्थ है। आचार्य अगस्त्यसिंह ने लिखा है–ग्रन्थ का अर्थ बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह है। जो उस ग्रन्थ से पूर्णतया मुक्त होता है, वह निर्ग्रन्थ है।[१९२] निर्ग्रन्थ की व्याख्या इस प्रकार की गई है–जो राग-द्वेष से रहित होने के कारण एकाकी है, बुद्ध है, आश्रयरहित है, संयत है, समितियों से युक्त है, सुसमाहित है, आत्मवाद का ज्ञाता है, विज्ञ है, बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के स्रोत जिसके छिन्न हो चुके हैं, जो पूजा-सत्कार, लाभ का अर्थी (इच्छुक) नहीं है, केवल धर्मार्थी है, धर्मविद् है, मोक्षमार्ग की ओर चल पड़ा है, साम्यभाव का आचरण करता है, दान्त है, बन्धनमुक्त होने के योग्य है, वह

निर्ग्रन्थ है।[१९३] आचार्य उमास्वाति ने लिखा है–जो कर्मग्रन्थि के विजय के लिए प्रयास करता है, वह निर्ग्रन्थ है।[१९४]

प्रस्तुत अध्ययन में महानिर्ग्रन्थ अनाथ मुनि का वर्णन होने से इसका नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' रखा गया है। सम्राट् श्रेणिक ने मुनि के दिव्य और भव्य रूप को निहारकर प्रश्न किया–"यह महामुनि कौन हैं और क्यों श्रमण बने हैं?" मुनि ने उत्तर में अपने आपको 'अनाथ' बताया। अनाथ शब्द सुनकर राजा श्रेणिक अत्यन्त विस्मित हुआ। इस रूप-लावण्य के धनी का अनाथ होना उसे समझ में नहीं आया। मुनि ने अनाथ शब्द की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत की। राजा ने पहली बार सनाथ और अनाथ का रहस्य समझा। उसके ज्ञान-चक्षु खुल गये। उसने निवेदन किया–"मैं आपसे धर्म का अनुशासन चाहता हूँ।" राजा श्रेणिक को मुनि ने सम्यक्त्व दीक्षा प्रदान की।

प्रस्तुत आगम में मुनि के नाम का उल्लेख नहीं है पर प्रसंग से यही नाम फलित होता है। दीघनिकाय में 'मण्डीकुक्षि' के नाम पर 'मद्दकुच्छि' यह नाम दिया है।[१९५] डॉ. राधाकुमुद बनर्जी ने मण्डीकुक्षि उद्यान में राजा श्रेणिक के धर्मानुरक्त होने की बात लिखी है।[१९६] साथ ही प्रस्तुत अध्ययन की ५८वीं गाथा में 'अणगारसिंह' शब्द व्यवहृत हुआ है। उस शब्द के आधार से वे अणगारसिंह से भगवान महावीर को ग्रहण करते हैं पर उनका यह मानना सत्य-तथ्य से परे है। क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन में मुनि ने अपना परिचय देते हुए अपने को कौशाम्बी का निवासी बताया है। सम्राट् श्रेणिक का परिचय हमने अन्य आगमों की प्रस्तावना में विस्तार से दिया है, इसलिए यहाँ विस्तृत रूप से उसकी चर्चा नहीं की जा रही है।

प्रस्तुत अध्ययन में आई हुई कुछ गाथाओं की तुलना धम्मपद, गीता और मुण्डकोपनिषद् आदि से की जा सकती है–

"अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ॥" –उत्तराध्ययन २०/३६-३७

तुलना कीजिए–

"अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना व सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं॥

अत्तना व कतं पापं, अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमन्थति दुम्मेधं, वजिरं वस्ममयं मणिं॥
अत्तना व कतं पापं, अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं, अत्तना व विसुज्झति॥'' –धम्मपद १२/४-५, ९

''न तं अरी कण्ठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणे॥''

–उत्तराध्ययन २०/४८

तुलना कीजिए–

''दिसो दिसं यं तं कयिरा, वेरी वा पनं वैरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं, पापियो नं ततो करे॥'' –धम्मपद ३/१०

''दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं, निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं, समुद्दपाले अपुणागमं गए॥''

–उत्तराध्ययन २०/४

तुलना कीजिए–

''यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं, कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरञ्जनं परमं साम्यमुपैति॥''

–मुण्डकोपनिषद् ३/१/३

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में चिन्तन की विपुल सामग्री है। इसमें यह भी प्रदर्शित किया गया है कि द्रव्यलिंग को धारण करने मात्र से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। यह भाव गाथा इकतालीस से पचास तक में प्रदर्शित किये गये हैं। उनकी तुलना सुत्तनिपात-महावग्ग पवज्जा सुत्त से सहज रूप से की जा सकती है।

समुद्र-यात्रा

इक्कीसवें अध्ययन में समुद्रपाल का वर्णन है। इसलिए वह 'समुद्रपालीय' नाम से विश्रुत है। इस अध्ययन में समुद्र-यात्रा का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। उस युग में भारत के साहसी व्यापारी व्यापार हेतु दूर-दूर तक जाते थे। अतीतकाल से ही नौकाओं के द्वारा व्यापार करने की परम्परा भारत में थी।[१९७] ऋग्वेद में इस प्रकार की नौकाओं का वर्णन है, जो समुद्र में चलती थीं। नाविकों के द्वारा समुद्र में बहुत दूर जाने पर मार्ग विस्मृत हो जाने पर वे पूषा की संस्तुति करते थे जिससे सुरक्षित लौट सकें।

बौद्ध जातक-साहित्य में ऐसे जहाजों का वर्णन है जिनमें पाँच सौ व्यापारी एक साथ यात्रा करते थे।[१९८] विनयपिटक में 'पूर्ण' नाम के एक व्यापारी का उल्लेख है जिसने छह बार समुद्र-यात्रा की थी। संयुक्तनिकाय,[१९९] अंगुत्तरनिकाय[२००] में वर्णन है कि छह-छह मास तक नौकाओं द्वारा समुद्र-यात्रा की जाती थी। दीघनिकाय[२०१] में यह भी वर्णन है मि समुद्र-यात्रा करने वाले व्यापारी अपने साथ कुछ पक्षी रखते थे। जब जहाज समुद्र में बहुत दूर पहुँच जाता और आसपास में कहीं पर भी भूमि दिखाई नहीं देती तब उन पक्षियों को आकाश में छोड़ दिया जाता। यदि टापू कहीं सन्निकट होता तो वे पक्षी लौटकर नहीं आते और दूर होने पर वे पुनः इधर-उधर आकाश में चक्कर लगाकर आ जाते थे।

भगवान ऋषभदेव ने जलपोतों का निर्माण किया था।[२०२] जैन-साहित्य में जलपत्तन के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[२०३] सूत्रकृतांग,[२०४] उत्तराध्ययन[२०५] आदि आगम-साहित्य में कठिन कार्य की तुलना समुद्र-यात्रा से की है। वस्तुतः उस युग में समुद्र-यात्रा अत्यधिक कठिन थी।

सूत्रकृतांग[२०६] में लेप नामक गाथापति का उल्लेख है, जिसके पास अनेक यान थे। सिंहलद्वीप, जावा, सुमात्रा प्रभृति स्थलों पर अनेक व्यापारीगण जाया करते थे। ज्ञाताधर्मकथासूत्र[२०७] में जिनपालित और जिनरक्षित गाथापति का वर्णन है, जिन्होंने बारह बार समुद्र-यात्रा की थी। अरणक श्रावक आदि के यात्रा-वर्णन भी ज्ञाताधर्मकथा में हैं।[२०८] व्यापारीगण स्वयं के यानपात्र भी रखते थे, जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक माल लेकर जाते थे। उसमें स्वर्ण, सुपारी आदि अनेक वस्तुएँ होती थीं। उस समय भारत में स्वर्ण अत्यधिक मात्रा में था, जिसका निर्यात दूसरे देशों में होता था। इस प्रकार सामुद्रिक व्यापार बहुत उन्नत अवस्था में था।

इस अध्ययन में यह भी बताया है कि उस युग में जो व्यक्ति तस्कर-कृत्य करता था, उसको उग्र दण्ड दिया जाता था। वध-भूमि में ले जाकर वध किया जाता था। वह लाल वस्त्रों से आवेष्टित होता, उसके गले में लाल कनेर की माला होती, जिससे दर्शकों को पता लग जाता कि इसने अपराध किया है। वह कठोर दण्ड इसलिये दिया जाता कि अन्य व्यक्ति इस प्रकार के अपराध करने का दुस्साहस न करें। तस्करों की तरह दुराचारियों को भी शिरोमुण्डन, तर्जन, ताडन, लिङ्गच्छेदन, निर्वासन और मृत्यु प्रभृति विविध दण्ड दिये जाते थे। सूत्रकृतांग,[२०९] निशीथचूर्णि,[२१०] मनुस्मृति,[२११] याज्ञवल्क्यस्मृति[२१२] आदि

में विस्तार से इस विषय का निरूपण है। प्रस्तुत अध्ययन में उस युग की राज्य-व्यवस्था का भी उल्लेख है। भारत में उस समय अनेक छोटे-मोटे राज्य थे। उनमें परस्पर संघर्ष भी होता था। अतः मुनि को उस समय सावधानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने का सूचन किया गया है।

अरिष्टनेमि और राजीमती

बाईसवें अध्ययन में अन्धक-कुल के नेता समुद्रविजय के पुत्र रथनेमि का वृत्तान्त है। रथनेमि अरिष्टनेमि अर्हत् के लघु भ्राता थे। राजीमती, जिनका वैवाहिक सम्बन्ध अरिष्टनेमि से तय हुआ था किन्तु विवाह के कुछ समय पूर्व ही अरिष्टनेमि को वैराग्य हो गया और वे मुनि बन गये। अरिष्टनेमि के प्रव्रजित होने के पश्चात् रथनेमि राजीमती पर आसक्त हो गये। किन्तु राजीमती का उपदेश श्रवण कर रथनेमि प्रव्रजित हुए। एक बार पुनः रैवतक पर्वत पर वर्षा से प्रताड़ित साध्वी राजीमती को एक गुफा में वस्त्र सुखाते समय नग्न अवस्था में देखकर रथनेमि विचलित हो गये। राजीमती के उपदेश से वे पुनः सँभले और अपने दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप करते हैं।

जैन-साहित्य के अनुसार राजीमती उग्रसेन की पुत्री थी। विष्णुपुराण के अनुसार उग्रसेन की चार पुत्रियाँ थीं–कंसा, कंसवती, सुतनु और राष्ट्रपाली।[२१३] इस नामावली में राजीमती का नाम नहीं आया है। यह बहुत कुछ सम्भव है–सुतनु ही राजीमती का अपरनाम रहा हो। क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन की ३७वीं गाथा में रथनेमि राजीमती को 'सुतनु' नाम से सम्बोधित करते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में अन्धकवृष्णि शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन हरिवंशपुराण के अनुसार यदुवंश का उद्भव हरिवंश से हुआ है। यदुवंश में नरपति नाम का एक राजा था। उसके शूर और सुवीर ये दो पुत्र थे। सुवीर को मथुरा का राज्य दिया गया और शूर को शौर्यपुर का। अन्धकवृष्णि आदि शूर के पुत्र थे और भोजकवृष्णि आदि सुवीर के पुत्र थे। अन्धकवृष्णि की प्रमुख रानी का नाम सुभद्रा था। उनके दस पुत्र हुए, जो निम्नलिखित हैं– (१) समुद्रविजय, (२) अक्षोभ्य, (३) स्तमितसागर, (४) हिमवान्, (५) विजय, (६) अचल, (७) धारण, (८) पूरण, (९) अभिचन्द्र, तथा (१०) वसुदेव। ये दसों पुत्र दशार्ह के नाम से विश्रुत हैं। अन्धकवृष्णि की (१) कुन्ती, तथा (२) मद्री। ये दो पुत्रियाँ थीं। भोजकवृष्णि की मुख्य पत्नी

पद्मावती थी। उसके उग्रसेन, महासेन और देवसेन ये तीन पुत्र हुए।[२१४] उत्तरपुराण में देवसेन के स्थान पर महाद्युतिसेन नाम आया है।[२१५] उनके एक पुत्री भी थी, जिसका नाम गांधारी था।

अन्धक-कुल के नेता समुद्रविजय के अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि ये चार पुत्र थे। वासुदेव श्रीकृष्ण आदि अंधकवृष्णि-कुल के नेता वसुदेव के पुत्र थे। वैदिक-साहित्य में इनकी वंशावली पृथक् रूप से मिलती है।[२१६] इस अध्ययन में भोज, अन्धक और वृष्णि इन तीन कुलों का उल्लेख हुआ है। भोजराज शब्द राजीमती के पिता समुद्रविजय के लिए प्रयुक्त हुआ है। वासुदेव श्रीकृष्ण का अरिष्टनेमि के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध था। वे अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे। उन्होंने राजीमती को दीक्षा ग्रहण करते समय जो आशीर्वाद दिया था वह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और साथ ही श्रीकृष्ण के हृदय की धार्मिक भावना का भी प्रतीक है। वह आशीर्वाद इस प्रकार से है–

"संसारसागरं घोरं, तर कन्ने ! लहुं लहुं।"

अर्थात् हे कन्ये ! तू घोर संसार-सागर को शीघ्रता से पार कर।[२१७]

इस अध्ययन की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि पथभ्रष्ट पुरुष को नारी सही मार्ग पर लाती है। उसका नारायणी रूप इसमें उजागर हुआ है। नारी वासना की दास नहीं, किन्तु उपासना की ओर बढ़ने वाली प्रेरणा की स्रोत भी है। जब वह साधना के पथ पर बढ़ती है तो उसके कदम आगे से आगे बढ़ते ही चले जाते हैं। वह अपने लक्ष्य पर बढ़ना भी जानती है।

समस्याएँ और समाधान

तेवीसवें अध्ययन में भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के तेजस्वी नक्षत्र केशीकुमार श्रमण और भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम का ऐतिहासिक संवाद है। भगवान पार्श्व तेवीसवें तीर्थंकर थे। भगवान महावीर ने 'पुरुषादानीय' शब्द का प्रयोग पार्श्वनाथ के लिए किया है। यह उनके प्रति आदर का सूचक है। भगवान पार्श्व के हजारों शिष्य भगवान महावीर के समय विद्यमान थे। भगवती में 'कालास्यवैशिक' अनगार,[२१८] 'गांगेय' अनगार[२१९] तथा अन्य अनेक स्थविर[२२०] और सूत्रकृतांग[२२१] में 'उदकपेढाल' आदि पार्श्वपत्य श्रमणों ने भगवान महावीर के शासन को स्वीकार किया था। प्रस्तुत अध्ययन में पार्श्वापत्य श्रमणों में और भगवान महावीर के श्रमणों में जिन बातों को लेकर अन्तर था, उसका निरूपण है। यह निरूपण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत

ही महत्त्वपूर्ण है। इस अन्तर का मूल कारण भी गणधर गौतम ने केशीकुमार श्रमण को बताया है। प्रथम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु और जड़ थे। अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण वक्र और जड़ होते हैं और मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के श्रमण ऋजु और प्राज्ञ थे। प्रथम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए आचार को पूर्ण रूप से समझ पाना कठिन था। चरम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए आचार का पालन करना कठिन है। किन्तु मध्यवर्ती तीर्थंकरों के श्रमण उसे यथावत् समझने और सरलता से उसका पालन करते थे। इन्हीं कारणों से आचार के दो रूप हुए हैं–चातुर्याम धर्म और पंचयाम धर्म। केशी श्रमण की इस जिज्ञासा पर कि एक ही प्रयोजन के लिए अभिनिष्क्रमण करने वाले श्रमणों के वेश में यह विचित्रता क्यों है? एक रंग-बिरंगे बहुमूल्य वस्त्रों को धारण करते हैं और एक अल्प मूल्य वाले श्वेत वस्त्रधारी हैं। गणधर गौतम ने समाधान करते हुए कहा–मोक्ष की साधना का मूल ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। वेश तो बाह्य उपकरण है, जिससे लोगों को यह ज्ञात हो सके कि ये साधु हैं। 'मैं साधु हूँ।' इस प्रकार ध्यान रखने के लिए ही वेश है। सचेल परम्परा के स्थान पर अचेल परम्परा का यही उद्देश्य है। यहाँ पर अचेल का अर्थ अल्प वस्त्र है।

भगवान पार्श्व के चातुर्यामधर्म में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। वहाँ पर बाह्य वस्तुओं की अनासक्ति को व्यक्त करने वाला 'बहिद्धादाण-विरमण–बहिस्तात् आदान-विरमण' शब्द है। भगवान महावीर ने उसके स्थान पर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दो शब्दों का प्रयोग किया है। ब्रह्मचर्य शब्द वैदिक-साहित्य में व्यवहृत था पर महाव्रत के रूप में 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग भगवान महावीर ने किया। वैदिक-साहित्य में इसके पूर्व ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग महाव्रत के रूप में नहीं हुआ। इसी तरह अपरिग्रह शब्द का प्रयोग भी महाव्रत के रूप में सर्वप्रथम ऐतिहासिक काल में भगवान महावीर ने ही किया है। जाबालोपनिषद्,[२२२] नारदपरिव्राजकोपनिषद्,[२२३] तेजोबिन्दूपनिषद्,[२२४] याज्ञवल्क्योपनिषद्,[२२५] आरुणिकोपनिषद्,[२२६] गीता,[२२७] योगसूत्र[२२८] आदि ग्रन्थों में अपरिग्रह शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु वे सारे ग्रन्थ भगवान महावीर के बाद के हैं, ऐसा ऐतिहासिक मनीषियों का मत है। भगवान महावीर के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में 'अपरिग्रह' शब्द का प्रयोग महान् व्रत के रूप में नहीं हुआ है।

डॉ. हर्मन जैकोबी ने लिखा है–जैनों ने अपने व्रत ब्राह्मणों से उधार लिए हैं।[२२९] उनका यह मन्तव्य है–ब्राह्मण संन्यासी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, सन्तोष

और मुक्तता इन व्रतों का पालन करते थे। उन्हीं का अनुसरण जैनियों ने किया है। डॉ. जैकोबी की प्रस्तुत कल्पना केवल निराधार कल्पना ही है। उसका वास्तविक और ठोस आधार नहीं है। ब्राह्मण परम्परा में पहले व्रत नहीं थे। बोधायन आदि में जो निरूपण है वह बहुत ही बाद का है। ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान पार्श्व के समय व्रत-वयवस्था थी। वही व्रत-व्यवस्था भगवान महावीर ने विकसित की थी। तथागत बुद्ध ने उसे अष्टाङ्गिक मार्ग के रूप में स्वीकार किया और योगदर्शन में यम-नियमों के रूप में उसे ग्रहण किया गया। गाँधीजी के आश्रमधर्म का आधार भी वही है। ऐसा धर्मानन्द कौशाम्बी का भी अभिमत है।[२३०] डॉ. रामधारीसिंह दिनकर[२३१] का मन्तव्य है–हिन्दूत्व और जैनधर्म परस्पर में घुल-मिलकर इतने एकाकार हो गये हैं कि आज का सामान्य हिन्दू यह जानता भी नहीं है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह जैनधर्म के उपदेश थे न कि हिन्दूत्व के। आधुनिक अनुसन्धान से यह स्पष्ट हो चुका है कि व्रतों की परम्परा का मूल स्रोत श्रमण-संस्कृति है।[२३२]

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में युग-युग के सघन संशय और उलझे हुए विकल्पों का सही समाधान है। इस संवाद में समत्व की प्रधानता है। इस प्रकार के परिसंवादों से ही सत्य-तथ्य उजागर होता है, श्रुत और शील का समुत्कर्ष होता है। इस अध्ययन में आत्म-विजय और मन का अनुशासन करने के लिए जो उपाय प्रदर्शित किये गये हैं, वे आधुनिक तनाव के युग में परम उपयोगी हैं। चंचल मन को एकाग्र करने के लिए धर्मशिक्षा आवश्यक बनाई है।[२३३] वही बात गीताकार ने भी कही है–मन को वश में करने के लिए अभ्यास और वैराग्य आवश्यक है।[२३४] आचार्य पतंजलि का भी यही अभिमत रहा है।[२३५]

प्रवचन-माताएँ

चौबीसवें अध्ययन का नाम 'समिईओ' है। समवायांगसूत्र में यह नाम प्राप्त है।[२३६] उत्तराध्ययननिर्युक्ति में प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'प्रवचन-मात' या 'प्रवचन-माता' मिलता है।[२३७] सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान को 'प्रवचन' कहा जाता है। उसकी रक्षा हेतु पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ माता के सदृश हैं। ये प्रवचन-माताएँ चारित्ररूपा हैं। द्वादशांगी में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ही विस्तार से निरूपण है। इसलिये द्वादशांगी प्रवचन-माता का ही विराट् रूप है। लौकिक जीवन में माँ की महिमा विश्रुत है। वह शिशु के जीवन के संवर्धन के साथ ही संस्कारों का सिंचन करती है। वैसे ही आध्यात्मिक जीवन में ये

प्रवचन-माताएँ जगदम्बा के रूप में हैं। इसलिये भी इन्हें प्रवचन-माता कहा है।[२३८] प्रसव और समाना इन दोनों अर्थों में माता शब्द का व्यवहार हुआ है। भगवान जगत्-पितामह के रूप में है।[२३९] आत्मा के अनन्त आध्यात्मिक सद्गुणों को विकसित करने वाली ये प्रवचन-माताएँ हैं।

प्रतिक्रमणसूत्र के वृत्तिकार आचार्य नमि[२४०] ने समिति की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि प्राणातिपात प्रभृति पापों से निवृत्त रहने के लिये प्रशस्त एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति समिति है। साधक का अशुभ योगों से सर्वथा निवृत्त होना गुप्ति है। आचार्य उमास्वाति जी[२४१] ने भी लिखा है–**मन, वचन और काय के योगों का जो प्रशस्त निग्रह है, वह गुप्ति है।**

आचार्य शिवार्य ने लिखा है कि जिस योद्धा ने सुदृढ़ कवच धारण कर रखा हो, उस पर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा हो तो भी वे तीक्ष्ण बाण उसे बींध नहीं सकते। वैसे ही समितियों का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला श्रमण-जीवन के विविध कार्यों में प्रवृत्त होता हुआ पापों से निर्लिप्त रहता है।[२४२] जो श्रमण आगम के रहस्य को नहीं जानता किन्तु प्रवचन-माता को सम्यक् प्रकार से जानता है, वह स्वयं का भी कल्याण करता है और दूसरों का भी। श्रमणों के आचार का प्रथम और अनिवार्य अंग प्रवचन-माता है, जिसके माध्यम से श्रामण्यधर्म का विशुद्ध रूप से पालन किया जा सकता है।

प्रस्तुत अध्ययन में समितियों और गुप्तियों का सम्यक् निरूपण हुआ है।

ब्राह्मण

पच्चीसवें अध्ययन में **यज्ञ** का निरूपण है। यज्ञ वैदिक संस्कृति का केन्द्र है। पापों का नाश, शत्रुओं का संहार, विपत्तियों का निवारण, राक्षसों का विध्वंस, व्याधियों का परिहार, इन सबकी सफलता के लिये यज्ञ आवश्यक माना गया है। क्या दीर्घायु, क्या समृद्धि, क्या अमरत्व का साधन सभी यज्ञ से उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में ऋषि ने कहा–यज्ञ इस उत्पन्न होने वाले संसार की नाभि है। उत्पत्ति-प्रधान है। देव तथा ऋषि यज्ञ से समुत्पन्न हुए। यज्ञ से ही ग्राम और अरण्य के पशुओं की सृष्टि हुई। अश्व, गाएँ, भेड़ें, अज, वेद आदि का निर्माण भी यज्ञ के कारण ही हुआ। यज्ञ ही देवों का प्रथम धर्म था।[२४३] इस प्रकार ब्राह्मण परम्परा यज्ञ के चारों ओर चक्कर लगा रही है। भगवान महावीर के समय सभी विज्ञ ब्राह्मणगण यज्ञ-कार्य में जुटे हुए थे। श्रमण भगवान महावीर ने और उनके संघ के अन्य श्रमणों ने 'वास्तविक यज्ञ क्या है तथा सच्चा ब्राह्मण

कौन है?' इस सम्बन्ध में अपना चिन्तन प्रस्तुत किया। जिस यज्ञ में जीवों की विराधना होती है उस यज्ञ का भगवान ने निषेध किया है। जिसमें तप और संयम का अनुष्ठान होता है वह भाव यज्ञ है।

ब्राह्मण शब्द की, जो जातिवाचक बन चुका था, यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत अध्ययन में की गई है। जातिवाद पर करारी चोट है। मानव जन्म से श्रेष्ठ नहीं, कर्म से श्रेष्ठ बनता है। जन्म से ब्राह्मण नहीं, कर्म से ब्राह्मण होता है। मुण्डित होने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता। ओंकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता। अरण्य में रहने मात्र से मुनि नहीं होता। दर्भ, वल्कल आदि धारण करने मात्र से कोई तापस नहीं हो जाता। समभाव से श्रमण होता है। ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि एवं तपस्या से तापस होता है।

जिस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में ब्राह्मण की परिभाषा की गई है, उसी प्रकार की परिभाषा धम्मपद में भी प्राप्त होती है। उदाहरण के रूप में प्रस्तुत अध्ययन की कुछ गाथाओं के साथ धम्मपद की गाथाओं की तुलना करें–

"तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं॥" –उत्तराध्ययन २५/२२

तुलना कीजिए–

"निधाय दंडं भूतेसु, ततेसु थावरेसु च।
यो हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥" –धम्मपद २६/२३

"कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं॥" –उत्तराध्ययन २५/२३

तुलना कीजिये–

"अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चं उदीरये।
याय नाभिसजे कंचि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥" –धम्मपद २६/२६

"जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पई वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥" –उत्तराध्ययन २५/२६

तुलना कीजिये–

"वारिपोक्खरपत्ते व, आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिम्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥" –धम्मपद २६/१९

"न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो॥" –उत्तराध्ययन २५/२९

तुलना कीजिये–

"न मुण्डकेण समणो, अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति॥
न तेन भिक्खु सो होति, यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता॥" –धम्मपद १९/९, ११

"न जटाहि न गोत्तेहि, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
मौनाद्धि स मुनिर्भवती, नारण्यवसनान्मुनिः॥" –उद्योगपर्व ४३/३५

"समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो॥
कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥" –उत्तराध्ययन २५/३०-३१

तुलना कीजिये–

".....।
समितत्ता हि पापानं, समणो ति पवुच्चति॥" –धम्मपद १९/१०

"पापानि परिवज्जेति, स मुनी तेन सो मुनी।
यो मुनाति उभो लोके, मुनी तेन पवुच्चति॥" –वही १९/१४

"न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो।
कम्मुना ब्राह्मणो होति, कम्मुना होति अब्राह्मणो॥
कस्सको कम्मुना होति, सिप्पिको होति कम्मुना।
वाणिजो कम्मुना होति, पेस्सिको होति कम्मुना॥"

–सुत्तनिपात, महापर्व ९/५७-५८

"न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥"

–सुत्तनिपात, उर. ७/२१, २७

समाचारी : एक विश्लेषण

छब्बीसवें अध्ययन में समाचारी का निरूपण है। समाचारी जैन-संस्कृति का पारिभाषिक शब्द है। शिष्टजनों के द्वारा किया गया क्रिया-कलाप समाचारी है।[२४४] उत्तराध्ययन में ही नहीं, भगवती,[२४५] स्थानांग[२४६] आदि अन्य आगमों में भी समाचारी का वर्णन मिलता है। आवश्यकनिर्युक्ति में भी समाचारी पर चिन्तन किया गया है। दृष्टिवाद के नौवें पूर्व की आचार नामक तृतीय वस्तु के बीसवें ओघ प्राभृत में समाचारी के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार के साथ निरूपण था। पर वह वर्णन सभी श्रमणों के लिए सम्भव नहीं था। जो महान् मेधावी सन्त होते थे, उनका अध्ययन करते थे। अतः आगम-मर्मज्ञ आचार्यों ने सभी सन्तों के लाभार्थ ओघनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों का निर्माण किया। प्रवचनसारोद्धार, धर्मसंग्रह आदि उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी समाचारी का निरूपण है। उपाध्याय यशोविजय जी ने समाचारी-प्रकरण नामक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की है।

श्रमणाचार के वृत्तात्मक आचार और व्यवहारात्मक आचार ये दो भेद हैं। महाव्रत वृत्तात्मक आचार है और व्यवहारात्मक आचार समाचारी है। समाचारी के ओघ समाचारी और पद-विभाग समाचारी ये दो भेद हैं। प्रथम समाचारी का अन्तर्भाव धर्मकथानुयोग में और दूसरी समाचारी का अन्तर्भाव चरणकरणानुयोग में किया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति में समाचारी के ओघ-समाचारी, दशविध-समाचारी और पद-विभाग-समाचारी ये तीन प्रकार बतलाए हैं। ओघ-समाचारी का प्रतिपादन ओघनिर्युक्ति में किया गया है और पद-विभाग-समाचारी छेदसूत्र में वर्णित है।

दिगम्बर ग्रन्थों में समाचारी के स्थान पर 'समाचार' और 'सामाचार' ये दो शब्द आये हैं। आचार्य वट्टेकर ने उसके चार अर्थ किये हैं–(१) समता का आचार, (२) सम्यक् आचार, (३) सम आचार, तथा (४) समान आचार।[२४७]

श्रमण-जीवन में दिन-रात में जितनी भी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे सभी समाचारी के अन्तर्गत हैं। समाचारी संघीय जीवन जीने की श्रेष्ठतम कला है। समाचारी से परस्पर एकता की भावना विकसित होती है, जिससे संघ को बल प्राप्त होता है।

प्रस्तुत अध्ययन में दशविध ओघ-समाचारी का निरूपण हुआ है। इस सम्बन्ध में हमने विस्तार के साथ "जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप" ग्रन्थ में निरूपण किया है।[२४८] विशेष जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं।

अनुशासनहीनता का प्रतीक : अविनय

सत्ताईसवें अध्ययन में दुष्ट बैल की उद्दण्डता के माध्यम से अविनीत शिष्य का चित्रण किया गया है। संघ-व्यवस्था के लिए अनुशासन आवश्यक है। विनय अनुशासन का अंग है तो अविनय अनुशासनहीनता का प्रतीक है। जो साधक अनुशासन की उपेक्षा करता है वह अपने जीवन को महान् नहीं बना सकता। गर्गगोत्रीय गार्ग्य मुनि एक विशिष्ट आचार्य थे, योग्य गुरु थे किन्तु उनके शिष्य उद्दण्ड, अविनीत और स्वच्छन्द थे। उन शिष्यों के अभद्र व्यवहार से समत्व-साधना में विघ्न उपस्थित होता हुआ देखकर आचार्य गार्ग्य उन्हें छोड़कर एकाकी चल दिये। अनुशासनहीनता अविनीत शिष्य दुष्ट बैल की भाँति होता है जो गाड़ी को तोड़ देता है और स्वामी को कष्ट पहुँचाता है। इसी तरह अविनीत शिष्य आचार्य और गुरुजनों को कष्टदायक होता है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में अविनीत शिष्य के लिए दंश-मशक, जलोका, वृश्चिक प्रभृति विविध उपमाओं से अलंकृत किया है। इस अध्ययन में जो वर्णन है वह प्रथम अध्ययन 'विनयश्रुत' का ही पूरक है।

प्रस्तुत अध्ययन की निम्न गाथा की तुलना बौद्ध ग्रन्थ की थेरगाथा से की जा सकती है–

"खलुंका जारिसा जोआ, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जन्ति धिइदुब्बला॥" –उत्तराध्ययन २७/८

तुलना कीजिए–

"ते तथा सिक्खिता बाला, अञ्ञमञ्ञमगारवा।
नादयिस्सन्ति उपज्झाये, खलुंको विय सारथिं॥" –थेरगाथा ९७९

मोक्षमार्ग : एक परिशीलन

अट्ठाईसवें अध्ययन में मोक्षमार्गगति का निरूपण हुआ है। मोक्ष प्राप्य है और उसकी प्राप्ति का उपाय मार्ग है। प्राप्ति का उपाय जब तक नहीं मिलता तब तक प्राप्य प्राप्त नहीं होता। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये मोक्ष-प्राप्ति के साधन हैं। इन साधनों की परिपूर्णता ही मोक्ष है। जैन आचार्यों ने तप का अन्तर्भाव चारित्र में करके परवर्ती-साहित्य में त्रिविध साधना का मार्ग प्रतिपादित किया है। आचार्य उमास्वाति ने सम्यग् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।[२४९] आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार और नियमसार में,

आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में त्रिविध साधनामार्ग का विधान किया है। बौद्धदर्शन में भी शील, समाधि और प्रज्ञा का विधान किया गया है। गीता में भी ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग इस त्रिविध साधना का उल्लेख हुआ है। जैसे जैनधर्म में तप का स्वतन्त्र विवेचन होने पर भी उसे सम्यक् चारित्र के अन्तर्भूत माना गया है वैसे ही गीता के ध्यानयोग को कर्मयोग में सम्मिलित कर लिया गया है। इसी प्रकार पश्चिम में भी त्रिविध साधना और साधना-पथ का भी निरूपण किया गया है। स्वयं को जानो (Know Thyself), स्वयं को स्वीकार करो (Accept Thyself), स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself) ये पाश्चात्य परम्परा में तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं।[२५०]

प्रस्तुत अध्ययन में कहा है–दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और जिसमें ज्ञान नहीं होता, उसका आचरण सम्यक् नहीं होता। सम्यक् आचरण के अभाव में आसक्ति से मुक्त नहीं बना जाता और बिना आसक्ति-मुक्त बने मुक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से निर्वाण-प्राप्ति का मूल ज्ञान, दर्शन और चारित्र की परिपूर्णता है। कितने ही आचार्य दर्शन को प्राथमिकता देते हैं तो कितने ही आचार्य ज्ञान को। गहराई से चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता। आचार्य उमास्वाति ने भी पहले दर्शन और उसके बाद ज्ञान को स्थान दिया है। जब तक दृष्टिकोण यथार्थ न हो तब तक साधना की सही दिशा का भान नहीं होता और उसके बिना लक्ष्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। सुत्तनिपात में भी बुद्ध कहते हैं–मानव का श्रेष्ठ धन श्रद्धा है।[२५१] श्रद्धा से मानव इस संसाररूप बाढ़ को पार करता है।[२५२] श्रद्धावान् व्यक्ति ही प्रज्ञा को प्राप्त करता है।[२५३] गीता में भी श्रद्धा को प्रथम स्थान दिया है। गीताकार ने ज्ञान की महिमा और गरिमा का संकीर्तन किया है। **"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"**–कहने के बाद कहा–वह पवित्र ज्ञान उसी को प्राप्त होता है जो श्रद्धावान् है। **"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।"**[२५४]–सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति युगपत् होती है, अर्थात् दृष्टि सम्यक् होते ही मिथ्या ज्ञान सम्यक् ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। अतएव दोनों का पौर्वापर्य कोई विवाद का विषय नहीं है।

ज्ञान और दर्शन के बाद चारित्र का स्थान है। चारित्र साधनामार्ग में गति प्रदान करता है। इसलिए चारित्र का अपने आप में महत्त्व है। जैन दृष्टि से रत्नत्रय के साकल्य में ही मोक्ष की निष्पत्ति मानी गई है। वैदिक परम्परा में

ज्ञाननिष्ठा, कर्मनिष्ठा और भक्तिमार्ग ये तीनों पृथक्-पृथक् मोक्ष के साधन माने जाते रहे हैं। इन्हीं मान्यताओं के आधार पर स्वतंत्र सम्प्रदायों का भी उदय हुआ। आचार्य शंकर केवल ज्ञान से और रामानुज केवल भक्ति से मुक्ति को स्वीकार करते हैं। पर जैनदर्शन ने ऐसे किसी एकान्तवाद को स्वीकार नहीं किया है।

प्रस्तुत अध्ययन में चौथी गाथा से लेकर चौदहवीं गाथा तक ज्ञानयोग का प्रतिपादन है। पन्द्रहवीं गाथा से लेकर इकतीसवीं गाथा तक श्रद्धायोग का निरूपण है। बत्तीसवीं गाथा से लेकर चौंतीसवीं गाथा तक कर्मयोग का विश्लेषण है। ज्ञान से तत्त्व को जानो, दर्शन से उस पर श्रद्धा करो, चारित्र से आस्रव का निरुंधन करो एवं तप से कर्मों का विशोधन करो। इस तरह इस अध्ययन में चार मार्गों का निरूपण कर उसे आत्म-शोधन का प्रशस्त पथ कहा है। इसी पथ पर चलकर जीव शिवत्व को प्राप्त कर सकता है, कर्ममुक्त हो सकता है।

सम्यक्त्व : विश्लेषण

उनतीसवाँ अध्ययन **सम्यक्त्व-पराक्रम** है। जो साधक सम्यक्त्व में पराक्रम करते हैं, वे ही सही दिशा की ओर अग्रसर होते हैं। सम्यक्त्व के कारण ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते हैं। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सम्यक्त्व और सम्यक् दर्शन इन दोनों शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थ किया है।[२५५] पर सामान्य रूप से सम्यक् दर्शन और सम्यक्त्व ये दोनों एक ही अर्थ में व्यवहृत होते रहे हैं। सम्यक्त्व यथार्थता का परिचायक है। सम्यक्त्व का एक अर्थ तत्त्व-रुचि भी है।[२५६] इस अर्थ में सम्यक्त्व सत्याभिरुचि या सत्य की अभीप्सा है। सम्यक्त्व मुक्ति का अधिकार-पत्र है। आचारांग में सम्यक् दृष्टि का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा–सम्यक् दृष्टि पाप का आचरण नहीं करता।[२५७] सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है–जो व्यक्ति विज्ञ है, भाग्यवान है, पराक्रमी है पर यदि उसका दृष्टिकोण असम्यक् है तो उसका दान, तप आदि समस्त पुरुषार्थ फल की आकांक्षा वाला होने से अशुद्ध होता है।[२५८] अशुद्ध होने से वह मुक्ति की ओर न ले जाकर बन्धन की ओर ले जाता है। इसके विपरीत सम्यक् दृष्टि वीतराग दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण उसका कार्य फल की आकांक्षा से रहित और शुद्ध होता है।[२५९] आचार्य शंकर ने भी गीताभाष्य में स्पष्ट शब्दों में सम्यक् दर्शन के महत्त्व को व्यक्त करते हुए लिखा है–सम्यक् दर्शननिष्ठ पुरुष

संसार के बीजरूप अविद्या आदि दोषों का उन्मूलन नहीं कर सके, ऐसा कभी सम्भव नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सम्यक् दर्शनयुक्त पुरुष निश्चित रूप से निर्वाण प्राप्त करता है।[२६०] अर्थात् सम्यक् दर्शन होने से राग यानि विषयासक्ति का उच्छेद होता है और राग का उच्छेद होने से मुक्ति होती है।

सम्यक्त्व या सम्यक् दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण है। प्राणरहित शरीर मुर्दा है, वैसे ही सम्यक् दर्शनरहित साधना भी मुर्दा है। वह मुर्दे की तरह त्याज्य है। सम्यक् दर्शन जीवन को एक सही दृष्टि देता है, जिससे जीवन उत्थान की ओर अग्रसर होता है। व्यक्ति की जैसी दृष्टि होगी, वैसे ही उसके जीवन की सृष्टि होगी। इसलिए यथार्थ दृष्टिकोण जीवन-निर्माण की सबसे प्राथमिक आवश्यकता है। प्रस्तुत अध्ययन में उसी यथार्थ दृष्टिकोण को संलक्ष्य में रखकर इकहत्तर प्रश्नोत्तरों के माध्यम से साधना-पद्धति का मौलिक निरूपण किया गया है। ये प्रश्नोत्तर इतने व्यापक हैं कि इनमें प्रायः समग्र जैनाचार समा जाता है।

तप : एक विहंगावलोकन

तीसवें अध्ययन में तप का निरूपण है। सामान्य मानवों की यह धारणा है कि जैन परम्परा में ध्यानमार्ग या समाधिमार्ग का निरूपण नहीं है। पर उनकी यह धारणा सत्य-तथ्य से परे है। जैसे योग परम्परा में अष्टाङ्गयोग का निरूपण है, वैसे ही जैन परम्परा में द्वादशांग तप का निरूपण है। तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करने पर सम्यक् तप का गीता के ध्यानयोग और बौद्ध परम्परा के समाधिमार्ग में अत्यधिक समानता है।

तप जीवन का ओज है, शक्ति है। तपोहीन साधना खोखली है। भारतीय आचारदर्शनों का गहराई से अध्ययन करने पर सूर्य के प्रकाश की भाँति यह स्पष्ट होगा कि प्रायः सभी आचार-दर्शनों का जन्म तपस्या की गोद में हुआ है। वे वहीं पले-पुसे और विकसित हुए हैं। अजित-केस कम्बलिन् घोर भौतिकवादी था। गोशालक एकान्त नियतिवादी था। तथापि वे तप-साधना में संलग्न रहे। तो फिर अन्य विचार-दर्शनों में तप का महत्त्व हो, इसमें शंका का प्रश्न ही नहीं है। यह सत्य है कि तप के लक्ष्य और स्वरूप के सम्बन्ध में मतैक्य का अभाव रहा है पर सभी परम्पराओं ने अपनी-अपनी दृष्टि से तप की महत्ता स्वीकार की है।

श्री भरतसिंह उपाध्याय ने "बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन" नामक ग्रन्थ में लिखा है–"भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वह सब तपस्या से ही सम्भूत है, तपस्या से ही इस राष्ट्र का बल या ओज उत्पन्न हुआ है.... तपस्या भारतीय दर्शनशास्त्र की ही नहीं, किन्तु उसके समस्त इतिहास की प्रस्तावना है.... प्रत्येक चिन्तनशील प्रणाली चाहे वह आध्यात्मिक हो, चाहे आधिभौतिक, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित हैं.... उसके वेद, वेदांग, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र आदि सभी विद्या के क्षेत्र जीवन की साधना रूप तपस्या के एकनिष्ठ उपासक हैं।"[२६१]

जैन तीर्थंकरों के जीवन का अध्ययन करने से स्पष्ट है–वे तप-साधना के महान् पुरस्कर्त्ता थे। श्रमण भगवान महावीर साधनाकाल के साढ़े बारह वर्ष में लगभग ग्यारह वर्ष निराहार रहे। उनका सम्पूर्ण साधनाकाल आत्म-चिन्तन, ध्यान और कायोत्सर्ग में व्यतीत हुआ। उनका जीवन तप की जीती-जागती प्रेरणा है। जैन-साधना का लक्ष्य शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि है। आत्मा का शुद्धीकरण है। तप का प्रयोजन है–प्रयासपूर्वक कर्म-पुद्गलों को आत्मा से अलग-अलग कर विशुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट करना। इसलिए भगवान महावीर ने कहा–तप आत्मा के परिशोधन की प्रक्रिया है,[२६२] आबद्ध कर्मों का क्षय करने की पद्धति है।[२६३] तप से पाप-कर्मों को नष्ट किया जाता है। तप कर्म-निर्जरण का मुख्य साधन है। किन्तु तप केवल काय-क्लेश या उपवास ही नहीं, स्वाध्याय, ध्यान, विनय आदि सभी तप के विभाग हैं। जैन दृष्टि से तप के बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार हैं। बाह्य तप के अनशन, अवमोदरिका, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, काय-क्लेश और प्रतिसंलीनता, ये छह प्रकार हैं। इनके धारण आचरण से देहाध्यास नष्ट होता है। देह की आसक्ति साधना का महान् विघ्न है। देहासक्ति से विलासिता और प्रमाद समुत्पन्न होता है, इसलिए जैन श्रमण का विशेषण 'वोसट्ठ-चत्तदेहे' दिया गया है। बाह्य तप स्थूल है, वह बाहर से दिखलाई देता है जबकि आभ्यन्तर तप को सामान्य जनता तप के रूप में नहीं जानती। तथापि उसमें तप का महत्त्वपूर्ण एवं उग्र पक्ष निहित है। उसके भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये छह प्रकार हैं जो उत्तरोत्तर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते चले गये हैं।

वैदिक परम्परा में भी तप की महत्ता रही है। वैदिक ऋषियों का आघोष है–तपस्या से ही ऋत और सत्य उत्पन्न हुए,[२६४] तप से ही वेद उत्पन्न हुए,[२६५] तप से ही ब्रह्म की अन्वेषणा की जाती है,[२६६] तप से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त

की जाती है और तप से ही ब्रह्मलोक प्राप्त किया जाता है,[२६७] तप से ही लोक में विजय प्राप्त की जाती है।[२६८] मनु ने तो कहा है–तप से ही ऋषिगण त्रैलोक्य में चराचर प्राणियों को देखते हैं।[२६९] इस विश्व में जो कुछ भी दुर्लभ और दुस्तर है, वह सब तपस्या से साध्य है, तपस्या की शक्ति दुरतिक्रम है।[२७०] महापातकी तथा निम्न आचरण करने वाले भी तप से तप्त होकर किल्विषी योनि से मुक्त हो जाते हैं।[२७१]

बौद्ध साधना-पद्धति में भी तप का उल्लेख हुआ है, पर बौद्ध धर्मावलम्बी मध्यममार्गी होने से जैन और वैदिक परम्परा की तरह कठोर आचार के अर्थ में वहाँ तप शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। वहाँ तप का अर्थ है–चित्त-शुद्धि का निरन्तर अभ्यास करना। बुद्ध ने कहा–तप, ब्रह्मचर्य आर्यसत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार ये उत्तम मंगल है।[२७२] दिट्ठठिविज्जसुत्त में कहा–किसी तप या व्रत के करने से किसी के कुशल धर्म बढ़ते हैं, अकुशल धर्म घटते हैं तो उसे अवश्य करना चाहिए।[२७३] मज्झिमनिकाय–महासिंहनादसुत्त में बुद्ध सारीपुत्त से अपनी उग्र तपस्या का विस्तृत वर्णन करते हैं।[२७४] सुत्तनिपात में बुद्ध बिम्बिसार से कहते हैं–अब मैं तपश्चर्या के लिए जा रहा हूँ, उस मार्ग में मेरा मन रमता है।[२७५] तथागत बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् भी बौद्ध भिक्षुओं में धुत्तंग अर्थात् जंगलों में रहकर विविध प्रकार की तपस्याएँ करने आदि का महत्त्व था। विसुद्धिमग्ग और मिलिन्दप्रश्न में ऐसे धुत्तंगों के ये सारे तथ्य बौद्ध धर्म के तप के महत्त्व को उजागर करते हैं।

जिस प्रकार जैन-साधना में तपश्चर्या का आभ्यन्तर और बाह्य तप के रूप में वर्गीकरण हुआ है, वैसा वर्गीकरण बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में नहीं है। मज्झिमनिकाय कन्दरसुत्त[२७६] में एक वर्गीकरण है–बुद्ध ने चार प्रकार के मनुष्य कहे–(१) आत्मन्तप और परन्तप, (२) परन्तप और आत्मन्तप, (३) जो आत्मन्तप भी और परन्तप भी, तथा (४) जो आत्मन्तप भी नहीं और परन्तप भी नहीं। यों विकीर्ण रूप से बौद्ध-साहित्य में तप के वर्गीकरण प्राप्त होते हैं किन्तु वे वर्गीकरण इतने सुव्यवस्थित नहीं हैं। वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में तप के तीन रूप मिलते हैं–शारीरिक, वाचिक और मानसिक[२७७] तथा सात्विक, राजस और तामस।[२७८] जो तप श्रद्धापूर्वक फल की आकांक्षा से रहित निष्कामभाव से किया जाता है, वह 'सात्विक' तप है; जो तप अज्ञानतापूर्वक स्वयं को एवं दूसरों को कष्ट देने के लिए किया जाता है वह

'तामस' तप है और जो तप सत्कार, सन्मान तथा प्रतिष्ठा के लिए किया जाता है, वह 'राजस' तप है।

प्रस्तुत अध्ययन में जैन दृष्टि से तप का निरूपण किया गया है। तप ऐसा दिव्य रसायन है, जो शरीर और आत्मा के यौगिक भाव को नष्ट कर आत्मा को अपने मूल स्वभाव में स्थापित करता है। अनादि-अनन्त काल के संस्कारों के कारण आत्मा का शरीर के साथ तादात्म्य-सा हो गया है। उसे तोड़े बिना मुक्ति नहीं होती। उसे तोड़ने का तप एक अमोघ उपाय है। उसका सजीव चित्रण इस अध्ययन में हुआ है।

इकतीसवें अध्ययन में **श्रमणों की चरण विधि** का निरूपण होने से इस अध्ययन का नाम भी चरण विधि है। चरण-चारित्र में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों रही हुई हैं। मन, वचन, काया के सम्यक् योग का प्रवर्तन समिति है। समिति में यतनाचार मुख्य है। गुप्ति में अशुभ योगों का निवर्तन है। यहाँ पर निवृत्ति का अर्थ पूर्ण निषेध नहीं है और प्रवृत्ति का अर्थ पूर्ण विधि नहीं है। प्रवृत्ति में निवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति है। विवेकपूर्व प्रवृत्ति संयम है और अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति असंयम है। अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति से संयम सुरक्षित नहीं रह सकता, इसलिए साधक को अच्छी तरह से जानना चाहिए कि अविवेकयुक्त प्रवृत्तियाँ कौन-सी हैं? साधक को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की रागात्मक चित्त-वृत्ति से दूर रहना चाहिए। न वह हिंसक व्यापार करे और न भय से भयभीत ही रहे। जिन क्रिया-कलापों से आस्रव होता है, वे क्रिया-स्थान हैं। श्रमण उन क्रिया-स्थानों से सदा अलग रहें। अविवेक से असंयम होता है और अविवेक से अनेक अनर्थ होते हैं। इसलिए श्रमण असंयम से सतत दूर रहे। साधना की सफलता व पूर्णता के लिए समाधि आवश्यक है, इसलिए असमाधि-स्थानों से श्रमण दूर रहे। आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मार्ग में स्थित रहता है, वह समाधि है। शबल दोष साधु के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। जिन कार्यों के करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट होती है, चारित्र मलीन होने से करबूर हो जाता है, उन्हें शबल दोष कहते हैं।[२७९] शबल दोषों का सेवन करने वाले श्रमण भी शबल कहलाते हैं। उत्तरगुणों में अतिक्रमादि चारों दोषों का एवं मूलगुणों में अनाचार के अतिरिक्त तीन दोषों का सेवन करने से चारित्र शबल होता है। जिन कारणों से मोह प्रबल होता है, उन मोह-स्थानों से भी दूर रहकर प्रतिपल-प्रतिक्षण साधक को धर्म-साधना में लीन रहना चाहिए, जिससे वह संसार-चक्र से मुक्त होता है।

प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार विविध विषयों का संकलन हुआ है। यहाँ यह चिन्तनीय है कि छेदसूत्र के रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं, जो भगवान महावीर के अष्टम पट्टधर थे। उनका निर्वाण वीर निर्वाण एक सौ सत्तर के लगभग हुआ है। उनके द्वारा निर्मित छेदसूत्रों का नाम प्रस्तुत अध्ययन की सत्तरहवीं और अठारहवीं गाथा में हुआ है। वे गाथाएँ इसमें कैसे आईं? यह चिन्तनीय है।

साधना का विघ्न : प्रमाद

बत्तीसवें अध्ययन में प्रमाद का विश्लेषण है। प्रमाद साधना में विघ्न हैं। प्रमाद को निवारण किये बिना साधक जितेन्द्रिय नहीं बनता। प्रमाद का अर्थ है–ऐसी प्रवृत्तियाँ, जो साधना में बाधा उपस्थित करती हैं, साधक की प्रगति को अवरुद्ध करती हैं। उत्तराध्ययननिर्युक्ति[२८०] में प्रमाद के पाँच प्रकार बताये हैं–मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। स्थानांग में प्रमाद-स्थान छह बताये हैं।[२८१] उसमें विकथा के स्थान पर द्यूत और छठा प्रतिलेखन–प्रमाद दिया है। प्रवचनसारोद्धार[२८२] में आचार्य नेमीचन्द्र ने प्रमाद के अज्ञान, संशय, मिथ्या ज्ञान, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, धर्म में अनादर, मन, वचन और काया का दुष्परिणाम, ये आठ प्रकार बताये हैं।

साधना की दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन में विपुल सामग्री है। साधक को प्रतिपल–प्रतिक्षण जागरूक रहने का संदेश दिया है। जैसे भगवान ऋषभदेव एक हजार वर्ष तक अप्रमत्त रहे, एक हजार वर्ष में केवल एक रात्रि को उन्हें निद्रा आई थी। श्रमण भगवान महावीर बारह वर्ष, तेरह पक्ष साधनाकाल में रहे। इतने दीर्घकाल में केवल एक अन्तमुहूर्त्त निद्रा आई। भगवान ऋषभ और भगवान महावीर ने केवल निद्रा-प्रमाद का सेवन किया था।[२८३] शेष समय वे पूर्ण अप्रमत्त रहे। वैसे ही श्रमणों को अधिक से अधिक अप्रमत्त रहना चाहिए।

अप्रमत्त रहने के लिए साधक विषयों से उपरत रहे, आहार पर संयम रखे। दृष्टि-संयम, मन, वचन और काया का संयम एवं चिन्तन की पवित्रता अपेक्षित है। बहुत व्यापक रूप से अप्रमत्त रहने के संबंध में चिन्तन हुआ है।

प्रस्तुत अध्ययन में आई हुई कुछ गाथाओं की तुलना धम्मपद, सुत्तनिपात, श्वेताश्वतर उपनिषद् और गीता आदि के साथ की जा सकती है–

"न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइं विवज्जयन्तो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो।।"

–उत्तराध्ययन ३२/५

तुलना कीजिए–

"सचे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभूय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा॥
नो चे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजाव रट्ठं विजितं पहायं, एको चरे मातंगरञ्ञेव नागो॥
एकस्य चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कायिरा, अप्पोस्सुक्को मातंगरञ्ञेव नागो॥"

–धम्मपद २३/९-११

"अद्धा पसंसाम सहायसंपदं, सेट्ठा समा सेवितब्बा सहाया।
एते अलद्धा अनवज्जभोजी, एगो चरे खग्गविसाणकप्पो॥"

–सुत्तनिपात, उर. ३/१३

"जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्ड जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे॥"

–उत्तराध्ययन ३२/२०

तुलना कीजिए–

"त्रयी धर्ममधर्मार्थं, किंपाकफलसंनिभम्।
नास्ति तात ! सुखं, किञ्चिदत्र दुःखशताकुले॥"

–शांकरभाष्य, श्वेता. उप., पृष्ठ २३

"एविन्दियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेन्ति किंचि॥"

–उत्तराध्ययन ३२/१००

तुलना कीजिए–

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु, विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति॥" –गीता २/६४

कर्म :

तेतीसवें अध्ययन में कर्म-प्रकृतियों का निरूपण होने के कारण 'कर्म-प्रकृति' के नाम से यह अध्ययन विश्रुत है। कर्म भारतीय दर्शन का चिर-परिचित शब्द है। जैन, बौद्ध और वैदिक सभी परम्पराओं ने कर्म को स्वीकार किया है। कर्म को ही वेदान्ती 'अविद्या', बौद्ध 'वासना', सांख्य 'क्लेश' और न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट' कहते हैं। कितने ही दर्शन कर्म का सामान्य रूप से केवल निर्देश करते हैं तो कितने ही दर्शन कर्म के विभिन्न पहलुओं पर चिन्तन करते हैं। न्यायदर्शन की दृष्टि से अदृष्ट आत्मा का गुण है। श्रेष्ठ और निष्कृष्ट कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है। वह अदृष्ट है। जहाँ तक अदृष्ट का फल सम्प्राप्त नहीं होता तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। इसका फल ईश्वर के द्वारा मिलता है।[२८४] यदि ईश्वर कर्मफल की व्यवस्था न करे तो कर्म पूर्ण रूप से निष्फल हो जाएँ। सांख्यदर्शन ने कर्म को प्रकृति का विकार माना है।[२८५] उनका अभिमत है–हम जो श्रेष्ठ या कनिष्ठ प्रवृत्तियाँ करते हैं, उनका संस्कार प्रकृति पर पड़ता है और उन प्रकृति के संस्कारों से ही कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म कहा है। यही कार्य-कारण भाव के रूप में सुख-दुःख का हेतु है। जैनदर्शन ने कर्म को स्वतंत्र पुद्गल तत्त्व माना है। कर्म अनन्त पौद्गलिक परमाणुओं के स्कन्ध हैं। सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। जीवात्मा की जो श्रेष्ठ या कनिष्ठ प्रवृत्तियाँ होती हैं, उनके कारण वे आत्मा के साथ बँध जाते हैं। यह उनकी बंध अवस्था कहलाती है। बँधने के पश्चात् उनका परिपाक होता है। परिपाक के रूप में उनसे सुख-दुःख के रूप में या आवरण के रूप में फल प्राप्त होता है। अन्य दार्शनिकों ने कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध ये तीन अवस्थाएँ बताई हैं। वे जैनदर्शन के बंध, सत्ता और उदय के अर्थ को ही अभिव्यक्त करती हैं। कर्म के कारण ही जगत् की विभक्ति,[२८६] विचित्रता[२८७] और समान साधन होने पर भी फल-प्राप्ति में अन्तर रहता है। बन्ध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और द्रदेश, ये चार भेद हैं। कर्म का नियत समय से पूर्व फल प्राप्त होना 'उदीरणा' है, कर्म की स्थिति और विपाक की वृद्धि होना 'उद्वर्तन' है, कर्म की स्थिति और विपाक में कमी होना 'अपवर्तन' है तथा कर्म की सजातीय प्रकृतियों का एक-दूसरे के रूप में परिवर्तन होना 'संक्रमण' है। कर्म का फलदान 'उदय' है। कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उदय में आने के लिए उन्हें अधम बना देना 'उपशम' है। दूसरे शब्दों में कहें तो कर्म की वह अवस्था जिसमें उदय और उदीरणा सम्भव नहीं

है वह 'उपशम' है। जिसमें कर्मों का उदय और संक्रमण नहीं हो सके किन्तु उद्‌वर्तन और अपवर्तन की सम्भावना हो, वह 'निधत्ति' है। जिसमें उद्‌वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण एवं उदीरणा इन चारों अवस्थाओं का अभाव हो, वह 'निकाचित' अवस्था है। कर्म बँधने के पश्चात् अमुक समय तक फल न देने की अवस्था का नाम 'अबाधाकाल' है। जिस कर्म की स्थिति जितने सागरोपम की है, उतने ही सौ वर्ष का उसका अबाधाकाल होता है। कर्मों की इन प्रक्रियाओं का जैसा विश्लेषण जैन-साहित्य में हुआ है, वैसा विश्लेषण अन्य साहित्य में नहीं हुआ। योगदर्शन में नियतविपाकी, अनियतविपाकी और आवायगमन के रूप में कर्म की त्रिविध अवस्था का निरूपण है। जो नियत समय पर अपना फल देकर नष्ट हो जाता है, वह 'नियतविपाकी' है। जो कर्म बिना फल दिये ही आत्मा से पृथक् हो जाता है, वह 'अनियतविपाकी' है। एक कर्म का दूसरे में मिल जाना 'आवायगमन' है।

जैनदर्शन की कर्म-व्याख्या विलक्षण है। उसकी दृष्टि से कर्म पौद्‌गलिक हैं। जब जीव शुभ अथवा अशुभ प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है तब वह अपनी प्रवृत्ति से उन पुद्‌गलों को आकर्षित करता है। वे आकृष्ट पुद्‌गल आत्मा के सन्निकट अपने विशिष्ट रूप और शक्ति का निर्माण करते हैं। वे 'कर्म' कहलाते हैं। यद्यपि कर्मवर्गणा के पुद्‌गलों में कोई स्वभाव भिन्नता नहीं होती पर जीव के भिन्न-भिन्न अध्यवसायों के कारण कर्मों की प्रकृति और स्थिति में भिन्नता आती है। कर्मों की मूल आठ प्रकृतियाँ हैं। उन प्रकृतियों की अनेक उत्तर-प्रकृतियाँ हैं। प्रत्येक कर्म की पृथक्-पृथक् स्थिति हैं। स्थितिकाल पूर्ण होने पर वे कर्म नष्ट हो जाते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में कर्मों की प्रकृतियों का और उनके अवान्तर भेदों का निरूपण हुआ है। कर्म के सम्बन्ध में हमने विपाकसूत्र की प्रस्तावना में विस्तार से लिखा है, अतः जिज्ञासु इस सम्बन्ध में उसे देखने का कष्ट करें।

लेश्या : एक विश्लेषण

चौंतीसवें अध्ययन में लेश्याओं का निरूपण है। इसीलिए इसका नाम **'लेश्या अध्ययन'** है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में इस अध्ययन का विषय कर्म-लेश्या कहा है।[२८८] कर्मबन्ध के हेतु रागादि भावकर्म लेश्या है। जैनदर्शन के कर्मसिद्धान्त को समझने में लेश्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लेश्या एक प्रकार का पौद्‌गलिक पर्यावरण है। जीव से पुद्‌गल और पुद्‌गल से जीव प्रभावित होते

हैं। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक समूह हैं। उनमें से एक समूह का नाम 'लेश्या' है। वादिवेताल शान्तिसूरि ने लेश्या का अर्थ आणविक आभा, कान्ति, प्रभा और छाया किया है।[२८९] आचार्य शिवार्य ने लिखा है– लेश्या छाया-पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव के परिणाम हैं।[२९०] प्राचीन जैन-साहित्य में शरीर के वर्ण, आणविक आभा और उनसे प्रभावित होने वाले विचार इन तीनों अर्थों में लेश्या पर चिन्तन किया है। नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने शरीर का वर्ण और आणविक आभा को द्रव्य-लेश्या माना है।[२९१] आचार्य भद्रबाहु का भी यही अभिमत है।[२९२] उन्होंने विचार को भाव-लेश्या कहा है। द्रव्य-लेश्या पुद्गल है। इसलिए उसे वैज्ञानिक साधनों के द्वारा भी जाना जा सकता है। द्रव्य-लेश्या के पुद्गलों पर वर्ण का प्रभाव अधिक होता है।

जिसके सहयोग से आत्मा कर्म में लिप्त होता है वह 'लेश्या' है।[२९३] दिगम्बर आचार्य वीरसेन के शब्दों में कहा जाए तो आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कराने वाली प्रवृत्ति लेश्या है।[२९४] मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग के द्वारा कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से होता है। आचार्य पूज्यपाद ने कषायों के उदय से अनुरंजित मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को लेश्या कहा है।[२९५] आचार्य अकलंक ने भी उसी परिभाषा का अनुसरण किया है।[२९६] संक्षेप में कहा जाए तो कषाय और योग लेश्या नहीं है, पर वे उसके कारण हैं। इसलिए लेश्या का अन्तर्भाव न योग में किया जा सकता है और न कषाय में। कषाय और योग के संयोग से एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है। जैसे– दही और शक्कर के संयोग से श्रीखण्ड तैयार होता है। कितने ही आचार्यों का अभिमत है कि लेश्या में कषाय की प्रधानता नहीं होती किन्तु योग की प्रधानता होती है। केवलज्ञानी में कषाय का पूर्ण अभाव है पर योग की सत्ता रहती है, इसलिए उसमें शुक्ल-लेश्या है। उत्तराध्ययन के टीकाकार शान्तिसूरि का मन्तव्य है कि द्रव्य-लेश्या का निर्माण कर्मवर्गणा से होता है।[२९७] यह द्रव्य-लेश्या कर्मरूप है। तथापि यह आठ कर्मों से पृथक् है, जैसे–कार्मणशरीर। यदि लेश्या को कर्मवर्गणा-निष्पन्न माना जाए तो वह कर्मस्थिति-विधायक नहीं बन सकती। कर्मलेश्या का सम्बन्ध नामकर्म के साथ है। उसका सम्बन्ध शरीर-रचना सम्बन्धी पुद्गलों से है। उसकी एक प्रकृति शरीरनामकर्म है। शरीरनामकर्म के एक प्रकार के पुद्गलों का समूह कर्मलेश्या है।[२९८] द्वितीय मान्यता की दृष्टि से लेश्या द्रव्य कर्म निस्यन्द है। निस्यन्द का अर्थ बहते हुए

कर्म प्रवाह से है। चौदहवें गुणस्थान में कर्म की सत्ता है, प्रवाह है पर वहाँ लेश्या नहीं है। वहाँ पर नये कर्मों का आगमन नहीं होता। कषाय और योग से कर्मबन्धन होता है। कषाय होने पर चारों प्रकार के बंध होते हैं। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का सम्बन्ध योग से है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का सम्बन्ध कषाय से। केवल योग में स्थिति और अनुभागबन्ध नहीं होता, जैसे तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरिहन्तों के ऐर्यापथिक बन्ध होता है, किन्तु स्थिति और अनुभागबन्ध नहीं होता। जो दो समय का काल बताया गया है वह काल वस्तुतः कर्म-पुद्गल ग्रहण करने का और उत्सर्ग का काल है। वह स्थिति और अनुभाग का काल नहीं है।

तृतीय अभिमतानुसार लेश्या द्रव्य योगवर्गणा के अन्तर्गत स्वतन्त्र द्रव्य हैं। बिना योग के लेश्या नहीं होती। लेश्या और योग में परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। प्रश्न उठता है–क्या लेश्या को योगान्तर्गत मानना चाहिए या योगनिमित्त द्रव्यकर्म रूप? यदि वह लेश्या द्रव्यकर्म रूप है तो घातिकर्मद्रव्य रूप है अथवा अघातिकर्मद्रव्य रूप है? लेश्या घातिकर्मद्रव्य रूप नहीं है, क्योंकि घातिकर्म नष्ट हो जाने पर भी लेश्या रहती है। यदि लेश्या को अघातिकर्मद्रव्य स्वरूप माने तो चौदहवें गुणस्थान में अघातिकर्म विद्यमान रहते हैं पर वहाँ लेश्या का अभाव है। इसलिए योग-द्रव्य के अन्तर्गत ही द्रव्यस्वरूप लेश्या मानना चाहिए।

लेश्या से कषायों में अभिवृद्धि होती है क्योंकि योगद्रव्य में कषाय-अभिवृद्धि करने की शक्ति है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अपना कर्त्तव्य दिखाते हैं। जिस व्यक्ति को पित्त-विकार हो उसका क्रोध सहज रूप से बढ़ जाता है। ब्राह्मी वनस्पति का सेवन ज्ञानावरण कर्म को कम करने में सहायक है। मदिरापान करने से ज्ञानावरण का उदय होता है। दही का उपयोग करने से निद्रा में अभिवृद्धि होती है। निद्रा दर्शनावरण कर्म का औदयिक फल है। अतः स्पष्ट है कषायोदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति ही (लेश्या) स्थितिपाक में सहायक होती है।[२९९]

गोम्मटसार में आचार्य नेमिचन्द्र ने योगपरिणाम लेश्या का वर्णन किया है।[३००] आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि[३०१] में और गोम्मटसार के कर्मकाण्ड खण्ड[३०२] में कषायोदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा है। इस परिभाषा के अनुसार दसवें गुणस्थान तक ही लेश्या हो सकती है। प्रस्तुत परिभाषा अपेक्षाकृत होने से पूर्व की परिभाषाओं से विरुद्ध नहीं है।

भगवती, प्रज्ञापना और पश्चाद्वर्ती साहित्य में लेश्या पर व्यापक रूप से चिन्तन किया गया है। विस्तारभय से हम उन सभी पहलुओं पर यहाँ चिन्तन नहीं कर रहे हैं। पर यह निश्चित है कि जैन मनीषियों ने लेश्या का वर्णन किसी सम्प्रदाय-विशेष से नहीं लिया है। उसका यह अपना मौलिक चिन्तन है।[३०३] प्रस्तुत अध्ययन में संक्षेप में कर्मलेश्या के नाम, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य का निरूपण किया है। इन सभी पहलुओं पर श्यामाचार्य ने विस्तार से प्रज्ञापना में लिखा है। व्यक्ति के जीवन का निर्माण उसके अपने विचारों से होता है। वह अपने को जैसा चाहे, बना सकता है। बाह्य जगत् का प्रभाव आन्तरिक जगत् पर होता है और आन्तरिक जगत् का प्रभाव बाह्य जगत् पर होता है। वे एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। पुद्गल से जीव प्रभावित होता है और जीव से पुद्गल प्रभावित होता है। दोनों का परस्पर प्रभाव ही प्रभा है, आभा है, कान्ति है, और वही आगम की भाषा में लेश्या है।

अनगार धर्म : एक चिन्तन

पैंतीसवें अध्ययन में अनगार मार्गगति का वर्णन है। केवल गृह का परित्याग करने से अनगार नहीं होता, अनगार धर्म एक महान् धर्म है। अत्यन्त सतर्क और सजग रहकर इस धर्म की आराधना और साधना की जाती है। केवल बाह्य संग का त्याग ही पर्याप्त नहीं है। भीतर से असंग होना आवश्यक है। जब तक देह आदि के प्रति रागादि सम्बन्ध रहता है तब तक साधक भीतर से असंग नहीं बन सकता। इसीलिए एक जैनाचार्य ने लिखा है–**"कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्त्यते।"** अर्थात् जिस हृदय में कामनाओं का वास है, वहाँ संसार है। अनगार कामनाओं से ऊपर उठा हुआ होता है, इसीलिए वह असंग होता है। संग का अर्थ लेप या आसक्ति है। प्रस्तुत अध्ययन में उसके हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म-सेवन, इच्छा-काम, लोभ, संसक्त स्थान, गृह-निर्माण, अन्नपाक, धनार्जन की वृत्ति, प्रतिबद्ध-भिक्षा, स्वादवृत्ति और पूजा की अभिलाषा, ये तेरह प्रकार बताए हैं। इन वृत्तियों से जो असंग होता है वही श्रमण है। श्रमणों के लिए इस अध्ययन में कहा गया है कि मुनिधर्म और शुक्लध्यान का अभ्यास करें साथ ही **"सुक्कज्झाणं झियाएज्जा।"** अर्थात् शुक्लध्यान में रमण करे। जब तक अनगार जीए तब तक असंग जीवन जीए और जब उसे यह ज्ञात हो कि मेरी मृत्यु सन्निकट आ चुकी है तो आहार का परित्याग कर अनशनपूर्वक

समाधिमरण को वरण करे। जीवनकाल में देह के प्रति जो आसक्ति रही हो उसे शनै-शनैः कम करने का अभ्यास करे। देह को साधना का साधन मानकर देह के प्रतिबन्ध से मुक्त हो। यही अनगार का मार्ग है। अनगार दुःख के मूल को नष्ट करता है। वह साधना के पथ पर बढ़ते समय श्मशान, शून्यागार तथा वृक्ष के नीचे भी निवास करता है। जहाँ पर शीत आदि का भयंकर कष्ट उसे सहन करना पड़ता है, वहाँ पर उसे वह कष्ट नहीं मानकर इन्द्रिय-विजय का मार्ग मानता है। अहिंसा धर्म की अनुपालना के लिए वह भिक्षा आदि के कष्ट को भी सहर्ष स्वीकार करता है। इस तरह इस अध्ययन में अनगार से सम्बन्धित विपुल सामग्री दी गई है।

जीव-अजीव : एक पर्यवेक्षण

छत्तीसवें अध्ययन में जीव और अजीव के विभागों का वर्णन है। जैन तत्त्वविद्या के अनुसार जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व हैं। अन्य जितने भी पदार्थ हैं, वे इनके अवान्तर विभाग हैं। जैन दृष्टि से द्रव्य आत्म-केन्द्रित है। उसके अस्तित्त्व का स्रोत किसी अन्य केन्द्र से प्रवहमान नहीं है। जितना वास्तविक और स्वतन्त्र चेतन द्रव्य है, उतना ही वास्तविक और स्वतन्त्र अचेतन तत्त्व है। चेतन और अचेतन का विस्तृत रूप ही यह जगत् है। न चेतन से अचेतन उत्पन्न होता है और न अचेतन से चेतन। इस दृष्टि से जगत् अनादि अनन्त है। यह परिभाषा द्रव्यस्पर्शी नय के आधार पर है। रूपान्तरस्पर्शी नय की दृष्टि से जगत् सादि-सान्त भी है। यदि द्रव्यदृष्टि से जीव अनादि-अनन्त हैं तो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पर्यायों की दृष्टि से वह सादि-सान्त भी हैं। उसी प्रकार अजीव द्रव्य भी अनादि-अनन्त हैं। पर उसमें भी प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। इस तरह अवस्था-विशेष की दृष्टि से वह सादि-सान्त है। जैनदर्शन का यह स्पष्ट अभिमत है कि असत् से सत् कभी उत्पन्न नहीं होता। इस जगत् में नवीन कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। जो द्रव्य जितना वर्तमान में है, वह भविष्य में भी उतना ही रहेगा और अतीत में भी उतना ही था। रूपान्तरण की दृष्टि से ही उत्पाद और विनाश होता है। यह रूपान्तरण ही सृष्टि का मूल है।

अजीव द्रव्य के धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय क्रमशः गति, स्थिति, अवकाश, परिवर्तन, संयोग और वियोगशील तत्त्व पर आधृत हैं। मूर्त्त और अमूर्त्त का विभाग शतपथब्राह्मण,[३०४] बृहदारण्यक[३०५] और विष्णुपुराण[३०६] में हुआ है। पर

जैन आगम-साहित्य में मूर्त्त और अमूर्त्त के स्थान पर रूपी और अरूपी शब्द अधिक मात्रा में व्यवहृत हुए हैं। जिस द्रव्य में वर्ण, रस, गंध और स्पर्श हो वह रूपी है और जिसमें इनका अभाव हो वह अरूपी है। पुद्गल द्रव्य को छोड़कर शेष चार द्रव्य अरूपी हैं।[३०७] अरूपी द्रव्य जन-सामान्य के लिए अगम्य हैं। उनके लिए केवल पुद्गल द्रव्य गम्य है। पुद्गल के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार प्रकार हैं। परमाणु पुद्गल का सबसे छोटा विभाग है। इससे छोटा अन्य विभाग नहीं हो सकता। स्कन्ध उनके समुदाय का नाम है। देश और प्रदेश ये दोनों पुद्गल के काल्पनिक विभाग हैं। पुद्गल की वास्तविक इकाई परमाणु है। परमाणु रूपी होने पर भी सूक्ष्म होते हैं। इसलिए वे दृश्य नहीं हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म स्कन्ध भी दृग्गोचर नहीं होते।

आगम-साहित्य में परमाणुओं की चर्चा बहुत विस्तार के साथ की गई है। जैनदर्शन का मन्तव्य है–इस विराट् विश्व में जितना भी सांयोगिक परिवर्तन होता है, वह परमाणुओं के आपसी संयोग-वियोग और जीव-परमाणुओं के संयोग-वियोग से होता है। 'भारतीय संस्कृति' ग्रन्थ में शिवदत्त ज्ञानी ने लिखा है–"परमाणुवाद वैशेषिक दर्शन की ही विशेषता है। उसका आरम्भ-प्रारम्भ उपनिषदों से होता है। जैन आजीवक आदि के द्वारा भी उसका उल्लेख किया गया है। किन्तु कणाद ने उसे व्यवस्थित रूप दिया।"[३०८] पर शिवदत्त ज्ञानी का यह लिखना पूर्ण प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि उपनिषदों का मूल परमाणु नहीं, ब्रह्मविवेचन है। डॉ. हर्मन जैकोबी ने परमाणु सिद्धान्त के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है–"हम जैनों को प्रथम स्थान देते हैं, क्योंकि उन्होंने पुद्गल के सम्बन्ध में अतीव प्राचीन मतों के आधार पर अपनी पद्धति को संस्थापित किया है।"[३०९] हम यहाँ अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही यह बताना चाहते हैं कि अजीव द्रव्य का जैसा निरूपण जैनदर्शन में व्यवस्थित रूप से हुआ है, वैसा अन्य दर्शनों में नहीं हुआ।

अजीव की तरह जीवों के भी भेद-प्रभेद किये गये हैं। वे विभिन्न आधारों से हुए हैं। एक विभाजन काय को आधार मानकर किया गया है, वह है–स्थावरकाय और त्रसकाय। जिनमें गमन करने की क्षमता का अभाव है, वह स्थावर हैं। जिनमें गमन करने की क्षमता है, वह त्रस हैं। स्थावर जीवों के पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति ये पाँच विभाग हैं। तेज और वायु एकेन्द्रिय होने तथा स्थावर नामकर्म का उदय होने से स्थावर होने पर भी गति-त्रस भी कहलाते हैं। प्रत्येक विभाग के सूक्ष्म और स्थूल ये दो विभाग किये

गये हैं। सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं और स्थूल जीव लोक के कुछ भागों में होते हैं। स्थूल पृथ्वी के मृदु और कठिन ये दो प्रकार हैं। मृदु पृथ्वी के सात प्रकार हैं तो कठिन पृथ्वी के छत्तीस प्रकार हैं। स्थूल जल के पाँच प्रकार हैं, स्थूल वनस्पति के प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर ये दो प्रकार हैं। जिनके एक शरीर में एक जीव स्वामी रूप में होता है, वह प्रत्येकशरीर है। जिसके एक शरीर में अनन्त जीव स्वामी रूप में होते हैं, वह साधारणशरीर है। प्रत्येकशरीर वनस्पति के बारह प्रकार हैं तो साधारणशरीर वनस्पति के अनेक प्रकार हैं।

त्रस जीवों के इन्द्रियों की अपेक्षा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये चार प्रकार हैं।[३१०] द्वीन्द्रिय आदि अभिप्रायपूर्वक गमन करते हैं। वे आगे भी बढ़ते हैं तथा पीछे भी हटते हैं। संकुचित होते हैं, फैलते हैं, भयभीत होते हैं, दौड़ते हैं। उनमें गति और आगति दोनों होती हैं। वे सभी त्रस हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिमज होते हैं। पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिज और गर्भज ये दोनों प्रकार के होते हैं। गति की दृष्टि से पंचेन्द्रिय के नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार प्रकार हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच के जलचर, स्थलचर, खेचर ये तीन प्रकार हैं।[३११] जलचर के मत्स्य, कच्छप आदि अनेक प्रकार हैं। स्थलचर की चतुष्पद और परिसर्प ये दो मुख्य जातियाँ हैं।[३१२] चतुष्पद के एक खुर वाले, दो खुर वाले, गोल पैर वाले, नख सहित पैर वाले ये चार प्रकार हैं। परिसर्प की भुजपरिसर्प, उरपरिसर्प ये दो मुख्य जातियाँ हैं। खेचर की चर्मपक्षी, रोमपक्षी, समुद्गकपक्षी और विततपक्षी ये चार मुख्य जातियाँ हैं।

जीव के संसारी और सिद्ध ये दो प्रकार भी हैं। कर्ममुक्त जीव संसारी और कर्मयुक्त सिद्ध हैं। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप से जीव कर्मबन्धनों से मुक्त बनता है। सिद्ध जीव पूर्ण मुक्त होते हैं, जबकि संसारी जीव कर्ममुक्त होने के कारण नाना रूप धारण करते रहते हैं।

षट्द्रव्यों में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही सक्रिय हैं, शेष चारों द्रव्य निष्क्रिय हैं। जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य कथंचित् विभाव रूप में परिणमते हैं। शेष चारों द्रव्य सदा-सर्वदा स्वाभाविक परिणमन को ही लिये रहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, ये तीनों द्रव्य संख्या की दृष्टि से एक-एक हैं। कालद्रव्य असंख्यात हैं। जीवद्रव्य अनन्त हैं और पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में संकोच और विस्तार होता है किन्तु शेष चार द्रव्यों में

संकोच और विस्तार नहीं होता। आकाशद्रव्य अखण्ड होने पर भी उसके लोकाकाश और अलोकाकाश ये दो विभाग किए गए हैं। जिसमें धर्म, अधर्म, काल, जीव, पुद्गल ये पाँच द्रव्य रहते हैं, वह आकाशखण्ड लोकाकाश है। जहाँ इनका अभाव है, सिर्फ आकाश ही है वह अलोकाकाश है। धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य सदा लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित हैं, जबकि अन्य द्रव्यों की वैसी स्थिति नहीं है।

पुद्गलद्रव्य के अणु और स्कन्ध ये दो प्रकार हैं। अणु का अवगाह्य क्षेत्र आकाश का एक प्रदेश है और स्कन्धों की कोई नियत सीमा नहीं है। दोनों प्रकार के पुद्गल अनन्त-अनन्त हैं।[३९३]

कालद्रव्य द्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी होता है। समय, पल, घड़ी, घंटा, मुहूर्त्त, प्रहर, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि के भेदों को लेकर वह भी आदि-अन्त सहित है। द्रव्य की अपेक्षा अनादि-निधन है।

प्रज्ञापना[३९४] तथा जीवाजीवाभिगम[३९५] सूत्रों में विविध दृष्टियों से जीव और अजीव के भेद-प्रभेद किये गये हैं। हमने यहाँ पर प्रस्तुत आगम में आये हुए विभागों को लेकर ही संक्षेप में चिन्तन किया है। प्रस्तुत अध्ययन के अन्त में समाधिमरण का भी सुन्दर निरूपण हुआ है। इस तरह यह आगम ज्ञान-विज्ञान व अध्यात्म-चिन्तन का अक्षय कोश है।

व्याख्या-साहित्य

उत्तराध्ययननिर्युक्ति

मूल ग्रन्थ के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने समय-समय पर व्याख्या-साहित्य का निर्माण किया है। जैसे वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिए महर्षि यास्क ने निघंटु भाष्य रूप निर्युक्ति लिखी वैसे ही आचार्य भद्रबाहु ने जैन आगमों के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए प्राकृत भाषा में निर्युक्तियों की रचना की। आचार्य भद्रबाहु ने दश निर्युक्तियों की रचना की। उनमें उत्तराध्ययन पर भी एक निर्युक्ति है। इस निर्युक्ति में छह सौ सात गाथाएँ हैं। इसमें अनेक पारिभाषिक शब्दों का निक्षेप पद्धति से व्याख्यान किया गया है और अनेक शब्दों के विविध पर्याय भी दिये हैं। सर्वप्रथम उत्तराध्ययन शब्द की परिभाषा करते हुए उत्तरपद का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, दिशा, ताप-क्षेत्र, प्रज्ञापक, प्रति, काल, संचय, प्रधान, ज्ञान, क्रम,

गणना और भाव इन पन्द्रह निक्षेपों से चिन्तन किया है।[३१६] उत्तर का अर्थ क्रमोत्तर किया है।[३१७]

निर्युक्तिकार ने अध्ययन पद पर विचार करते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार द्वारों से 'अध्ययन' पर प्रकाश डाला है। प्राग् बद्ध और बध्यमान कर्मों के अभाव से आत्मा को जो अपने स्वभाव में ले जाना है, वह अध्ययन है। दूसरे शब्दों में कहें तो–जिससे जीवादि पदार्थों का अधिगम है या जिससे अधिक प्राप्ति होती है अथवा जिससे शीघ्र ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि होती है, वह अध्ययन है।[३१८] अनेक भवों से आते हुए अष्ट प्रकार के कर्म-रज का जिससे क्षय होता है, वह भावाध्ययन है। निर्युक्ति में पहले पिण्डार्थ और उसके पश्चात् प्रत्येक अध्ययन की विशेष व्याख्या की गई है। प्रथम अध्ययन का नाम विनयश्रुत है। श्रुत का भी नाम आदि चार निक्षेपों से विचार किया है। निह्नव आदि द्रव्य-श्रुत हैं और जो श्रुत में उपयुक्त है वह भाव-श्रुत है। संयोग शब्द की भी विस्तार से व्याख्या की है। संयोग सम्बन्ध संसार का कारण है। उससे जीव कर्म में आबद्ध होता है। उस संयोग से मुक्त होने पर ही वास्तविक आनन्द की उपलब्धि होती है।[३१९]

द्वितीय अध्ययन में परीषह पर भी निक्षेप दृष्टि से विचार है। द्रव्य निक्षेप आगम और नो-आगम के भेद से दो प्रकार का है। नो-आगम परीषह, ज्ञायक-शरीर, भव्य और तद् व्यतिरिक्त इस प्रकार तीन प्रकार का है। कर्म और नोकर्म रूप से द्रव्य परीषह के दो प्रकार हैं। नोकर्म रूप द्रव्य परीषह सचित्त, अचित्त और मिश्र रूप से तीन प्रकार के हैं। भाव परीषह में कर्म का उदय होता है। उसके कुतः, कस्य, द्रव्य, समवतार, अध्यास, नय, वर्तना, काल, क्षेत्र, उद्देश, पृच्छा, निर्देश और सूत्रस्पर्श ये तेरह द्वार हैं।[३२०] क्षुत् पिपासा की विविध उदाहरणों के द्वारा व्याख्या की है।

तृतीय अध्ययन में चतुरंगीय शब्द की निक्षेप पद्धति से व्याख्या की है और अंग का भी नामाङ्ग, स्थापनाङ्ग, द्रव्याङ्ग और भावाङ्ग के रूप में चिन्तन करते हुए द्रव्याङ्ग के गंधाङ्ग, औषधाङ्ग, मद्याङ्ग, आतोद्याङ्ग, शरीराङ्ग और युद्धाङ्ग ये छह प्रकार बताये हैं। गंधाङ्ग के जमदग्नि जटा, हरेणुका, शबर निवसनक (तमालपत्र), सपिन्निक, मल्लिकावासित, औसीर, हबेर, भद्रदारु, शतपुष्पा आदि भेद हैं। इनसे स्नान और विलेपन किया जाता था। औषधाङ्ग गुटिका में पिण्डदारु, हरिद्रा, माहेन्द्रफल, सुण्ठी, पिप्पली, मरिच, आर्द्रक, बिल्वमूल और

पानी ये अष्ट वस्तुएँ मिली हुई होती हैं। इससे कण्डु, तिमिर, अर्ध-शिरोरोग, पूर्ण शिरोरोग, तात्तीरीक, चातुर्थिक, ज्वर, मूषकदंश, सर्पदंश शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।[३२१] द्राक्षा के सोलह भाग, धातकीपुष्प के चार भाग, एक आढ़क इक्षुरस इनसे मद्याङ्ग बनता है। एक मुकुन्दातुर्य, एक अभिमारदारुक, एक शाल्मली पुष्प, इनके बंध से पुष्पोन्मिश्र बाल बंध विशेष होता है। सिर, उदर, पीठ, बाहु, उरु, ये शरीराङ्ग हैं। युद्धाङ्ग के भी यान, आवरण, प्रहरण, कुशलत्व, नीति, दक्षत्व, व्यवसाय, शरीर, आरोग्य ये नौ प्रकार बताये गये हैं। भावाङ्ग के श्रुताङ्ग और नो-श्रुतांग ये दो प्रकार हैं। श्रुताङ्ग के आचार आदि बारह प्रकार हैं। नो-श्रुतांग के चार प्रकार हैं। ये चार प्रकार ही चतुरंगीय के रूप में विश्रुत हैं। मानव-भव की दुर्लभता विविध उदाहरणों के द्वारा बताई गई हैं। मानव-भव प्राप्त होने पर भी धर्म का श्रवण कठिन है और उस पर श्रद्धा करना और भी कठिन है। श्रद्धा पर चिन्तन करते हुए जमालि आदि सात निह्नवों का परिचय दिया गया है।[३२२]

चतुर्थ अध्ययन का नाम असंस्कृत है। प्रमाद और अप्रमाद दोनों पर निक्षेप दृष्टि से विचार किया गया है। जो उत्तरकरण से कृत अर्थात् निर्वर्तित है, वह संस्कृत है। शेष असंस्कृत हैं। करण का भी नाम आदि छह निक्षेपों से विचार है। द्रव्यकरण के संज्ञाकरण और नोसंज्ञाकरण ये दो प्रकार हैं। संज्ञाकरण के कटकरण, अर्थकरण और वेलुकरण ये तीन प्रकार हैं। नो-संज्ञाकरण के प्रयोगकरण और विस्रसाकरण ये दो प्रकार हैं। विस्रसाकरण के सादिक और अनादिक ये दो भेद हैं। अनादि के धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन प्रकार हैं। सादिक के चतुस्पर्श, अचतुस्पर्श ये दो प्रकार हैं। इस प्रकार प्रत्येक के भेद-प्रभेद करके उन सभी की चर्चा करते हैं। इस निर्युक्ति में यत्र-तत्र अनेक शिक्षाप्रद कथानक भी दिये हैं। जैसे–गंधार, श्रावक, तोसलीपुत्र, स्थूलभद्र, स्कन्दकपुत्र, ऋषि पाराशर, कालक, करकण्डू आदि प्रत्येकबुद्ध, हरिकेश, मृगापुत्र आदि। निह्नवों के जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है। भद्रबाहु के चार शिष्यों का राजगृह के वैभार पर्वत की गुफा में शीत परीषह से और मुनि सुवर्णभद्र के मच्छरों के घोर उपसर्ग से कालगत होने का उल्लेख भी है। इसमें अनेक उक्तियाँ सूक्तियों के रूप में हैं। उदाहरण के रूप में देखिए–

"राई सरिसवमित्ताणि, परछिद्दाणि पाससि।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि, पासंतोऽवि न पाससि॥"

अर्थात् तू राई के बराबर दूसरों के दोषों को तो देखता है पर बिल्व जितने बड़े स्वयं के दोषों को देखकर भी नहीं देखता है।

"सुहिओ हु जणो न वुज्झई।"

अर्थात् सुखी मनुष्य प्रायः जल्दी नहीं जाग पाता।

"भावंमि उ पव्वज्जा, आरम्भपरिग्गहच्चाओ।"

अर्थात् हिंसा और परिग्रह का त्याग ही वस्तुतः भाव-प्रव्रज्या है।

उत्तराध्ययनभाष्य

निर्युक्तियों की व्याख्या शैली बहुत ही गूढ़ और संक्षिप्त थी। निर्युक्तियों का लक्ष्य केवल पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना था। निर्युक्तियों के गुरु गम्भीर रहस्यों को प्रकट करने के लिए भाष्यों का निर्माण हुआ। भाष्य भी प्राकृत भाषा में ही पद्य रूप में लिखे गये। भाष्यों में अनेक स्थलों पर मागधी और सौरसेनी के प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं। उनमें मुख्य छन्द आर्या है। उत्तराध्ययनभाष्य स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध नहीं है। शान्तिसूरि जी की प्राकृत टीका में भाष्य की गाथाएँ मिलती हैं। कुल गाथाएँ ४५ हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि अन्य भाष्यों की गाथाओं के सदृश इस भाष्य की गाथाएँ भी निर्युक्ति के पास मिल गई हैं। प्रस्तुत भाष्य में बोटिक की उत्पत्ति, पुलाक, बवुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक आदि निर्ग्रन्थों के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

उत्तराध्ययनचूर्णि

भाष्य के पश्चात् चूर्णि-साहित्य का निर्माण हुआ। निर्युक्ति और भाष्य पद्यात्मक हैं तो चूर्णि गद्यात्मक है। चूर्णि में प्राकृत और संस्कृत मिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ है। उत्तराध्ययनचूर्णि उत्तराध्ययननिर्युक्ति के आधार पर लिखी गई है। इसमें संयोग, पुद्गल बंध, संस्थान, विनय, क्रोधावरण, अनुशासन, परीषह, धर्मविघ्न, मरण, निर्ग्रन्थ-पंचक, भयसप्तक, ज्ञान-क्रिया, एकान्त प्रभृति विषयों पर उदाहरण सहित प्रकाश डाला है। चूर्णिकार ने विषयों को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन ग्रन्थों के उदाहरण भी दिए हैं। उन्होंने अपना परिचय देते हुए स्वयं को वाणिज्यकुलीन कोटिकगणीय, वज्रशाखी, गोपालगणी महत्तर का अपने आपको शिष्य कहा है।[३२३]

दशवैकालिक और उत्तराध्ययनचूर्णि ये दोनों एक ही आचार्य की कृतियाँ हैं, क्योंकि स्वयं आचार्य ने चूर्णि में लिखा है–"मैं प्रकीर्ण तप का वर्णन दशवैकालिकचूर्णि में कर चुका हूँ।" इससे स्पष्ट है कि दशवैकालिकचूर्णि के पश्चात् ही उत्तराध्ययनचूर्णि की रचना हुई है।

उत्तराध्ययन की टीकाएँ

शिष्यहितावृत्ति (पाइअ टीका)

निर्युक्ति एवं भाष्य प्राकृत भाषा में थे। चूर्णि में प्रधान रूप से प्राकृत भाषा का गौण रूप से संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ। उसके बाद संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखी गईं। टीकाएँ संक्षिप्त और विस्तृत दोनों प्रकार की मिलती हैं। उत्तराध्ययन के टीकाकारों में सर्वप्रथम नाम वादीवैताल शान्तिसूरि का है। महाकवि धनपाल के आग्रह से शान्तिसूरि ने चौरासी वादियों को सभा में पराजित किया जिससे राजा भोज ने उन्हें 'वादीवैताल' की उपाधि प्रदान की। उन्होंने महाकवि धनपाल की तिलकमंजरी का संशोधन किया था।

उत्तराध्ययन की टीका का नाम शिष्यहितावृत्ति है। इस टीका में प्राकृत की कथाओं व उद्धरणों की बहुलता होने के कारण इसका दूसरा नाम पाइअ टीका भी है। यह टीका मूलसूत्र और निर्युक्ति इन दोनों पर है। टीका की भाषा सरस और मधुर है। विषय की पुष्टि के लिए भाष्य-गाथाएँ भी दी गई हैं और साथ ही पाठान्तर भी। प्रथम अध्ययन की व्याख्या में नय का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। नय की संख्या पर चिन्तन करते हुए लिखा है–पूर्वविदों ने संकलनयसंग्राही सात सौ नयों का विधान किया है। उस समय 'सप्तशत शतार नयचक्र' विद्यमान था। तत्संग्राही विधि आदि का निरूपण करने वाला बारह प्रकार के नयों का 'द्वादशारनयचक्र' भी विद्यमान था और वह वर्तमान में भी उपलब्ध है।

द्वितीय अध्ययन में वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ने ईश्वर की जो कल्पना की और वेदों को अपौरुषेय कहा, उस कल्पना को मिथ्या बताकर तार्किक दृष्टि से उसका समाधान किया। अचेल परीषह पर विवेचन करते हुए लिखा–वस्त्र धर्म-साधना में एकान्त रूप से बाधक नहीं है। धर्म का मूल रूप से बाधक तत्त्व कषाय है। कषाययुक्त धारण किया गया वस्त्र पात्रादि की तरह बाधक है। जो धार्मिक साधना के लिए वस्त्रों को धारण करता है, वह साधक है।

चौथे अध्ययन में जीव-प्रकरण पर विचार करते हुए जीव-भावकरण के श्रुतकरण और नो-श्रुतकरण ये दो भेद किये गये हैं। पुनः श्रुतकरण के बद्ध और अबद्ध ये दो भेद हैं। बद्ध के निशीथ और अनिशीथ ये दो भेद हैं। उनके भी लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किये गये हैं। निशीथसूत्र आदि लोकोत्तर निशीथ है और बृहदारण्यक आदि लौकिक निशीथ हैं। आचारांग आदि लोकोत्तर अनिशीथ श्रुत हैं। पुराण आदि लौकिक अनिशीथ श्रुत हैं। लौकिक और लोकोत्तर भेद से अबद्ध श्रुत के भी दो प्रकार हैं। अबद्ध श्रुत के लिए अनेक कथाएँ दी गई हैं।

प्रस्तुत टीका में विशेषावश्यकभाष्य, उत्तराध्ययनचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, सप्तशतारनयचक्र, निशीथ, बृहदारण्यक, उत्तराध्ययनभाष्य, स्त्रीनिर्वाणसूत्र आदि ग्रन्थों के निर्देश हैं। साथ ही जिनभद्र, भर्तृहरि, वाचक सिद्धसेन, वाचक अश्वसेन, वात्स्यायल, शिव शर्मन, हारिल्लवाचक, गंधहस्तिन्, जिनेन्द्रबुद्धि प्रभृति व्यक्तियों के नाम भी आये हैं। वादीवैताल शान्तिसूरि का समय विक्रम की ग्यारहवीं शती है।

सुखबोधावृत्ति

उत्तराध्ययन पर दूसरी टीका आचार्य नेमिचन्द्र की सुखबोधावृत्ति है। नेमिचन्द्र का अपरनाम देवेन्द्रगणी भी था। प्रस्तुत टीका में उन्होंने अनेक प्राकृतिक आख्यान भी उट्टंकित किये हैं। उनकी शैली पर आचार्य हरिभद्र और वादीवैताल शान्तिसूरि का अधिक प्रभाव है। शैली की सरलता व सरसता के कारण उसका नाम सुखबोधा रखा गया है। वृत्ति में सर्वप्रथम तीर्थंकर, सिद्ध, साधु, श्रुत, देवता को नमस्कार किया गया है। वृत्तिकार ने वृत्ति-निर्माण का लक्ष्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शान्ताचार्य की वृत्ति गम्भीर और बहुत अर्थ वाली है। ग्रन्थ के अन्त में स्वयं को गच्छ, गुरुभ्राता, वृत्ति-रचना के स्थान, समय आदि का निर्देश किया है। आचार्य नेमिचन्द्र बृहद्गच्छीय उद्योतनाचार्य के प्रशिष्य उपाध्याय आम्रदेव के शिष्य थे। उनके गुरुभ्राता का नाम मुनिचन्द्रसूरि था, जिनकी प्रबल प्रेरणा से ही उन्होंने बारह हजार श्लोक प्रमाण इस वृत्ति की रचना की। विक्रम संवत् ११२९ में वृत्ति अणहिलपाटन में पूर्ण हुई।[३२४]

उसके पश्चात् उत्तराध्ययन पर अन्य अनेक विज्ञ मुनि तथा अन्य अनेक विभिन्न सन्तों व आचार्यों ने वृत्तियाँ लिखी हैं। हम यहाँ संक्षेप में सूचन कर रहे

उदार सहयोगी

परम गुरुभक्त डॉ. चम्पालाल जी देसरडा

धर्मशीला सौ. प्रभादेवी चम्पालाल जी देसरडा

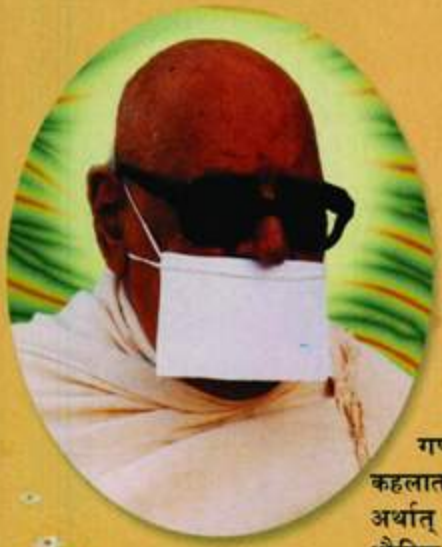

आशीर्वचन

गणनायक आचार्य 'गणी' कहलाता है। गणी की आठ संपदा अर्थात् उनके आध्यात्मिक एवं भौतिक व्यक्तित्व का वैभव होता है।

सबसे प्रथम है आचार संपदा। आचार्य शुद्ध निर्मल चारित्रवान हो, धीर-गंभीर स्वभाव का हो। दूसरी है-श्रुत-संपदा। शास्त्रों का आदर एवं श्रद्धा पूर्वक अध्ययन करने वाला। सूत्र वे अर्थ का गंभीर ज्ञान रखने वाला तथा स्व समय-परसमय का ज्ञाता हो। इसी प्रकार शरीर-संपदा प्रभावशाली ओज-तेज युक्त संपूर्ण इन्द्रिय वाला। वचन-संपदा में विवेकपूर्ण आदेय वचन का धनी, शालीन व मधुर भाषण करने वाला।

आचार्य देवेन्द्र मुनि को अपने शिष्य की भूमिका से ऊपर जब एक आचार्य के रूप में देखता हूँ तो विश्वास और गौरव के साथ कह सकता हूँ उनमें गणी संपदा की ये चार सम्पदायें देखकर मेरा मन सन्तुष्ट और प्रसन्न होता है।

छोटी उम्र में वैराग्य-विवेक और ज्ञान की जो त्रिवेणी उनमें देखने को मिली, वह किसी भी गुरू के लिए गौरवशाली है। अथक परिश्रम करके जैन श्रुत साहित्य की जो बहुमुखी सेवाएं उन्होंने की हैं तथा कर रहे हैं, वह आने वाले युग में एक आश्चर्य का विषय बन जायेगी। आचार्य पद का दायित्व संभालने के पश्चात् यद्यपि वे श्रुत-सेवा में इतना समय नहीं दे पा रहे हैं परन्तु संघ की सेवा, धर्म की प्रभावना के रूप में वे अपने कर्त्तव्यों का बड़ी सजगता और कुशलता पूर्वक निवाह कर रहे हैं और करते रहेंगे यही मेरी हार्दिक शुभेच्छा है।

-उपाध्याय पुष्कर मुनि

हैं। विनयहंस ने उत्तराध्ययन पर एक वृत्ति का निर्माण किया। विनयहंस कहाँ के थे? यह अन्वेषणीय है। संवत् १५५२ में कीर्तिवल्लभ ने, संवत् १५५४ में उपाध्याय कमलसंयत ने, संवत् १५५० में तपोरत्न वाचक, गुणशेखर तथा लक्ष्मीवल्लभ ने, संवत् १६८९ में भावविजय तथा हर्षनन्दगणी ने, संवत् १७५० में उपाध्याय धर्ममन्दिर ने, संवत् १५४६ में उदयसागर, मुनिचन्द्रसूरि, ज्ञानशीलगणी, अजितचन्द्रसूरि, राजशील, उदयविजय, मेघराज वाचक, नगरसीगणी, अजितदेवसूरि, माणक्यशेखर, ज्ञानसागर आदि अनेक मनीषियों ने उत्तराध्ययन पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखीं। उनमें से कितनीक टीकाएँ विस्तृत हैं तो कितनी ही संक्षिप्त हैं। कितनी टीकाओं में विषय को सरल व सुबोध बनाने के लिए प्रसंगानुसार कथाओं का भी उपयोग किया गया है।

लोकभाषाओं में अनुवाद और व्याख्याएँ

संस्कृत प्राकृत भाषाओं की टीकाओं के पश्चात् विविध लोकभाषाओं में संक्षिप्त टीकाओं का युग प्रारम्भ हुआ। संस्कृत भाषा की टीकाओं में विषय को सरल व सुबोध बनाने का प्रयास हुआ था, साथ ही उन टीकाओं में जीव, जगत्, आत्मा, परमात्मा, द्रव्य आदि की दार्शनिक गम्भीर चर्चाएँ होने के कारण जन-सामान्य के लिए उन्हें समझना बहुत ही कठिन था। अतः लोकभाषाओं में सरल और सुबोध शैली में बालावबोध की रचनाएँ प्रारम्भ हुईं। बालावबोध के रचयिताओं में पार्श्वचन्द्रगणी और आचार्य मुनि धर्मसिंह जी का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है।

बालावबोध के बाद आगमों के अनुवाद अंग्रेजी, गुजराती और हिन्दी इन तीन भाषाओं में मुख्य रूप से हुए हैं। जर्मन विद्वान् डॉ. हरमन जैकोबी ने चार आगमों का अंग्रेजी में अनुवाद किया, उनमें उत्तराध्ययन भी एक है। वह अनुवाद सन् १८९५ में ऑक्सफोर्ड से प्रकाशित हुआ। उसके पश्चात् वही अनुवाद सन् १९६४ में मोतीलाल बनारसीदास (दिल्ली) ने प्रकाशित किया। अंग्रेजी प्रस्तावना के साथ उत्तराध्ययन जार्ल चारपेण्टियर, उप्पसाला ने सन् १९२२ में प्रकाशित किया। सन् १९५४ में आर. डी. वाडेकर और वैद्य पूना द्वारा मूल ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। सन् १९३८ में गोपालदास जीवाभाई पटेल ने गुजराती छायानुवाद, सन् १९३४ में हीरालाल हंसराज (जामनगर वालों) ने अपूर्ण गुजराती अनुवाद प्रकाशित किया। सन् १९५२ में गुजरात विद्यासभा,

अहमदाबाद से गुजराती अनुवाद टिप्पणों के साथ एक से अठारह अध्ययन प्रकाशित हुए। सन् १९५४ में जैन प्राच्य विद्या भवन, अहमदाबाद से गुजराती अर्थ एवं धर्मकथाओं के साथ एक से पन्द्रह अध्ययन प्रकाशित हुए। संवत् १९९२ में मुनि सन्तबाल जी ने भी गुजराती अनुवाद प्रकाशित किया। वीर संवत् २४४६ में आचार्य अमोलक ऋषि जी ने हिन्दी अनुवाद सहित उत्तराध्ययन का संस्करण निकाला। वीर संवत् २४८९ में श्री रतनलाल जी डोशीसैलाना ने तथा विक्रम संवत् २०१० में पं. घेवरचन्द जी बांठिया, बीकानेर ने एवं विक्रम संवत् १९९२ में श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस, बम्बई द्वारा मुनि सौभाग्यचन्द्र सन्तबाल जी ने हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया।

सन् १९३९ से १९४२ तक उपाध्याय श्री आत्माराम जी म. ने जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर से उत्तराध्ययन पर हिन्दी में विस्तृत विवेचन किया। उपाध्याय श्री आत्माराम जी म. का यह विवेचन भावपूर्ण, सरल और आगम के रहस्य को स्पष्ट करने में सक्षम है। सन् १९६७ में मुनि नथमल जी ने मूल, छाया, अनुवाद, टिप्पणयुक्त अभिनव संस्करण श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता से प्रकाशित किया है। इस संस्करण के टिप्पण भावपूर्ण हैं।

सन् १९५९ से १९६१ तक पूज्य श्री घासीलाल जी म. ने उत्तराध्ययन पर संस्कृत टीका का निर्माण किया था। वह टीका हिन्दी, गुजराती अनुवाद के साथ जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट से प्रकाशित हुई। सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा से साध्वी श्री चन्दना जी ने मूल व भावानुवाद तथा संक्षिप्त टिप्पणों के साथ उत्तराध्ययन का संस्करण प्रकाशित किया है। उसका श्री दुर्लभ जी केशव जी खेताणी द्वारा गुजराती में अनुवाद भी बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

आगम-प्रभावक श्री पुण्यविजय जी म. ने प्राचीनतम प्रतियों के आधार पर विविध पाठान्तरों के साथ जो शुद्ध आगम संस्करण महावीर विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित करवाये हैं उनमें उत्तराध्ययन भी है। धर्मोपदेष्टा श्री फूलचन्द जी म. ने 'मूलसुत्तागमे' में, मुनि श्री कन्हैयालाल जी कमल ने 'मूलसुत्ताणि' में, महासती श्री शीलकुँवर जी ने 'स्वाध्याय सुधा' में और इनके अतिरिक्त पन्द्रह-बीस स्थानों से मूल पाठ प्रकाशित हुआ है। आधुनिक युग में शताधिक

श्रमण-श्रमणियाँ उत्तराध्ययन को कंठस्थ करते हैं तथा प्रतिदिन उसका स्वाध्याय भी। इससे उत्तराध्ययन की महत्ता स्वयं सिद्ध है। उत्तराध्ययन के हिन्दी में पद्यानुवाद भी अनेक स्थलों से प्रकाशित हुए हैं। उनमें श्रमणसूर्य मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी म. तथा आचार्य श्री हस्तीमल जी म. के पद्यानुवाद पठनीय हैं। इस तरह आज तक उत्तराध्ययन पर अत्यधिक कार्य हुआ है।

प्रस्तुत सम्पादन (आगम समिति, ब्यावर का)

उत्तराध्ययन के विभिन्न संस्करण समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं और उन संस्करणों का अपने आप में विशिष्ट महत्त्व भी रहा है। प्रस्तुत संस्करण आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.) के अन्तर्गत प्रकाशित होने जा रहा है। इस ग्रन्थमाला के संयोजक और प्रधान सम्पादक हैं–श्रमणसंघ के युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म.। श्री मधुकर मुनि जी म. शान्त प्रकृति के मूर्धन्य मनीषी सन्तरत्न हैं। उनका संकल्प है–आगम-साहित्य को अधुनातन भाषा में प्रकाशित किया जाए। उसी संकल्प को मूर्त्तरूप देने के लिए ही स्वल्पावधि में अनेक आगमों के अभिनव संस्करण प्रबुद्ध पाठकों के कर-कमलों में पहुँच चुके हैं जिससे जिज्ञासुओं को आगम के रहस्य समझने में सहूलियत हो गई है। उसी पवित्र लड़ी की कड़ी में उत्तराध्ययन का यह अभिनव संस्करण है।

इस संस्करण की यह मौलिक विशेषता है कि इसमें शुद्ध मूल पाठ है, भावानुवाद है और साथ ही विशेष स्थलों पर आगम के गम्भीर रहस्य को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन व्याख्या-साहित्य के आधार पर सरल और सरस विवेचन भी है। विषय गम्भीर होने पर भी प्रस्तुतीकरण सरल और सुबोध है। इसके सम्पादक, विवेचक और अनुवादक हैं–श्री राजेन्द्र मुनि साहित्यरत्न, शास्त्री, काव्यतीर्थ, 'जैन सिद्धान्ताचार्य', जो परम श्रद्धेय, राजस्थानकेसरी, अध्यात्मयोगी, उपाध्याय पूज्य सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी म. के प्रशिष्य हैं, जिन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं में लिखा है। उनका आगम सम्पादन का यह प्रथम प्रयास प्रशंसनीय है। यदि युवाचार्यश्री का अत्यधिक आग्रह नहीं होता तो सम्भव है, इस सम्पादन-कार्य में और भी अधिक विलम्ब होता। पर युवाचार्यश्री की प्रबल प्रेरणा ने मुनि जी को शीघ्र कार्य सम्पन्न करने के लिए

उत्प्रेरित किया। तथापि मुनि जी ने बहुत ही निष्ठा के साथ यह कार्य सम्पन्न किया है, इसलिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

उत्तराध्ययन एक ऐसा विशिष्ट आगम है, जिसमें चारों अनुयोगों का सुन्दर समन्वय हुआ है। यद्यपि उत्तराध्ययन की परिगणना धर्मकथानुयोग में की गई है, क्योंकि इसके छत्तीस अध्ययनों में से चौदह अध्ययन धर्मकथात्मक हैं। प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और दशम ये छह अध्ययन उपदेशात्मक हैं। इन अध्ययनों में साधकों को विविध प्रकार से उपदेशात्मक प्रेरणाएँ दी गई हैं। द्वितीय, ग्यारहवाँ, सोलहवाँ, सत्तरहवाँ, चौबीसवाँ, छब्बीसवाँ, बत्तीसवाँ और पैंतीसवाँ अध्ययन आचारात्मक हैं। इन अध्ययनों में श्रमणाचार का गहराई से विश्लेषण हुआ है। अट्ठाईसवाँ, उनतीसवाँ, तीसवाँ, इकतीसवाँ, तेतीसवाँ, चौंतीसवाँ, छत्तीसवाँ ये सात अध्ययन सैद्धान्तिक हैं। इन अध्ययनों में सैद्धान्तिक विश्लेषण गम्भीरता के साथ हुआ है। छत्तीस अध्ययनों में चौदह अध्ययन धर्मकथात्मक होने से इसे धर्मकथानुयोग में लिया गया है। विषय-बाहुल्य होने के कारण प्रत्येक विषय पर बहुत ही विस्तार के साथ सहज रूप से लिखा जा सकता है। मैंने प्रस्तावना में न अतिसंक्षिप्त और न अतिविस्तृत शैली को ही अपनाया है। अपितु मध्यम शैली को आधार बनाकर उत्तराध्ययन में आये हुए विविध विषयों पर चिन्तन किया है। यदि विस्तार के साथ उन सभी पहलुओं पर लिखा जाता तो एक विराट्काय ग्रन्थ सहज रूप से बन सकता था।

उत्तराध्ययन की तुलना श्रीमद् भागवत गीता के साथ की जा सकती है। इस दृष्टि से प्रतिभामूर्ति पं. मुनि श्री सन्तबाल जी ने **'जैन दृष्टिए गीता'** नामक ग्रन्थ में प्रयास किया है। इसी तरह कुछ विद्वानों ने उत्तराध्ययन की तुलना 'धम्मपद' के साथ करने का भी प्रयत्न किया है। समन्वयात्मक दृष्टि से यह प्रयास प्रशंसनीय है। पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी से उत्तराध्ययन पर 'उत्तराध्ययन : एक परिशीलन' के रूप में शोध प्रबन्ध भी प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार उत्तराध्ययन पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, संस्कृत भाषाओं में अनेक टीकाएँ और उसके पश्चात् विपुल मात्रा में हिन्दी अनुवाद और विवेचन लिखे गये हैं, जो इस आगम की लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण हैं। प्रबुद्ध वर्ग इसका स्वाध्याय कर अपने जीवन को आध्यात्मिक आलोक से आलोकित करेंगे, यही मंगल मनीषा !

●●

उद्धृत संदर्भ-स्थल सूची

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र-पं. सुखलाल जी, विवेचन, पृष्ठ ९
(ख) "अन्यथा हि अनिबद्धमंगोपांगशः समुद्रप्रतरणवद् दुरध्यवसेयं स्यात्।"
—तत्त्वार्थभाष्य १-२०

२. सुखबोधा समाचारी, पृष्ठ ३१-३४

३. पं. दलसुख मालवणिया-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १ की प्रस्तावना में, पृष्ठ ३८

४. गाथासहस्री में समयसुन्दरगणी ने धनपालकृत 'श्रावक विधि' का निम्न उद्धरण दिया है-'पणयालीसं आगम', श्लोक २९७, पृष्ठ १८

५. (क) विचारलेस, गाथा ३४४-३५१ (विचारसार प्रकरण)
(ख) "ततश्चतुर्विधः कार्योऽनुयोगोऽतः परं मया।
ततोऽङ्गोपांगमूलाख्यग्रन्थच्छेदकृतागमः ॥२४१॥"
—प्रभावकचरितम्, दूसरा आर्यरक्षित प्रबन्ध
(प्र. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद)

६. समाचारीशतक, पत्र ७६

७. "Why these texts are called 'root sutras' is not quite clear. Generally the word Mula is used for fundamental text, in contradiction to the commentary. Now as there are old and important commentaries in existence precisely in the case of these texts they are probably termed 'Mula Texts'."
—A History of Indian Literature, Part II, Page 446

८. "In the Buddhista Work Mahavyutpatti 245, 1265 Mulgrantha seems to mean original text that is the words of Buddha himself. Consequently there can be no doubt whatsoever that the Jainas too may have used Mula in the sense of 'Original text' and perhaps not so much in opposition to the later abridgements and commentaries as merely to denote actual words of Mahavira himself."
—The Uttaradhyayana Sutra, Page 32

९. The word Mula Sutra is translated as trates originaux.
—ल-रिलिजियन दी जैन, पृष्ठ ७९ (La-Religion the Jain, Page 79)

१०. "We find however the word 'Mula' often used in the sense of 'Original text' and it is but reasonable to hold that the word 'Mula' appearing in the expression Mula Sutra has got the same sense.

Thus the term Mula Sutra would mean the 'Original test', i.e., "The text containing the original words of Mahavira (as received directly from his mouth)." And as a matter of fact we find that the style of Mula Sutras No. 183 (उत्तराध्ययन and दशवैकालिक) as sufficiently ancient to justify the claim made in their favour by original title, that they present and preserve the original words of Mahavira."

—The Dashavaikalika Sutra—A Study, Page 16

११. "आयारस्स उ उवरिं, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु।
दसवेयालिय उवरिं, इयाणि किं तेन होवंती उ॥"

—व्यवहारभाष्य, उद्देशक ३, गाथा १७६

(संशोधक मुनि माणक., प्र. वकील केशवलाल प्रेमचन्द, भावनगर)

१२. "पुव्वं सत्थपरिण्णा, अधीय पढियाइ होइ उवट्ठवणा।
इण्हिंच्छज्जीवणया, किं सा उ न होउ उवट्ठवणा॥"

—वही, उद्देशक ३, गाथा १७४

१३. समाचारीशतक

१४. "अथ उत्तराध्ययन–आवश्यक–पिण्डनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति–दशवैकालिक–इति चत्वारि मूलसूत्राणि।"

—जैनधर्मवरस्तोत्र, श्लोक ३० की स्वोपज्ञ वृत्ति

(लेखक–भावप्रभसूरि, झवेरी जीवनचन्द साकरचन्द्र)

१५. ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स, पृष्ठ ४४-४५, लेखक–एच. आर. कापड़िया

१६. "इच्चेतस्स सुत्तपुरिसस्स जं सुत्तं, अंगभागठितं तं अंगपविट्ठं भण्णइ।"

—नन्दीसूत्रचूर्णि, पृष्ठ ४७

१७. श्री आगमपुरुषनुं रहस्य, पृष्ठ ५० के सामने (श्री उदयपुर, मेवाड़ के हस्तलिखित भण्डार से प्राप्त प्राचीन) श्री आगमपुरुष का चित्र

१८. वही, पृष्ठ १४ तथा ४९ के सामने वाला चित्र

१९. "दसवेयालियं उत्तरज्झयणं।"

—कषायपाहुड (जयधवला सहित), भाग १, पृष्ठ १३/२५

२०. "दसवेयालं च उत्तरज्झयणं।" **—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ३६७**

२१. "से किं तं कालियं? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा–उत्तरज्झयणाइं ..... ।
से किं तं उक्कालियं? उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा–दसवेयालियं ..... ।"

—नंदीसूत्र ४३

२२. समवायांग, समवाय ३६

२३. नन्दीसूत्र ४३

२४. उत्तराध्ययन ३६/२६८

२५. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४, पृष्ठ २१, पा. टि. ४

२६. "एतेसिं चेव छत्तीसाए उत्तरज्झयणाणं समुदयसमितिसमागमेणं उत्तरज्झयणभावसुतक्खंधे त्ति लब्भइ, ताणि पुण छत्तीसं उत्तरज्झयणाणि इमेहिं नामेहिं अणुगंतव्वाणि।" —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ८

२७. "विणयसुयं सउत्तरं जीवाजीवाभिगमो णिरुत्तरो, सर्वोत्तर इत्यर्थः, सेसज्झयणाणि सउत्तराणि णिरुत्तराणि य, कहं? परीसहा विणयसुयस्स उत्तरा चउरंगिज्जस्स तु पुव्वा इति काउं णिरुत्तरं।" —वही, पृष्ठ ६

२८. "कमउत्तरेण पगयं, आयारस्सेव उवरिमाइं तु।
तम्हा उ उत्तरा खलु, अज्झयणा हुंति णायव्वा॥" —वही, गाथा ३

२९. "विशेषश्चायं यथा–शय्यम्भवं यावदेष क्रमः तदाऽऽरतस्तु दशवैकालिकोत्तरकालं पठ्यन्त इति।" —उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

३०. "उत्तरज्झयणं उत्तरपदाणि वण्णेइ।" —धवला, पृष्ठ ९७

३१. "उत्तराणि अहिज्जंति, उत्तरज्झयणं पदं जिणिंदेहिं।" —अंगपण्णत्ति ३/२५-२६

३२. (क) "अज्झप्पस्साणयणं कम्माणं, अवचओ उवचियाणं।
अणुवचओ व णवाणं, तम्हा अज्झयणमिच्छंति॥
अहिगम्मंति व अत्था अणेण, अहियं व णयणमिच्छंति।
अहियं व साहु गच्छइ, तम्हा अज्झयणमिच्छंति॥"
—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ६-७

(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पृष्ठ ६-७

(ग) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ७

३३. "अंगप्पभवा जिणभासिया, य पत्तेयबुद्धसंवाया।
बंधे मुक्खे य कया, छत्तीसं उत्तरज्झयणा॥" —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ४

३४. "कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे, पाहुडंमि जं सुत्तं।
सणयं सोदाहरणं तं, चेव इहंपि णायव्वं॥" —वही, गाथा ६९

३५. (क) "जिणभासिया जहा दुमपत्तगादि।" —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ७

(ख) "जिनभाषितानि यथा द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनम्।"
—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

३६. (क) "पत्तेयबुद्धभासियाणि जहा कविलिज्जादि।" —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ७
(ख) "प्रत्येकबुद्धाः कपिलादयः तेभ्य उत्पन्नानि यथा कापिलियाध्ययनम्।"
—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

३७. "संवाओ जहा णमिपव्वज्जा केसिगोयमेज्जं च।" —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ७

३८. "एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा नायपुत्ते, भगवं वेसालिए वियाहिए॥" —उत्तराध्ययन ६/१८

३९. "इइ एस धम्मे अक्खाए, कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं।
तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति, तेहिं आराहिया दुवे लोगा॥" —उत्तराध्ययन ८/२०

४०. "एवं करेन्ति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु, जहा से नमी रायरिसी॥" —वही ९/६२

४१. "तोसिया परिसा सव्वा, सम्मग्गं समुवट्ठिया।
संथुया ते पसीयन्तु, भयवं केसिगोयमे॥" —वही २३/८९

४२. (क) देखिए—दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणं की भूमिका, आचार्य तुलसी
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र की भूमिका, कवि अमर मुनि जी

४३. "अत्र धम्माणुयोगेनाधिकारः।" —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ९

४४. उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ९

४५. कल्पसूत्र

४६. "तेवीसइ सूयगडे, रूवाहिएसु सुरेसु अ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मण्डले॥
पणवीसभावणाहिं, उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मण्डले॥
अणगारगुणेहिं च, पकप्पम्मि तहेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मण्डले॥" —उत्तराध्ययन ३१/१६-१८

४७. (क) "वंदामि भद्दबाहुं पाईणं, चेरिमसयलसुयणाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे॥"
—दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति, गाथा १
(ख) "तेण भगवता आयारपकप्प-दसाकप्प-ववहारा व नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।" —पंचकल्पभाष्य, गाथा २३ चूर्णि

४८. (क) "सामाइयमाइयाइं एक्कारसअंगाइं अहिज्जइ।" —अन्तकृद्दशा, प्रथम वर्ग
(ख) बारसंगी —वही, वर्ग ४, अध्ययन १
(ग) "सामाइयमाइयाइं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ।" —वही, वर्ग ३, अध्ययन १

४९. "सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणं जेम अत्थओ दिट्ठं।
एक्कारस अंगाइं, पइण्णगं दिट्ठिवाओ य॥" —उत्तराध्ययन २८/२३

५०. द्रव्य–"गुणाणमासओ दव्वं।" (द्रव्य गुणों का आश्रय है।) तुलना करें–
"क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।"
—वैशेषिकदर्शन, प्रथम अध्ययन, प्रथम आह्निक, सूत्र १५

५१. गुण–"एगदव्वस्सिया गुणा।" तुलना करें–
"द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।"
—वही, प्रथम अध्ययन, प्रथम आह्निक, सूत्र १६

५२. पर्याय–"लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे।" —उत्तराध्ययन

५३. "उत्तरज्झयणं उग्गमुप्पायणेसणदोसगयपायच्छित्तविहाणं कालादिविसेसिदं वण्णेदि।" —धवला, पत्र ५४५ (हस्तलिखित प्रति)

५४. "उत्तरज्झयणं उत्तरपदाणि वण्णेइ।" —वही, पृष्ठ ९७ (सहारनपुर प्रति)

५५. "उत्तराणि अहिज्जंति, उत्तरज्झयणं पदं जिणिंदेहिं।
बावीसपरीसहाणं, उवसग्गाणं च सहणविहिं॥
वण्णेदि तप्फलमवि, एवं पण्हे च उत्तरं एवं।
कहदि गुरुसीसयाण, पइण्णिय अट्ठमं तु खु॥" —अंगपण्णत्ति ३/२५-२६

५६. "उत्तराध्ययनं वीर-निर्वाणगमनं तथा।" —हरिवंशपुराण १०/१३४

५७. "यद्गणधरशिष्यप्रशिष्यैराराातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्तांगार्थवचनविन्यासं तदंगबाह्यम्.....तद्भेदा उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः।" —तत्त्वार्थवार्तिक १/२०, पृष्ठ ७८

५८. समवायांग, समवाय ३६

५९. उत्तराध्ययननिर्युक्ति १८-२६

६०. कल्पसूत्र १४६, पृष्ठ २१०, देवेन्द्र मुनि सम्पादित

६१. उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ २८१

६२. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ७१२

६३. "अथवा पाउकरे त्ति प्रादुरकार्षीत् प्रकाशितवान्, शेषं पूर्ववत्, नवरं 'परिनिर्वृत्तः' क्रोधादिदहनोपशमतः समन्तात्स्वस्थीभूतः।" —उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ७१२

६४. "तम्हा जिणपन्नत्ते, अणंतगमपज्जवेहि संजुत्ते।
अज्झाए जहाजोगं, गुरुप्पसाया अहिज्झिज्जा॥" —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ५५९

६५. "तस्माज्जिनैः श्रुतजिनादिभिः प्ररूपिताः।" —उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ७१३

६६. समवायांग ५५

६७. "इत्येवंरूपं 'पाउकरे' त्ति प्रादुरकार्षीत्-प्रकटितवान् 'बुद्धः' अवगततत्त्वः सन् ज्ञात एव ज्ञातकः जगत्प्रतीतः क्षत्रियो वा, स चेह प्रस्तावान्ममहावीर एव, परिनिर्वृत्तः कषायानलविध्यापनात्समन्ताच्छीतीभूतः।"

—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ४४४

६८. (क) दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि की भूमिका (आचार्य श्री तुलसी)
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र-उपाध्याय अमर मुनि की भूमिका

६९. "मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।" —तत्त्वार्थसूत्र ९/८

७०. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २

७१. समवायांग, समवाय २२

७२. तत्त्वार्थसूत्र ९/८

७३. समवायांग २२

७४. तत्त्वार्थसूत्र ९/९

७५. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६८६

७६. भगवतीसूत्र ८/८

७७. "सूक्ष्मसम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश।" —तत्त्वार्थसूत्र ९/१०

७८. "एकादश जिने।" —वही ९/११

७९. तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलाल जी संघवी), पृष्ठ २१६

८०. "सीतं च उण्हं च खुदं पिपासं, वातातपे डंस सिरीसिपे च।
सब्बानिपेतानि अभिसंभवित्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥"

—सुत्तनिपात, उरगवग्ग ३-१८

८१. "छत्तीसं उत्तरज्झयणा प. तं.-विणयसुयं .... असंख्यं .... !"

—समवायांग, समवाय ३६

८२. "पंचविहो अ पमाओ, इहमज्झयणंमि अप्पमाओ य।
वण्णिएज्ज उ जम्हा, तेण पमायप्पमायंति॥" —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १८१

८३. अनुयोगद्वार, सूत्र १३० : पाठ के लिए देखिये पृष्ठ ३९, पा. टि. १

८४. संयुक्तनिकाय २१-२-४-५

८५. (क) वही ३४-२-४-४
(ख) History of Suicide in India—**Dr. Upendra Thakur, page 107**

८६. "अतिमानादतिक्रोधात्स्नेहाद्वा यदि वा भयात्।
उद्बध्नीयात्स्त्री पुमान्वा गतिरेषा विधीयते॥
पूयशोणितसम्पूर्णे, अन्धे तमसि मज्जति।
षष्टिवर्षसहस्त्राणि, नरकं प्रतिपद्यते॥" —पाराशरस्मृति ४-१-२

८७. महाभारत, आदिपर्व १७९, २०
८८. वाल्मीकि रामायण ८३, ८३
८९. "आत्मनं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः येऽविद्वांस .... अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात् .... प्राकृतविद्वांसो आत्महन उच्यन्ते।"
९०. बृहदारण्यकोपनिषद् ४, ४-११
९१. महाभारत, आदिपर्व १७८-२०
९२. मनुस्मृति ५, ८९
९३. याज्ञवल्क्य ३, ६
९४. उषनस्मृति ७, २
९५. कूर्मपुराण, उत्तराध्ययन २३-७३
९६. अग्निपुराण १५७-३२
९७. पाराशरस्मृति ४, ४-७
९८. "सुरां पीत्वा द्विजो, महोदग्निर्णा सुरां पिवेत्।
तया स काये निर्दग्धे, मुच्यते किल्विषात्ततः॥"
—मनुस्मृति ११, ९०-९१, १०३-१०४
९९. याज्ञवल्क्यस्मृति ३-२४८, ३-२५३
१००. गौतमस्मृति २३, १
१०१. (क) वशिष्ठस्मृति २०, १३-१४
(ख) "आचार्य-पुत्र-शिष्य-भार्यासु चैवम्।" —वशिष्ठस्मृति १२-१५
१०२. आपस्तंबीय धर्मसूत्र १९, २५, १-७
१०३. महाभारत-अनुशासनपर्व, १२
१०४. वही २५, ६१-६४
१०५. महाभारत-वनपर्व ८५, ८३
१०६. मत्स्यपुराण १८६, ३४-३५
१०७. "न वेदवचनात् तात ! न लोकवचनादपि।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति॥" —महाभारत, वनपर्व ८५, ८३
१०८. कूर्मपुराण १, ३६, १४७; १, ३७३, ४
१०९. पद्मपुराण आदिकाण्ड ४४-३, १-१६-१४, १५
११०. स्कन्दपुराण २२, ७६
१११. मत्स्यपुराण १८६, ३४-३५
११२. ब्रह्मपुराण ६८, ७५, १७७, १६-१७, १७७, २५

११३. लिङ्गपुराण ९२, १६८-१६९

११४. Thou shalt not kill, neither thyself nor another.

११५. विसुद्धिमग्गो, विनयपिटक

११६. (क) "श्री सुधर्मस्वामिनोऽष्टौ सूरीन् यावत् निर्ग्रन्थाः।"
—तपागच्छ पट्टावली (पं. कल्याणविजय संपादित), भाग १, पृष्ठ २५३

(ख) "निघंठेसु पि मे कटे (,) इमे वियापटा होहंति।"
दिल्ली-टोपरा का सप्तम स्तम्भ लेख

११७. समवायांग, समवाय ३६

११८. "उरभाउणामगोयं, वेयंतो भावओ उ ओरब्भो।
तत्तो समुट्ठियमिणं, उरब्भिज्जन्ति अज्झयणं॥" —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २४६

११९. अनुयोगद्वार, सूत्र १३०

१२०. "···· ताहे ताणवि पंचवि चोरसयाणि ताले कुट्टेंति, सोऽवि गायति ध्रुवगं, "अधुवे असासयंमि, संसारंमि दुक्खपउराए। किं णाम तं होज्ज कम्मयं, जेणाहं दुग्गइं ण गच्छेज्जा॥१॥" एवं सव्वत्थ सिलोगन्तरे ध्रुवगं गायति 'अधुवेत्यादि', तत्थ केइ पढमसिलोगे संबुद्धा, केइ बीए, एवं जाव पंचवि सया संबुद्धा पव्वतियत्ति। ···· स हि भगवान कपिलनामा···· ध्रुवकं सङ्गीतवान्। —बृहद्वृत्ति, पत्र २८९

१२१. "गेयं णाम सरसंचारेण, जधा कावि लिज्जे—"अधुवे असासयंमि, संसारम्मि दुक्खपउराए।···· न गच्छेजा।" —सूत्रकृतांगचूर्णि, पृष्ठ ७

१२२. "गृहस्थ एव यजते, गृहस्थस्तप्यते तपः।
चतुर्णामाश्रमाणां तु, गृहस्थश्च विशिष्यते॥
यथा नदी नदाः सर्वे, समुद्रे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रमिणः सर्वे, गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥" —वाशिष्ठधर्मशास्त्र ८/१४-१५

१२३. "परिजूरियपेरंतं, चलंतबिंटं पडंतनिच्छीरं।
पत्तं वसणप्पत्तं, कालप्पत्तं भणइ गाहं॥१२०॥
जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हेऽवि होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेई पडंतं, पंडुयपत्तं किसलयाणं॥१२१॥" —अनुयोगद्वार, सूत्र १४६

१२४. "परिहत्ता—परिव्राजका एकदण्डित्रिदण्ड्याद्यः स्नानशीलाः शुचिवादिनः।"
—मूलाचार, पंचाचाराधिकार ६२, वृत्ति

१२५. निशीथसूत्र, भाग २, पृष्ठ २-३, ३३२

१२६. सूत्रकृतांग १/१/३/८ वृत्ति

१२७. मूलाचार, पंचाचाराधिकार ६२

१२८. Sacred Book of the Buddhists, Vol. XI, Part II, LVII, page 400-405

१२९. (क) "उण्हाहितत्ते मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्ञा, न वीएज्ञा य अप्पयं॥" —उत्तराध्ययन २/९
(ख) उत्तराध्ययन १५/८

१३०. आचारचूला २, २, २, १; २, १३

१३१. सूत्रकृतांग १, ७, २१-२२; १, ९, १३

१३२. दशवैकालिक, अध्ययन ६, गाथा ६०-६१

१३३. "पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो।" —सूत्रकृतांग १, ७, १३

१३४. वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ ४०

१३५. उत्तराध्ययन १२/३८-४४; २५/५-१६

१३६. दीघनिकाय १/५, पृ. ५३-५५

१३७. जातक, चतुर्थ खण्ड ४९७, मातंग जातक, पृष्ठ ५८३-५९७

१३८. धर्मकथानुयोग : एक सांस्कृतिक अध्ययन, लेखक–देवेन्द्र मुनि शास्त्री

१३९. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. 17 (1935-1936) 'A Few Parallels in Jains and Buddhist Works', Page 345, by A.M. Ghatge, M.A. This must have also led the writer to include the other story in the same Jataka. And such an attitude, must have arisen in later times as the effect of sectarian bias.

१४०. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. 17 (1935-1936) 'A Few Parallels in Jain and Buddhist Works', Page 345, by A.M. Ghatage, M.A.

१४१. "आसिमो भायरा दो वि, अन्नमन्नवसाणुगा।
अन्नमन्नमणूरत्ता, अन्नमन्नहिएसिणो॥
दासा दसण्णे आसी, मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयंगतीरे, सोवागा कासिभूमिए॥
देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया।
इमा नो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा॥" —उत्तराध्ययनसूत्र १३/५-७

१४२. जातक, संख्या ४९८, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ६००

१४३. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. 17 (1935-1936) 'A Few Parallels in Jain and Buddhist Works', Page 342-343, by A.M. Ghatage, M.A.

१४४. "उसुआरनामगोए वेयंतो, भावओ अ उसुआरो।
तत्तो समुट्ठियमिणं, उसुआरिज्जंति अज्झयणं॥"
—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ३६२

१४५. "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।
गृहिधर्ममनुष्ठाय, तेन स्वर्गं गमिष्यति॥"

१४६. "सीमंधरो य राया ·····।" —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ३७३

१४७. "अत्र चेषुकारमिति राज्यकालनाम्ना सीमन्धरश्चेति मौलिकनाम्नेति सम्भावयामः।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ३९४

१४८. "This legend certainly presents a rather striking resemblance to the prose introduction of the Jataka 509 and must consequently be old."
—**The Uttaradhyayana Sutra, Page 332, Foot Note No. 2**

१४९. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. 17 (1935-1936) 'A Few Parallels in Jain and Buddhist Works', Page 343-344.

१५०. उत्तराध्ययन, अध्ययन १४, गाथा ४; महाभारत–शान्तिपर्व, अ. १७५, श्लोक २३; उत्तरा., अ. १४, गा. ९; महा. शान्ति., अ. १७५, श्लोक ६; उत्तरा., अ. १४, गा. १२; महा. शान्ति., अ. १७५, श्लोक ७१, १८, २५, २६, ३६; उत्तरा., अ. १४, गा. १५; महा. शान्ति., अ. १७५, पृ. २०-२२; उत्तरा., अ. १४, गा. १७; महा. शान्ति., अ. १७५, पृ. ३७-३८; उत्तरा., अ. १४, गा. २१; महा. शान्ति., अ. १७५, पृ. ७; उत्तरा., अ. १४, गा. २२; महा. शान्ति., अ. १७५, श्लोक ८; उत्तरा., अ. १४, गा. २३; महा. शान्ति., अ. १७५, श्लोक ९; उत्तरा., अ. १४, गा. २५; महा. शान्ति., अ. १७५, श्लोक १०-१२; उत्तरा., अ. १४, गा. २८; महा. शान्ति., अ. १७५, श्लोक १५; उत्तरा., अ. १४, गा. ३७; महा. शान्ति., अ. १७, श्लोक ३९

१५१. उत्तरा., अ. १४, गा. ९; हस्तीपाल जातक संख्या ५०९, गा. ४; उत्तरा., अ. १४, गा. १२; हस्ती. जा. सं. ५०९, गा. ५; उत्तरा., अ. १४, गा. १३; हस्ती. जा. सं. ५०९, गा. ११; उत्तरा., अ. १४, गा. १५; हस्ती. जा. सं. ५०९, गा. १२; उत्तरा., अ. १४, गा. २०; हस्ती. जा. सं. ५०९, गा. १०; उत्तरा., अ. १४, गा. २७; हस्ती. जा. सं. ५०९, गा. ७; उत्तरा., अ. १४, गा. ३८; हस्ती. जा. सं. ५०९, गा. १८; उत्तरा., अ. १४, गा. ४८, हस्ती. जा. सं. ५०९, गा. २०

१५२. जातक संख्या ५०९, ५वाँ खण्ड, पृष्ठ ७५

१५३. "The verses from 49 to the end of the chapter certainly do not belong to original legend, but must have been composed by the Jain author." —**The Uttaradhyayana Sutra, Page 335**

१५४. मार्कण्डेयपुराण १०/११-१२

१५५. वही १०/१६-१७

१५६. वही १०/२७-२९

१५७. वही १०/३४-३५

१५८. वही १०/३७, ४४

१५९. The Jainas in the History of Indian Literature, Page 7

१६०. Beyond the Pleasure Principle—S. Freud. उद्धृत अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन, पृष्ठ २४६

१६१. "धूवणेत्ति नाम आरोग्गपडिकम्मं करेइ धूमंपि, इमाए सोगाइणो न भविस्संति।" —दशवैकालिक—जिनदासचूर्णि, पृष्ट ११५

१६२. "धूमं-मनः शिलादिसम्बन्धि।" —उत्तराध्ययन—नेमिचन्द्रवृत्ति, पृष्ट २१७

१६३. चरकसंहिता, सूत्र ५/२३

१६४. "अनुजानामि भिक्खवे धूमनेत्तं ति !" —विनयपिटक, महावग्ग ६/२/७

१६५. वही, महावग्ग ६/२/७

१६६. सूत्रकृतांग १/९/१२, प. १८० टीका

१६७. चरक, सिद्धिस्थान १

१६८. (क) दशवैकालिक—अगस्त्यसिंहचूर्णि, पृष्ठ ६२
(ख) सूत्रकृतांग टीका १/९/१२, पृष्ठ १८०

१६९. "रसाद् रक्तं ततो मांसं, मांसान् मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थिभ्यो मज्जा ततः शुक्रं, ·····।" —अष्टांगहृदय, अध्ययन ३, श्लोक ६

१७०. मूलाचार ११/१३-१४

१७१. अनगारधर्मामृत ४/६१

१७२. "ब्रह्मचर्यं सदा, रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः, प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं, प्रवदन्ति मनीषिणः॥
न ध्यातव्यं न वक्तव्यं, न कर्त्तव्यं कदाचन्।
एतैः सर्वैः सुसम्पन्नो, यतिर्भवति नेतरः॥" —दक्षस्मृति ७/३१-३३

१७३. (क) सुत्तनिपात १/११
(ख) विशुद्धिमग्ग (प्रथम भाग), परिच्छेद ८, पृष्ठ २१८-२६०
(ग) दीघनिकाय (महापरिनिव्वाणसुत्त) २/३

१७४. कुम्भकारजातक (संख्या ४०८) जातक, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ३९

१७५. वही, पृष्ठ ३७

१७६. वही, पृष्ठ ३९-४०
१७७. वही, पृष्ठ ३९
१७८. The Jainas in the History of Indian Literature, Page 8
१७९. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १७८, २१८, २७६
१८०. भगवतीसूत्र, शतक १३, उद्देशक ६
१८१. उत्तराध्ययनसूत्र-भावगणि विरचित वृत्ति, अध्ययन १८, पत्र ३८०-३८८
१८२. अवदान कल्पलता-अवदान ४०, क्षेमेन्द्र सं. शरत्चन्द्रदास और पं. हरिमोहन विद्याभूषण
१८३. दिव्यावदान-रुद्रायणावदान ३७, सं. डॉ. पी. एल. वैद्य, प्रकाशक-मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा
१८४. "उद्दायण राया, तावसभत्तो।" —आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्द्ध पत्र ३९९
१८५. उत्तराध्ययन सुखबोधावृत्ति, पत्र २५६
१८६. स्थानांगसूत्र, ठाणा ८, सूत्र ४१
१८७. अन्तगडदशासूत्र, वर्ग ६
१८८. विपाकसूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १
१८९. व्याख्याप्रज्ञप्ति
१९०. उत्तराध्ययन सुखबोधावृत्ति, पत्र २५९
१९१. विपाकसूत्र, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन ७
१९२. "निग्गंथाणं ति विप्पमुक्कत्ता निरूविज्जति।"
—दशवैकालिक, अगस्त्यसिंहचूर्णि, पृष्ठ ५९
१९३. सूत्रकृतांग १/१६/६
१९४. "ग्रन्थः कर्माष्टविधं, मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च।
तद्धेतोरशठं, संयतते यः स निर्ग्रन्थः॥" —प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक १४२
१९५. दीघनिकाय, भाग २, पृष्ठ ९१
१९६. हिन्दू सिविलाइजेशन, पृष्ठ १८७
१९७. ऋग्वेद १/२५/७, १/४८/३, १/५६/२, १/११६/३, २/४८/३, ७/८८/३-४
१९८. पण्डार जातक २/१२८, ५/७५
१९९. संयुक्तनिकाय २/११५, ५/५१
२००. अंगुत्तरनिकाय ४/२७
२०१. दीघनिकाय १/२२२
२०२. आवश्यकनिर्युक्ति २१४

२०३. (क) बृहत्कल्प, भाग २, पृष्ठ ३४२
(ख) आचारांगचूर्णि, पृष्ठ २८१
२०४. सूत्रकृतांग १/११/५
२०५. उत्तराध्ययन ८/६
२०६. सूत्रकृतांग २/७/६९
२०७. ज्ञाताधर्मकथा १/९
२०८. वही १/१७, पृष्ठ २०१
२०९. सूत्रकृतांग ४/१/२२
२१०. निशीथचूर्णि १५/५०६० की चूर्णि
२११. मनुस्मृति ८/३७४
२१२. याज्ञवल्क्यस्मृति ३/५/२३२
२१३. विष्णुपुराण ४/१४/२१
२१४. हरिवंशपुराण १८/६-१६ आचार्य जिनसेन
२१५. उत्तरपुराण ७०/१०
२१६. (क) देखिए–लेखक का भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन
(ख) एन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन, पृष्ठ १०४-१०७ पारजीटर
२१७. उत्तराध्ययन २२-३१
२१८. भगवतीसूत्र १/९
२१९. वही ९/३२
२२०. वही ५/९
२२१. सूत्रकृतांग २/७
२२२. जाबालोपनिषद् ५
२२३. नारदपरिव्राजकोपनिषद् ३/८/६
२२४. तेजोबिन्दूपनिषद् १/३
२२५. याज्ञवल्क्योपनिषद् २/१
२२६. आरुणिकोपनिषद् ३
२२७. गीता ६/१०
२२८. योगसूत्र २/३०
२२९. "It is therefore probable that the Jain as have borrowed their own Vows from the Brahmans, not from the Buddhists."
—The Sacred Books of the East, Vol. XXII, Introduction, Page 24

२३०. भगवान पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, भूमिका, पृष्ठ ६
२३१. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १२५
२३२. देखिए–लेखक का भगवान पार्श्वनाथ : एक समीक्षात्मक अध्ययन
२३३. उत्तराध्ययनसूत्र २३/५८
२३४. "चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवत् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्॥" –गीता ६/३४
"अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते।" –वही ६/३५
२३५. "अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।" –पातंजल योगदर्शन
२३६. समवायांगसूत्र, समवाय ३६
२३७. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ४५८-४५९
२३८. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २४, गाथा १
२३९. नन्दीसूत्र–स्थविरावली, गाथा १
२४०. सम्-एकीभावेन, इतिः-प्रवृत्तिः समितिः
२४१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्ययन ९, सूत्र ४
२४२. मूलाराधना ६, १२०२
२४३. ऋग्वेद–वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ ४०
२४४. उत्तराध्ययन, अध्ययन २६
२४५. भगवतीसूत्र २५/७
२४६. स्थानांग १०, सूत्र ७४९
२४७. "समदा सामाचारो, सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं, समाचारो हु आचारो॥" –मूलाचार, गाथा १२३
२४८. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप ग्रन्थ (लेखक–देवेन्द्र मुनि, पृष्ठ ८९९-९१०)
२४९. "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।" –तत्त्वार्थसूत्र, अध्ययन १, सूत्र १
२५०. (क) साइकोलॉजी एण्ड मोरल्स, पृष्ठ १८९
(ख) देखिए–जैन, बौद्ध और गीता का साधनामार्ग (डॉ. सागरमल जैन)
२५१. सुत्तनिपात १०/२
२५२. वही १०/४
२५३. "सद्दहानो लभते पञ्ञं।" –सुत्तनिपात १०/६
२५४. गीता १०/३०
२५५. विशेषावश्यकभाष्य १८७-१९०
२५६. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ५, पृष्ठ २४२५

२५७. "समत्तदंसी न करेइ पावं।" —आचारांग ३/३/२
२५८. सूत्रकृतांग १/८/२२-२३
२५९. वही १/८/२२-२३
२६०. गीता-शांकरभाष्य १८/१२
२६१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ७१-७२
२६२. उत्तराध्ययन २८-३५
२६३. वही २९/२७
२६४. ऋग्वेद १०/१९०/१
२६५. मनुस्मृति ११/२४३
२६६. मुण्डकोपनिषद् १/१/८
२६७. अथर्ववेद ११/३/५/१९
२६८. सत्यपथब्राह्मण ३/४/४/२७
२६९. मनुस्मृति ११/२३७
२७०. वही ११/२३८
२७१. वही ११/२३९
२७२. सुत्तनिपात १६/१०
२७३. अंगुत्तरनिकाय दिट्ठिविज्जसुत्त
२७४. मज्झिमनिकाय, महासिंहनादसुत्त
२७५. सुत्तनिपात २७/२०
२७६. मज्झिमनिकाय, कन्दरसुत्त, पृष्ठ २०७-२१०
२७७. गीता १७/१४-१६
२७८. वही १७/१७-१९
२७९. समवायांग, अभयदेववृत्ति २१
२८०. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ५२०
२८१. स्थानांग ६, सूत्र ५०२
२८२. प्रवचनसारोद्धार, द्वार २०७, गाथा ११२२-११२३
२८३. (क) उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ५२३-५२४
(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ६२०
२८४. "ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्।" —न्यायसूत्र ४/१
२८५. "अन्तरःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्।" —सांख्यसूत्र ५/२५
२८६. भगवतीसूत्र १२/१२०

२८७. "कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत्।" —अभिधर्मकोश ४/१

२८८. "अहिगारो कम्मलेसाए।" —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ५४१

२८९. "लेशयति श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या-अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया।" —उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०

२९०. मूलाराधना ७/१९०७

२९१. (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४९४
(ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ५३९

२९२. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ५४०

२९३. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८९

२९४. षट्खण्डागम, धवलावृत्ति ७/२/१, सूत्र ३, पृष्ठ ७

२९५. तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि २/६

२९६. तत्त्वार्थराजवार्तिक २/६/८, पृष्ठ १०९

२९७. "कर्मद्रव्यलेश्या इति सामान्याऽभिधानेऽपि शरीरनामकर्मद्रव्याण्येव कर्मद्रव्यलेश्या। कार्मणशरीरवत् पृथगेव कर्माष्टकात् कर्मवर्गणानिष्पन्नानि कर्मलेश्याद्रव्याणीति तत्त्वं पुनः।" —उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३४ टीका, पृष्ठ ६५०

२९८. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३४ टीका, पृष्ठ ६५० शान्तिसूरि

२९९. प्रज्ञापना १७ टीका, पृष्ठ ३३०

३००. गोम्मटसार, जीवकाण्ड ५३१

३०१. "भावलेश्या कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते।" —सर्वार्थसिद्धि, अध्ययन २, सूत्र २

३०२. "जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होदि।
तत्ते दोण्णं कज्जं बन्धचउत्थं समुद्दिट्ठं॥" —जीवकाण्ड ४८६

३०३. देखिए लेखक का प्रस्तुत ग्रन्थ–'चिन्तन के विविध आयाम' (लेश्या : एक विश्लेषण लेख)

३०४. शतपथब्राह्मण १४/५/३/१

३०५. बृहदारण्यक २/३/१

३०६. विष्णुपुराण

३०७. उत्तराध्ययनसूत्र ३६/४

३०८. भारतीय संस्कृति, पृष्ठ २२९

३०९. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग २, पृष्ठ १९९-२००

३१०. उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१०७-१२६

३११. वही ३६/१७१
३१२. वही ३६/१७९
३१३. आचारांग १/९/१/१४
३१४. प्रज्ञापना, प्रथम पद
३१५. जीवाजीवाभिगम, प्रतिपत्ति १-९
३१६. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १
३१७. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ३
३१८. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ५, ७
३१९. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ५२
३२०. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ६५-६८
३२१. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४९-१५०
३२२. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १५९-१७८
३२३. "वाणिजकुलसंभूओ, कोडियगणिओ उ वयरसाहीतो।
गोवालियमहत्तरओ, विक्खाओ आसि लोगंमि ॥१॥
ससमयपरसमयविऊ, ओयस्सी दित्तिमं सुगंभीरो।
सीसगणसंपरिवुडो, वक्खाणरतिप्पिओ आसी ॥२॥
तेसिं सीसेण इमं, उत्तरज्झयणाण चुण्णिखंडं तु।
रइयं अणुग्गहत्थं, सीसाणं मंदबुद्धीणं ॥३॥
जं एत्थं उस्सुत्तं, अयाणमाणेण विरतितं होज्जा।
तं अणुओगधरा मे, अणुचिंतेउं समारेंतु ॥४॥" —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ २८३
३२४. "विश्रुतस्य महीपीठे, बृहद्गच्छस्य मण्डनम्।
श्रीमान् विहारुकप्रष्ठः, सूरिरुद्योतनाभिधः ॥९॥
शिष्यस्तस्याऽऽम्रदेवोऽभूदुपाध्यायः सतां मतः।
यत्रैकान्तगुणापूर्णे, दोषैर्लेभे पदं न तु ॥१०॥
श्रीनेमिचन्द्रसूरिरुद्धृतवान्, वृत्तिकां तद्विनेयः।
गुरुसोदर्यश्रीमन्मुनिचन्द्राचार्यवचनेन ॥११॥"

दशवैकालिकसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

दशवैकालिकसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति का माध्यम : साहित्य

आत्मा और अनात्मा संबंधी भावनाओं की यथातथ्य अभिव्यक्ति साहित्य है। साहित्य किसी भी देश, समाज या व्यक्ति की सामयिक समस्याओं तक ही सीमित नहीं है, वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक सत्य-तथ्य पर आधृत है। साहित्य सम्प्रदाय-विशेष में जन्म लेकर भी सम्प्रदाय के संकीर्ण घेरे में आबद्ध नहीं होता। फूल मिट्टी में जन्म लेकर भी मिट्टी से पृथक् होता है और सौरभ फूल में उत्पन्न होकर भी फूल से पृथक् अस्तित्त्व रखता है। यही स्थिति साहित्य की है। साहित्य मानव के विमल विचारों का अक्षय कोष है। साहित्य में जहाँ उत्कृष्ट आचार और विचार का चित्रण होता है वहाँ उत्थान-पतन, सुख-दुःख, आशा-निराशा की भी सहज अभिव्यक्ति होती है। यदि हम विश्व-साहित्य का गहराई से पर्यवेक्षण करें तो स्पष्ट परिज्ञात होगा कि सौन्दर्य-सुषमा को निहारकर मानव पुलकित होता रहा है तो कारुण्यपूर्ण स्थिति को निहारकर करुणा की अश्रुधारा भी प्रवाहित करता रहा है। जहाँ उसने जीवन-निर्माण के लिए अनमोल आदर्श उपस्थित किए हैं, वहाँ जीवन को पतन से बचाने का मार्ग भी सुझाया है। जीवन और जगत् की, आत्मा और परमात्मा की व्याख्याएँ करना साहित्य का सदा लक्ष्य रहा है। इस प्रकार साहित्य में साधना और अनुभूति का, सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का अद्‌भुत समन्वय है। साहित्यकार विचार-सागर में गहराई से डुबकी लगाकर चिन्तन की मुक्ताएँ बटोरकर उन्हें इस प्रकार शब्दों की लड़ी की कड़ी में पिरोता है कि देखने वाला विस्मित हो जाता है। जीवन की नश्वरता और अपूर्णता की अनुभूति तो प्रायः सभी करते हैं, पर सभी उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाते। कुछ विशिष्ट व्यक्ति ही शब्दों के द्वारा उस नश्वरता और अपूर्णता को चित्रित कर एवं जन-जन के अन्तर्मानस में त्याग और वैराग्य की भावना उद्‌बुद्ध कर उन्हें आत्म-दर्शन के लिए उत्प्रेरित करते हैं। चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से होती है।

वैचारिक क्रान्ति का जीता-जागता प्रतीक : प्राकृत साहित्य

प्राकृत साहित्य का उद्‌भव जन-सामान्य की वैचारिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ है। श्रमण भगवान महावीर और तथागत बुद्ध के समय संस्कृत आभिजात्य वर्ग की भाषा थी। वे उस भाषा में अपने विचार व्यक्त करने में गौरवानुभूति करते थे। जन-बोली को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। ऐसी स्थिति में श्रमण भगवान महावीर और तथागत बुद्ध ने उस युग की जन-बोली प्राकृत और पाली को अपनाया। यही कारण है, जैन आगमों की भाषा प्राकृत है और बौद्ध त्रिपिटकों की भाषा पाली है। दोनों भाषाओं में अद्‌भुत सांस्कृतिक ऐक्य है। दोनों भाषाओं का उद्‌गम बिन्दु भी एक है, प्रायः दोनों का विकास भी समान रूप से ही हुआ है। समवायाङ्ग[1] और औपपातिकसूत्र[2] के अनुसार सभी तीर्थंकर अर्ध-मागधी भाषा में उपदेश करते हैं। चारित्रधर्म की आराधना और साधना करने वाले जिज्ञासु मन्द बुद्धि स्त्री-पुरुषों पर अनुग्रह करके जन-सामान्य के लिए सिद्धान्त सुबोध हो, इसलिए प्राकृत में उपदेश देते हैं।[3] आचार्य जिनदासगणी महत्तर अर्ध-मागधी का अर्थ दो प्रकार से करते हैं–यह भाषा मगध के एक भाग में बोली जाती थी, इसलिए अर्द्ध-मागधी कहलाती है, दूसरे इस भाषा में अट्ठारह देशी भाषाओं का सम्मिश्रण हुआ है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो मागधी और देशज शब्दों का इस भाषा में मिश्रण होने से यह अर्ध-मागधी कहलाती है।[4] अर्ध-मागधी को ही सामान्य रूप से प्राकृत कहते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने आगम-साहित्य की भाषा को आर्ष प्राकृत कहा है। चिन्तकों का अभिमत है कि आगमों की भाषा में भी दीर्घकाल में परिवर्तन हुआ है। उदाहरण के रूप में आचार्य शीलांक ने सूत्रकृताङ्ग की टीका में स्पष्ट रूप से लिखा है कि सूत्रादर्शों में अनेक प्रकार के सूत्र उपलब्ध होते हैं, पर हमने एक ही आदर्श को स्वीकार कर विवरण लिखा है। यदि कहीं सूत्रों में विसंवाद दृग्‌गोचर हो तो चित्त में व्यामोह नहीं करना चाहिए।[5] कहीं पर 'य' श्रुति की प्रधानता है तो कहीं पर 'त' श्रुति की, कहीं पर ह्रस्व स्वर का प्रयोग है तो कहीं पर ह्रस्व स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर का प्रयोग है। आगम-प्रभावक श्री पुण्यविजय जी महाराज ने बृहत्कल्पसूत्र,[6] कल्पसूत्र[7] और अंगविज्जा[8] ग्रन्थों की प्रस्तावना में इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है।

आगमों का वर्गीकरण

आगमों का सबसे उत्तरवर्ती वर्गीकरण है–अंग, उपांग, मूल और छेद। आचार्य देववाचक ने जो आगमों का वर्गीकरण किया है उसमें न उपांग शब्द

का प्रयोग हुआ है और न ही मूल और छेद शब्दों का ही। वहाँ पर अंग और अंगबाह्य शब्द आया है। तत्त्वार्थभाष्य[९] में सर्वप्रथम अंगबाह्य आगम के अर्थ में उपांग शब्द का प्रयोग हुआ है। उसके पश्चात् सुखबोधा समाचारी,[१०] विविधमार्गप्रपा,[११] वायनाविही[१२] आदि में उपांग विभाग का उल्लेख है। किन्तु मूल और छेदसूत्रों का विभाग किस समय हुआ, यह अभी अन्वेषणीय है। दशवैकालिक की निर्युक्ति, चूर्णि, हारिभद्रीया वृत्ति और उत्तराध्ययन की शान्त्याचार्यकृत बृहद्वृत्ति में मूलसूत्र के सम्बन्ध में कुछ भी चर्चा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक 'मूलसूत्र' यह विभाग नहीं हुआ था। विक्रम संवत् १३३४ में प्रभावकचरित्र[१३] में सर्वप्रथम अंग, उपांग, मूल और छेद यह विभाग प्राप्त होता है। इसके बाद 'समाचारी-शतक' में भी उपाध्याय समयसुन्दरगणी ने इसका उल्लेख किया है।

मूलसूत्र संज्ञा क्यों ?

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि की मूलसूत्र संज्ञा क्यों दी गई है? इस सम्बन्ध में विज्ञों में विभिन्न मत हैं। पाश्चात्य विज्ञों ने भारतीय साहित्य का जिस गहराई, रुचि और अध्यवसाय से अध्ययन किया है वह वस्तुतः प्रशंसनीय है। कार्य किस सीमा तक हुआ है? कितना उपादेय है? यह प्रश्न अलग है, पर उन्होंने कठिन श्रम और उत्साह के साथ जो प्रयत्न किया है, वह भारतीय चिन्तकों के लिए प्रेरणादायी है।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध प्राच्य अध्येता प्रो. शर्पेण्टियर ने उत्तराध्ययनसूत्र की प्रस्तावना में लिखा है कि मूलसूत्र में भगवान महावीर के मूल शब्द संगृहीत हैं जो स्वयं भगवान महावीर के मुख से निसृत हैं।[१४]

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. वाल्टर शुब्रिंग ने Lax Religion Dyaina (जर्मन भाषा में लिखित) पुस्तक में लिखा है कि मूलसूत्र नाम इसलिए दिया गया ज्ञात होता है कि श्रमण और श्रमणियों के साधनामय जीवन के मूल में– प्रारम्भ में उनके उपयोग के लिए इनका निर्माण हुआ।

इटली के प्रो. गेरिनो ने एक विचित्र कल्पना की है। उस कल्पना के पीछे उनके मस्तिष्क में ग्रन्थ के 'मूल' और 'टीका' ये दो रूप मुख्य रहे हैं। इसलिए उन्होंने मूल ग्रन्थ के रूप में मूलसूत्र को माना है क्योंकि इन आगम-ग्रन्थों पर निर्युक्ति, चूर्णि, टीका आदि विपुल व्याख्यात्मक साहित्य है। व्याख्या-साहित्य में यत्र-तत्र मूल शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसकी वे टीकाएँ

और व्याख्याएँ हैं। उत्तराध्ययन और दशवैकालिक पर विपुल व्याख्यात्मक साहित्य है, इसलिए इन आगमों को मूलसूत्र कहा गया है। टीकाकारों ने मूल ग्रन्थ के अर्थ में मूलसूत्र का प्रयोग किया है, संभव है उसी से यह आगम मूलसूत्र कहे जाने लगे हों।

पाश्चात्य मूर्धन्य मनीषियों ने मूलसूत्र की अभिधा के लिए जो कल्पनाएँ की हैं, उनके पीछे किसी अपेक्षा का आधार अवश्य है, पर जब हम गहराई से चिन्तन करते हैं तो उनकी कल्पना पूर्ण रूप से सही नहीं लगती। प्रो. शर्पेण्टियर ने भगवान महावीर के मूल शब्दों के साथ मूलसूत्रों को जोड़ने का जो समाधान किया है, वह उत्तराध्ययन के साथ कदाचित् संगत हो तो भी दशवैकालिक के साथ उसकी संगति बिल्कुल नहीं है। यदि हम भगवान महावीर के साक्षात् वचनों के आधार पर 'मूलसूत्र' मानते हैं तो आचारांग, सूत्रकृतांग प्रभृति अंग ग्रन्थ, जिनका सम्बन्ध सीधा गणधरों से रहा है, मूलसूत्र कहे जाने चाहिए। पर ऐसा नहीं है, इसलिए प्रो. शर्पेण्टियर की कल्पना घटित नहीं होती।

डॉ. वाल्टर शुब्रिंग के मतानुसार मूलसूत्र के लिए श्रमणों के मूल नियम, परम्पराओं एवं विधि-निषेधों की दृष्टि से मूलसूत्र की अभिधा दी गई। पर यह समाधान भी पूर्ण रूप से सही नहीं। दशवैकालिक में तो यह बात मिलती है पर अन्य मूलसूत्र में अनेक दृष्टान्तों से जैन धर्म-दर्शन सम्बन्धी अनेक पहलुओं पर विचार किया गया है। इसलिए डॉ. शुब्रिंग का चिन्तन भी एकांगी पहलू पर ही आधृत है।

प्रो. गेरिनो ने मूल और टीका के आधार पर 'मूलसूत्र' अभिधा की कल्पना की है, पर उनकी यह कल्पना बहुत ही स्थूल है। इस कल्पना में चिन्तन की गहराई का अभाव है। मूलसूत्रों के अतिरिक्त अन्य आगमों पर भी अनेक टीकाएँ हैं। उन टीकाओं के आधार से ही किसी आगम को मूलसूत्र की संज्ञा दी गई हो तो वे सभी आगम 'मूलसूत्र' कहे जाने चाहिए।

हमारी दृष्टि से जिन आगमों में मुख्य रूप से श्रमण के आचार सम्बन्धी मूल गुणों–महाव्रत, समिति, गुप्ति, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का निरूपण है और जो श्रमण-जीवनचर्या में मूल रूप से सहायक बनते हैं और जिन आगमों का अध्ययन सर्वप्रथम अपेक्षित है, उन्हें मूलसूत्र कहा गया है।

हमारे प्रस्तुत कथन का समर्थन इस बात से होता है कि पहले श्रमणों का अध्ययन आचारांग से प्रारम्भ होता था। जब दशवैकालिकसूत्र का निर्माण हो

गया तो सर्वप्रथम दशवैकालिक का अध्ययन कराया जाने लगा और उसके पश्चात् उत्तराध्ययनसूत्र पढ़ाया जाने लगा।[१५]

पहले आचारांग के शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन से शैक्षिकी उपस्थापना की जाती थी, जब दशवैकालिक की रचना हो गई तो उसके चतुर्थ अध्ययन से उपस्थापना की जाने लगी।[१६]

मूलसूत्रों की संख्या के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। तथापि यह पूर्ण सत्य है कि सभी विज्ञों ने दशवैकालिक को मूलसूत्र माना है। चाहे समयसुन्दरगणी[१७] हों, चाहे भावप्रभसूरि[१८] हों, चाहे प्रो. वेबर और प्रो. वूलर हों, चाहे डॉ. शर्पेण्टियर या डॉ. विण्टरनित्ज हों, चाहे डॉ. गेरिनो या डॉ. शुब्रिंग हों-सभी ने प्रस्तुत आगम को मूलसूत्र माना है।[१९]

दशवैकालिक का महत्त्व

मूल आगमों में दशवैकालिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य देववाचक ने आवश्यक-व्यतिरिक्त के कालिक और उत्कालिक ये दो भेद किए हैं। उन भेदों में उत्कालिक आगमों की सूची में दशवैकालिक प्रथम है।[२०] यह आगम अस्वाध्याय समय को छोड़कर सभी प्रहरों में पढ़ा जा सकता है। चार अनुयोगों में दशवैकालिक का समावेश चरणकरणानुयोग में किया जा सकता है। यह निर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु[२१] और अगस्त्यसिंह स्थविर[२२] का अभिमत है। इसमें चरण[२३] (मूलगुण) व करण[२४] (उत्तरगुण) इन दोनों का अनुयोग है। आचार्य वीरसेन के अभिमतानुसार दशवैकालिक आचार और गोचर की विधि का वर्णन करने वाला सूत्र है।[२५] ज्ञानभूषण के प्रशिष्य शुभचन्द्र के अभिमतानुसार दशवैकालिक का विषय गोचरविधि और पिण्डविशुद्धि है।[२६] आचार्यल श्रुतसागर के अनुसार इसे वृक्ष-कुसुम आदि का भेदकथक और यतियों के आचार का कथक कहा है।[२७]

दशवैकालिक में आचार-गोचर के विश्लेषण के साथ ही जीव-विद्या, योग-विद्या जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा भी की गई है। यही कारण है इस आगम की रचना होने के पश्चात् अध्ययन-क्रम में भी आचार्यों ने परिवर्तन किया, जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं।

व्यवहारभाष्य के अनुसार अतीतकाल में आचारांग के द्वितीय लोकविजय अध्ययन के ब्रह्मचर्य नामक पाँचवें उद्देशक के आमगंध सूत्र को बिना जाने-पढ़े कोई भी श्रमण और श्रमणी पिण्डकल्पी अर्थात् भिक्षा ग्रहण करने योग्य नहीं

हो सकता था। जब दशवैकालिक का निर्माण हो गया तो उसके पिण्डैषणा नामक पाँचवें अध्ययन को जानने व पढ़ने वाला पिण्डकल्पी होने लगा। यह वर्णन दशवैकालिक के महत्त्व को स्पष्ट रूप से उजागर करता है।[२८]

दशवैकालिक के रचनाकार का परिचय

प्रस्तुत आगम के कर्त्ता आचार्य शय्यम्भव हैं। वे राजगृह नगर के निवासी थे। वत्स गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म वीर निर्वाण ३६ (विक्रम पूर्व ४३४) में हुआ। वे वेद और वेदांग के विशिष्ट ज्ञाता थे। जैनशासन के प्रबल विरोधी थे। जैनधर्म के नाम से ही उनकी आँखों से अंगारे बरसते थे। जैनधर्म के प्रबल विरोधी प्रकाण्ड विद्वान् शय्यम्भव को प्रतिबोध देने के लिए आचार्य प्रभव के आदेश से दो श्रमण शय्यम्भव के यज्ञवाट में गए और धर्मलाभ कहा। श्रमणों का घोर अपमान किया गया। उन्हें बाहर निकालने का उपक्रम किया गया। श्रमणों ने कहा–"**अहो कष्टमहो कष्टं तत्त्वं विज्ञायते न हि।**"–अहो ! खेद की बात है, तत्त्व नहीं जाना जा रहा। श्रमणों की बात शय्यम्भव के मस्तिष्क में टकराई पर उन्होंने सोचा–'यह उपशान्त तपस्वी झूठ नहीं बोलते।'[२९] हाथ में तलवार लेकर वह अपने अध्यापक के पास पहुँचा और बोला–"तत्त्व का स्वरूप बताओ, यदि नहीं बताओगे तो मैं तलवार से तुम्हारा शिरच्छेद कर दूँगा।" लपलपाती तलवार को देखकर अध्यापक काँप उठा। उसने कहा–"अर्हत् धर्म ही यथार्थ धर्म और तत्त्व है।" शय्यम्भव अभिमानी होने पर भी सद्य जिज्ञासु थे। वे आचार्य प्रभव के पास पहुँचे। उनकी पीयूषस्रावी वाणी से बोध प्राप्त कर दीक्षित हुए। आचार्य प्रभव के पास उन्होंने १४ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया और श्रुतधर परम्परा में वे द्वितीय श्रुतधर हुए।

जब शय्यम्भव दीक्षित हुए तब उनकी पत्नी गर्भवती थी।[३०] ब्राह्मण वर्ग कहने लगा–"शय्यम्भव बहुत ही निष्ठुर व्यक्ति है जो अपनी युवती पत्नी का परित्याग कर साधु बन गया।"[३१] स्त्रियाँ शय्यम्भव की पत्नी से पूछतीं–"क्या तुम गर्भवती हो?" वह संकोच से 'मणयं' अर्थात् 'मणाक' शब्द का प्रयोग करती। इस छोटे से उत्तर से परिवार वालों को संतोष हुआ। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम माता द्वारा उच्चरित 'मणयं' शब्द के आधार पर 'मनक' रखा गया।[३२] वह बहुत ही स्नेह से पुत्र मनक का पालन करने लगी। बालक आठ वर्ष का हुआ। उसने अपनी माँ से पूछा–"मेरे पिता का नाम क्या है?" उसने सारा वृत्त सुना दिया कि तेरे पिता जैन-मुनि बने और वर्तमान में

वे जैन संघ के आचार्य हैं। माता की अनुमति लेकर वह चम्पा पहुँचा। आचार्य शय्यम्भव ने अपने ही सदृश मनक की मुख-मुद्रा देखी तो अज्ञात स्नेह बरसाती नदी की तरह उमड़ पड़ा। बालक ने अपना परिचय देते हुए कहा–"मेरे पिता शय्यम्भव हैं, क्या आप उन्हें जानते हैं?" शय्यम्भव ने अपने पुत्र को पहचान लिया। मनक को आचार्य ने कहा–"मैं शय्यम्भव का अभिन्न (एक शरीरभूत) मित्र हूँ।" आचार्य के त्याग–वैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को सुनकर मनक आठ वर्ष की अवस्था में मुनि बना। आचार्य शय्यम्भव ने बालक मनक की हस्तरेखा देखी। उन्हें लगा–बालक का आयुष्य बहुत ही कम है। इसके लिए सभी शास्त्रों का अध्ययन करना संभव नहीं है।[३३]

दशवैकालिक का रचनाकाल

अपश्चिम दशपूर्वी विशेष परिस्थिति में ही पूर्वों से आगम निर्यूहण का कार्य करते हैं।[३४] आचार्य शय्यम्भव चतुर्दश पूर्वधर थे। उन्होंने अल्पायुष्क मुनि मनक के लिए आत्म-प्रवाद से दशवैकालिकसूत्र का निर्यूहण किया।[३५] छह मास व्यतीत हुए और मुनि मनक का स्वर्गवास हो गया। शय्यम्भव श्रुतधर तो थे पर वीतराग नहीं थे। पुत्र-स्नेह उभर आया और उनकी आँखें मनक के मोह से गीली हो गईं। यशोभद्र प्रभृति मुनियों ने खिन्नता का कारण पूछा।[३६] आचार्य ने बताया कि मनक मेरा संसारपक्षी पुत्र था, उसके मोह ने मुझे कुछ विह्वल किया है। यह बात यदि पहले ज्ञात हो जाती तो आचार्यपुत्र समझकर उससे कोई भी वैयावृत्य नहीं करवाता, वह सेवाधर्म के महान् लाभ से वंचित हो जाता। इसीलिए मैंने यह रहस्य प्रकट नहीं किया था। आचार्य शय्यम्भव २८ वर्ष की अवस्था में श्रमण बने। अतः दशवैकालिक का रचनाकाल वीर निर्वाण संवत् ७२ के आसपास है। उस समय आचार्य प्रभवस्वामी विद्यमान थे,[३७] क्योंकि आचार्य प्रभव का स्वर्गवास वीर निर्वाण ७५ में होता है।[३८] डॉ. विण्टरनित्ज ने वीर निर्वाण के ९८ वर्ष पश्चात् दशवैकालिक का रचनाकाल माना है,[३९] प्रो. एम. वी. पटवर्द्धन का भी यही अभिमत है।[४०] किन्तु जब हम पट्टावलियों का अध्ययन करते हैं तो उनका यह कालनिर्णय सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि आचार्य शय्यम्भव वीर निर्वाण संवत् ६४ में दीक्षा ग्रहण करते हैं।[४१] उनके द्वारा रचित या निर्यूहण की हुई कृति का रचनाकाल वीर निर्वाण संवत् ९८ किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि संवत् ६४ में उनकी दीक्षा हुई और उनके आठ वर्ष पश्चात् उनके पुत्र मनक की दीक्षा हुई।[४२] इसलिए वीर

निर्वाण ७२ में दशवैकालिक की रचना होना ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत होता है। यहाँ पर जो उन्हें आचार्य लिखा है, वह द्रव्यनिक्षेप की दृष्टि से है।

दशवैकालिक एक निर्यूहण-रचना है

रचना के दो प्रकार हैं–एक स्वतन्त्र और दूसरा निर्यूहण। दशवैकालिक स्वतन्त्र कृति नहीं है अपितु निर्यूहण कृति है। दशवैकालिकनिर्युक्ति के अनुसार आचार्य शय्यम्भव ने विभिन्न पूर्वों से इसका निर्यूहण किया। चतुर्थ अध्ययन आत्म-प्रवाद पूर्व से, पाँचवाँ अध्ययन कर्म-प्रवाद पूर्व से, सातवाँ अध्ययन सत्य-प्रवाद पूर्व से और अवशेष सभी अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से उद्धृत किए गए हैं।[४३]

दूसरा मन्तव्य यह है कि दशवैकालिक का निर्यूहण गणिपिटक द्वादशांगी से किया गया है।[४४] यह निर्यूहण किस अध्ययन का किस अंग से किया गया इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है, तथापि मूर्धन्य मनीषियों ने अनुमान किया है कि दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन में विषय-वासना से बचने का उपदेश दिया गया है, उस संदर्भ में रथनेमि और राजीमती का पावन प्रसंग भी बहुत ही संक्षेप में दिया गया है। उत्तराध्ययन के बाईसवें अध्ययन में यह प्रसंग बहुत ही विस्तार के साथ आया है। दोनों का मूल स्वर एक सदृश है। तृतीय अध्ययन का विषय सूत्रकृताङ्ग १/९ से मिलता है। चतुर्थ अध्ययन का विषय सूत्रकृतांङ्ग १/११/७-८ और आचारांग १/१/१; २/१५ से कहीं पर संक्षेप में और कहीं पर विस्तार से लिया गया है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के उत्तरार्द्ध में भगवान महावीर द्वारा गौतम आदि श्रमणों को उपदिष्ट किए गए पाँच महाव्रतों तथा पृथ्वीकाय प्रभृति षड्जीवनिकाय का विश्लेषण है। संभव है इस अध्ययन से चतुर्थ अध्ययन की सामग्री का संकलन किया गया हो। पाँचवें अध्ययन का विषय आचारांग के द्वितीय अध्ययन लोकविजय के पाँचवें उद्देशक और आठवें, नौवें अध्ययन के दूसरे उद्देशक से मिलता-जुलता है। यह भी संभव है कि आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा है अतः पाँचवाँ अध्ययन उसी से संकलित किया गया हो। छठा अध्ययन समवायाङ्ग के अठारहवें समवाय की निम्न गाथा का विस्तार से निरूपण है–

"वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं।
परियंक निसिज्जा य, सिणाणं सोभवज्जणं॥"

सातवें अध्ययन का मूल स्रोत आचारांग १/१/६/५ में प्राप्त होता है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन का नाम भाषाजात है, उस अध्ययन में श्रमण द्वारा प्रयोग करने योग्य और न करने योग्य भाषा का विश्लेषण है। संभव है इस आधार से सातवें अध्ययन में विषय-वस्तु की अवतारणा हुई हो। आठवें अध्ययन का कुछ विषय स्थानांग ८/५९८, ६०९, ६१५, आचारांग और सूत्रकृतांग से भी तुलनीय है।[४५] नौवें अध्ययन में विनयसमाधि का निरूपण है। इस अध्ययन की सामग्री उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन की सामग्री से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। संभव है इस अध्ययन का मूल स्रोत उत्तराध्ययन का प्रथम अध्ययन रहा हो। दसवें अध्ययन में भिक्षु के जीवन और उसकी दैनन्दिनी चर्या का चित्रण है, तो उत्तराध्ययन का पन्द्रहवाँ अध्ययन भी इसी बात पर प्रकाश डालता है। अतः संभव है यह अध्ययन उत्तराध्ययन के पन्द्रहवें अध्ययन का ही रूपान्तरण हो, क्योंकि भाव के साथ ही शब्द-रचना और छन्द-गठन में भी दोनों में प्रायः एकरूपता है।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पहली चूला, १ व ४ अध्ययन से क्रमशः ५ और ७वें अध्ययन की तुलना की जा सकती है। दशवैकालिक के २, ९ व १०वें अध्ययन के विषय की उत्तराध्ययन के १ और १५वें अध्ययन से तुलना कर सकते हैं।[४६]

दिगम्बर परम्परा में दशवैकालिक का उल्लेख धवला, जयधवला, तत्त्वार्थराजवर्तिक, तत्त्वार्थश्रुतसागरीया वृत्ति प्रभृति अनेक स्थलों में हुआ है और **'आरातीयैराचार्यैर्निर्यूढं'** केवल इतना संकेत प्राप्त होता है।

सर्वार्थसिद्धि में लिखा है–जब कालदोष से आयु, मति और बल न्यून हुए, तब शिष्यों पर अत्यधिक अनुग्रह करके आरातीय आचार्यों ने दशवैकालिक प्रभृति आगमों की रचना की। एक घड़ा क्षीरसमुद्र के जल से भरा हुआ है, उस घड़े में अपना स्वयं का कुछ भी नहीं है। उसमें जो कुछ भी है वह क्षीरसमुद्र का ही है। यही कारण है कि उस घड़े के जल में भी वही मधुरता होती है जो क्षीरसमुद्र के जल में होती है। इसी प्रकार जो आरातीय आचार्य किसी विशिष्ट कारण से पूर्व-साहित्य में से या अंग-साहित्य में से अंग-बाह्य श्रुत की रचना करते हैं, उसमें उन आचार्यों का अपना कुछ भी नहीं होता। वह तो अंगों से ही गृहीत होने के कारण प्रामाणिक माना जाता है।[४७]

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य[४८] में, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसार[४९] में दशवैकालिक को अंग-बाह्य श्रुत लिखा है। वीरसेनाचार्य ने

जयधवला[५०] में दशवैकालिक को सातवाँ अंग-बाह्य श्रुत लिखा है। यापनीय संघ में दशवैकालिकसूत्र का अध्ययन अच्छी तरह से होता था। यापनीय संघ के सुप्रसिद्ध आचार्य अपराजितसूरि ने भगवती आराधना की विजयोदया वृत्ति में दशवैकालिक की गाथाएँ प्रमाण रूप में उद्धृत की हैं।[५१]

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना होगा कि दशवैकालिकसूत्र की जब अत्यधिक लोकप्रियता बढ़ी तो अनेक श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में दशवैकालिक की गाथाओं को उद्धरण के रूप में उट्टङ्कित किया। उदाहरणार्थ–आवश्यकनिर्युक्ति,[५२] निशीथचूर्णि,[५३] उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति[५४] और उत्तराध्ययनचूर्णि[५५] आदि ग्रन्थों को देखा जा सकता है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में दशवैकालिक का उल्लेख व वर्णन होने पर भी पं. नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि आरातीय आचार्यकृत दशवैकालिक आज उपलब्ध नहीं है और जो उपलब्ध है वह प्रमाण रूप नहीं है।[५६] दिगम्बर परम्परा में यह सूत्र कब तक मान्य रहा, इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। हमारी दृष्टि से जब दोनों परम्पराओं में वस्त्रादि को लेकर आग्रह उग्र रूप में हुआ, तब दशवैकालिक में वस्त्र का उल्लेख मुनियों के लिए होने से उसे अमान्य किया होगा।

नामकरण

प्रस्तुत आगम के 'दसवेयालिय'[५७] (दशवैकालिक) और 'दसवेकालिय'[५८] ये दो नाम उपलब्ध होते हैं। यह नाम दस और वैकालिक अथवा कालिक इन दो पदों से निर्मित है। सामान्यतः दस शब्द दस अध्ययनों का सूचक है और वैकालिक का सम्बन्ध रचना–निर्यूहण या उपदेश से है। विकाल का अर्थ संध्या है। सामान्य नियम के अनुसार आगम का रचनाकाल पूर्वाह्न माना जाता है किन्तु आचार्य शय्यम्भव ने मनक की अल्पायु को देखकर अपराह्न में ही इसकी रचना या निर्यूहण प्रारम्भ किया और उसे विकाल में पूर्ण किया। ऐसी भी मान्यता है कि दस विकालों या संध्याओं में रचना–निर्यूहण या उपदेश किया गया, इस कारण यह आगम 'दशवैकालिक' कहा जाने लगा। स्वाध्याय का काल दिन और रात में प्रथम और अन्तिम प्रहर है। प्रस्तुत आगम बिना काल (विकाल) में भी पढ़ा जा सकता है। अतः इसका नाम दशवैकालिक रखा गया है। अथवा आचार्य शय्यम्भव चतुर्दशपूर्वी थे, उन्होंने काल को लक्ष्य कर इसका निर्माण किया, इसलिए इसका नाम दशवैकालिक रखा गया है। एक कारण यह

भी हो सकता है कि इसका दसवाँ अध्ययन वैतालिक नाम के वृत्त में हुआ है, अतः इसका नाम दसवेतालियं भी संभव है।[५९]

हम यह लिख चुके हैं कि आचार्य शय्यम्भव ने अपने बालपुत्र मनक के लिए दशवैकालिक का निर्माण किया। मनक ने दशवैकालिक को छह महीने में पढ़ा, श्रुत और चारित्र की सम्यक् आराधना कर वह संसार से समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर स्वर्गस्थ हुआ। आचार्य शय्यम्भव ने संघ से पूछा–"अब इस निर्यूढ़ आगम का क्या किया जाये?" संघ ने गहराई से चिन्तन करने के बाद निर्णय किया कि इसे ज्यों का त्यों रखा जाय। यह आगम मनक-जैसे अनेक श्रमणों की आराधना का निमित्त बनेगा। इसलिए इसका विच्छेद न किया जाय।[६०] प्रस्तुत निर्णय के पश्चात् दशवैकालिक का जो वर्तमान रूप है उसे अध्ययन-क्रम से संकलित किया गया है। महानिशीथ के अभिमतानुसार पाँचवें आरे के अन्त में पूर्ण रूप से अंग-साहित्य विच्छिन्न हो जायेगा तब दुप्पसह मुनि दशवैकालिक के आधार पर संयम की साधना करेंगे और अपने जीवन को पवित्र बनायेंगे।[६१]

चूलिका के रचयिता कौन ?

दस अध्ययनों और दो चूलिकाओं में यह आगम विभक्त है। चूलिका का अर्थ शिखा या चोटी है। छोटी चूला (चूडा) को चूलिका कहा गया है, यह चूलिका का सामान्य शब्दार्थ है। साहित्यिक दृष्टि से चूलिका का अर्थ मूलशास्त्र का उत्तर भाग है। यही कारण है कि अगस्त्यसिंह स्थविर ने और जिनदासगणी महत्तर ने दशवैकालिक की चूलिका को उसका 'उत्तर-तंत्र' कहा है। तंत्र, सूत्र और ग्रन्थ ये सभी शब्द एकार्थक हैं। जो स्थान आधुनिक युग के ग्रन्थ में परिशिष्ट का है, वही स्थान अतीतकाल में चूलिका का था। निर्युक्तिकार की दृष्टि से मूलसूत्र में अवर्णित अर्थ का और वर्णित अर्थ का स्पष्टीकरण करना चूलिका का प्रयोजन है। आचार्य शीलांक के अनुसार चूलिका का अर्थ अग्र है और अग्र का अर्थ उत्तर भाग है। दस अध्ययन संकलनात्मक हैं, किन्तु चूलिकाओं के सम्बन्ध में मूर्धन्य मनीषियों में दो विचार हैं। कितने ही विज्ञों का यह अभिमत है कि वे आचार्य शय्यम्भवकृत हैं। दस अध्ययनों के निर्यूहण के पश्चात् उन्होंने चूलिकाओं की रचना की। सूत्र और चूलिकाओं की भाषा प्रायः एक सदृश है इसलिए अध्ययन और चूलिकाओं के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। कितने ही विज्ञ इस अभिमत से सहमत नहीं हैं। उनका अभिमत है

कि चूलिकाएँ अन्य लेखक की रचनाएँ हैं जो बाद में दस अध्ययनों के साथ जोड़ दी गईं।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'परिशिष्ट पर्व' ग्रन्थ में लिखा है कि आचार्य स्थूलभद्र की बहिन साध्वी यक्षा ने अपने अनुज मुनि श्रीयक को पौरुषी, एकाशन और उपवास की प्रबल प्रेरणा दी। श्रीयक ने कहा–"बहिन ! मैं क्षुधा की दारुण वेदना को सहन नहीं कर पाऊँगा।" किन्तु बहिन की भावना को सम्मान देकर उसने उपवास किया पर वह उतना अधिक सुकुमार था कि भूख को सहन न कर सका और दिवंगत हो गया। मुनि श्रीयक का उपवास में मरण होने के कारण साध्वी यक्षा को अत्यधिक हार्दिक दुःख हुआ। यक्षा ने मुनि श्रीयक की मृत्यु के लिए अपने को दोषी माना। श्रीसंघ ने शासनदेवी की साधना की। देवी की सहायता से यक्षा साध्वी महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी की सेवा में पहुँची। सीमंधर स्वामी ने साध्वी यक्षा को निर्दोष बताया और उसे चार अध्ययन चूलिका के रूप में प्रदान किए। संघ ने दो अध्ययन आचारांग की तीसरी और चौथी चूलिका के रूप में और अन्तिम दो अध्ययन दशवैकालिक चूलिका के रूप में स्थापित किए।[६२]

दशवैकालिकनिर्युक्ति की एक गाथा में इस प्रसंग का उल्लेख मिलता है।[६३] आचार्य हरिभद्र ने दूसरी चूलिका की प्रथम गाथा की व्याख्या में उक्त घटना का संकेत किया है[६४] पर टीकाकार ने निर्युक्ति की गाथा का अनुसरण नहीं किया, इसलिए कितने ही विज्ञ दशवैकालिकनिर्युक्ति की गाथा को मूलनिर्युक्ति की गाथा नहीं मानते।[६५] आचारांगचूर्णि में उल्लेख है कि स्थूलभद्र की बहिन साध्वी यक्षा महाविदेह क्षेत्र में भगवान सीमंधर के दर्शनार्थ गई थीं, लौटते समय भगवान ने उसे भावना और विमुक्ति ये दो अध्ययन प्रदान किए।[६६] आवश्यकचूर्णि में भी दो अध्ययनों का वर्णन है। प्रश्न यह है कि आचार्य हेमचन्द्र ने चार अध्ययनों का उल्लेख किस आधार से किया ? आचारांगनिर्युक्ति में इस घटना का किञ्चित्मात्र भी संकेत नहीं है तथापि आचारांगचूर्णि और आवश्यकचूर्णि में यह घटना किस प्रकार आई, यह शोधार्थियों के लिए अन्वेषणीय है।

ग्रन्थ-परिमाण

दशवैकालिक के दस अध्ययन हैं, उनमें पाँचवें अध्ययन के दो और नौवें अध्ययन के चार उद्देशक हैं, शेष अध्ययनों के उद्देशक नहीं हैं। चौथा और

नौवाँ अध्ययन गद्य-पद्यात्मक है, शेष सभी अध्ययन पद्यात्मक हैं। टीकाकार के अभिमतानुसार दशवैकालिक के पद्यों की संख्या ५०९ है और चूलिकाओं की गाथा संख्या ३४ है। चूर्णिकार ने दशवैकालिक की पद्य संख्या ५३६ और चूलिकाओं की पद्य संख्या ३३ बताई है। पुण्यविजय जी म. द्वारा संपादित 'दसकालियसुत्तं' में दशवैकालिक की गाथाएँ ५७५ बताई हैं।[६७] मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल' ने दशवैकालिक-संक्षिप्तदर्शन में लिखा है 'इसमें पद्यसूत्र गाथाएँ ५६१ हैं और गद्यसूत्र ४८ हैं।'[६८] आचार्य तुलसी[६९] ने 'दसवेआलियं' ग्रन्थ की भूमिका में दशवैकालिक की श्लोक संख्या ५१४ तथा सूत्र संख्या ३१ लिखी है। इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थों में गाथा संख्या और सूत्र संख्या में अन्तर है।

धर्म : एक चिन्तन

दशवैकालिक का प्रथम अध्ययन 'द्रुमपुष्पिका' है। धर्म क्या है? यह चिर-चिन्त्य प्रश्न रहा है। इस प्रश्न पर विश्व के मूर्धन्य मनीषियों ने विविध दृष्टियों से चिन्तन किया है। आचारांग में स्पष्ट कहा है कि तीर्थंकर की आज्ञाओं के पालन में धर्म है।[७०] मीमांसादर्शन के अनुसार वेदों की आज्ञा का पालन ही धर्म है।[७१] आचार्य मनु ने लिखा है-राग-द्वेष से रहित सज्जन विज्ञों द्वारा जो आचरण किया जाता है और जिस आचरण को हमारी अन्तरात्मा सही समझती है, वह आचरण धर्म है।[७२] महाभारत में धर्म की परिभाषा इस प्रकार प्राप्त है-जो प्रजा को धारण करता है अथवा जिससे समस्त प्रजा यानि समाज का संरक्षण होता है, वह धर्म है।[७३] आचार्य शुभचन्द्र ने धर्म को भौतिक और आध्यात्मिक अभ्युदय का साधन माना है।[७४] आचार्य कार्तिकेय ने वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है,[७५] जिससे स्वभाव में अवस्थिति और विभाव दशा का परित्याग होता है। चूँकि स्व-स्वभाव से ही हमारा परम श्रेय सम्भव है और इस दृष्टि से वही धर्म है। धर्म का लक्षण आत्मा का जो विशुद्ध स्वरूप है और जो आदि, मध्य, अन्त सभी स्थितियों में कल्याणकारी है वह धर्म है।[७६] वैशेषिकदर्शन का मन्तव्य है-जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि होती है वह धर्म है।[७७]

इस प्रकार भारतीय मनीषियों ने धर्म की विविध दृष्टियों से व्याख्या की है, तथापि उनकी यह विशेषता रही है कि उन्होंने किसी एकांकी परिभाषा पर ही बल नहीं दिया, किन्तु धर्म के विविध पक्षों को उभारते हुए उनमें समन्वय की

अन्वेषणा की है। यही कारण है कि प्रत्येक परम्परा में धर्म की विविध व्याख्याएँ मिलती हैं। दशवैकालिक में धर्म की सटीक परिभाषा दी गई है–अहिंसा, संयम और तप ही धर्म है। वही धर्म उत्कृष्ट मंगल रूप में परिभाषित किया गया है। वह धर्म विश्व-कल्याणकारक है।[७८] इस प्रकार लोक-मंगल की साधना में व्यक्ति के दायित्त्व की व्याख्या यहाँ पर की गई है। जिसका मन धर्म में रमा रहता है, उसके चरणों में ऐश्वर्यशाली देव भी नमन करते हैं।

धर्म की परिभाषा के पश्चात् अहिंसक श्रमण को किस प्रकार आहार-ग्रहण करना चाहिए, इसके लिए 'मधुकर' का रूपक देकर यह बताया है कि जैसे मधुकर पुष्पों से रस ग्रहण करता है वैसे ही श्रमणों को गृहस्थों के यहाँ से प्रासुक आहार-जल ग्रहण करना चाहिए। मधुकर फूलों को बिना म्लान किए थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, जिससे उसकी उदर-पूर्ति हो जाए। मधुकर दूसरे दिन के लिए संग्रह नहीं करता, वैसे ही श्रमण संयम-निर्वाह के लिए जितना आवश्यक हो उतना ग्रहण करता है, किन्तु संचय नहीं करता। मधुकर विविध फूलों से रस ग्रहण करता है, वैसे ही श्रमण विविध स्थानों से भिक्षा लेता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में अहिंसा और उसके प्रयोग का निर्देश किया गया है।

भ्रमर की उपमा जिस प्रकार दशवैकालिक में श्रमण के लिए दी गई है, उसी प्रकार बौद्ध-साहित्य में भी यह उपमा प्राप्त है[७९] और वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी इस उपमा का उपयोग हुआ है।[८०]

संयम में श्रम करने वाला साधक श्रमण की अभिधा से अभिहित है। श्रमण का भाव श्रमणत्व या श्रामण्य कहलाता है। बिना धृति के श्रामण्य नहीं होता, धृति पर ही श्रामण्य का भव्य प्रासाद अवलम्बित है। जो धृतिमान् होता है, वही कामराग का निवारण करता है। यदि अन्तर्मानस में कामभावनाएँ अँगड़ाइयाँ ले रही हैं, विकारों के सर्प फन फैलाकर फूत्कारें मार रहे हैं, तो वहाँ श्रमणत्व नहीं रह सकता। रथनेमि की तरह जिसका मन विकारी है और विषय-सेवन के लिए ललक रहा है वह केवल द्रव्य-साधु है, भाव-साधु नहीं। इस प्रकार के श्रमण भर्त्सना के योग्य हैं। जब रथनेमि भटकते हैं और भोग की अभ्यर्थना करते हैं तो राजीमती संयम में स्थिर करने हेतु उन्हें धिक्कारती है। काम और श्रामण्य का परस्पर विरोध है। जहाँ काम है, वहाँ श्रामण्य का अभाव है। त्यागी वह कहलाता है जो स्वेच्छा से भोगों का परित्याग करता है। जो परवशता से

भोगों का त्याग करता है, उसमें वैराग्य का अभाव होता है, वहाँ विवशता है, त्याग की उत्कट भावना नहीं। प्रस्तुत अध्ययन में कहा गया है–जीवन वह है जो विकारों से मुक्त हो। यदि विकारों का धुआँ छोड़ते हुए अर्ध-दग्ध कण्डे की तरह जीवन जीया जाए तो उस जीवन से तो मरना ही श्रेयस्कर है। एक क्षण भी जीओ–प्रकाश करते हुए जीओ किन्तु चिरकाल तक धुआँ छोड़ते हुए जीना उचित नहीं। अगन्धन जाति का सर्प प्राण गँवा देना पसन्द करेगा किन्तु परित्यक्त विष को पुनः ग्रहण नहीं करेगा। वैसे ही श्रमण परित्यक्त भोगों को पुनः ग्रहण नहीं करता है। विषवन्त जातक में इसी प्रकार का एक प्रसंग आया है–सर्प आग में प्रविष्ट हो जाता है किन्तु एक बार छोड़े हुए विष को पुनः ग्रहण नहीं करता।[८१] इस अध्ययन में भगवान अर्हत् अरिष्टनेमि के भ्राता रथनेमि का प्रसंग है जो गुफा में ध्यानमुद्रा में अवस्थित हैं, उसी गुफा में वर्षा से भीगी हुई राजीमती अपने भीगे हुए वस्त्रों को सुखाने लगी, राजीमती के अंग-प्रत्यंगों को निहारकर रथनेमि के भाव कलुषित हो गये। राजीमती ने काम-विह्वल रथनेमि को सुभाषित वचनों से संयम में सुस्थिर कर दिया। निर्युक्तिकार का अभिमत है कि द्वितीय अध्ययन की विषय-सामग्री प्रत्याख्यानपूर्व की तृतीय वस्तु से ली गई है।[८२]

आचार और अनाचार

तृतीय अध्ययन में क्षुल्लक आचार का निरूपण है। जिस साधक में धृति का अभाव होता है वह आचार के महत्त्व को नहीं समझता, वह आचार को विस्मृत कर अनाचार की ओर कदम बढ़ाता है। जो आचार, मोक्ष-साधना के लिए उपयोगी है, जिस आचार में अहिंसा का प्राधान्य है, वह सही दृष्टि से आचार है और जिसमें इनका अभाव है वह अनाचार है। आचार के पालन से संयम-साधना में सुस्थिरता आती है। आचार-दर्शन मानव को परम शुभ प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है। कौन-सा आचरण औचित्यपूर्ण है और कौन-सा अनौचित्यपूर्ण है, इसका निर्णय विवेकी साधक अपनी बुद्धि की तराजू पर तौलकर करता है। जो प्रतिषिद्ध कर्म, प्रत्याख्यातव्य कर्म या अनाचीर्ण कर्म हैं, उनका वह परित्याग करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य जो आचरणीय हैं उन्हें वह ग्रहण करता है। आचार धर्म या कर्त्तव्य है, अनाचार अधर्म या अकर्त्तव्य है। प्रस्तुत अध्ययन में अनाचीर्ण कर्म कहे गये हैं। अनाचीर्णों का निषेध कर आचार या चर्या का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए

इस अध्ययन का नाम आचारकथा है। दशवैकालिक के छठे अध्ययन में 'महाचारकथा' का निरूपण है। उस अध्ययन में विस्तार के साथ आचार पर चिन्तन किया गया है तो इस अध्ययन में उस अध्ययन की अपेक्षा संक्षिप्त में आचार का निरूपण है। इसलिए इस अध्ययन का नाम 'क्षुल्लकाचारकथा' दिया गया है।[८३]

प्रस्तुत अध्ययन में अनाचारों की संख्या का उल्लेख नहीं हुआ है और न अगस्त्यसिंह स्थविर ने अपनी चूर्णि में और न जिनदासगणी महत्तर ने अपनी चूर्णि में संख्या का निर्देश किया है। समयसुन्दर ने दीपिका में अनाचारों की ५४ संख्या का निर्देश किया है।[८४] यद्यपि अगस्त्यसिंह स्थविर ने संख्या का उल्लेख नहीं किया है तो भी उनके अनुसार अनाचारों की संख्या ५२ है, पर दोनों में अन्तर यह है कि अगस्त्यसिंह ने राजपिण्ड और किमिच्छक को व सैन्धव और लवण को पृथक्-पृथक् न मानकर एक-एक माना है। जिनदासगणी ने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक न मानकर अलग-अलग माना है तथा सैन्धव और लवण को एवं गात्राभ्यंग और विभूषण को एक-एक माना है। दशवैकालिक के टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने तथा सुमति साधु सूरि ने अनाचारों की संख्या ५३ मानी है, उन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक तथा सैन्धव और लवण को पृथक्-पृथक् माना है। इस प्रकार अनाचारों की संख्या ५४, ५३ और ५२ प्राप्त होती है। संख्या में भेद होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। अनाचारों का निरूपण संक्षेप में भी किया जा सकता है, जैसे सभी सचित्त वस्तुओं का परिहार एक माना जाए तो अनेक अनाचार स्वतः कम हो सकते हैं। जो बातें श्रमणों के लिए वर्ज्य हैं वस्तुतः वे सभी अनाचार हैं। प्रस्तुत अध्ययन में बहुत से अनाचारों का उल्लेख नहीं है किन्तु अन्य आगमों में उन अनाचारों का उल्लेख हुआ है। भले ही वे बातें अनाचार के नाम से उल्लिखित न की गई हों, किन्तु वे बातें जो श्रमण के लिए त्याज्य हैं, अनाचार ही हैं। यहाँ एक बात का ध्यान रखना होगा कि कितने ही नियम उत्सर्गमार्ग में अनाचार हैं, पर अपवादमार्ग में वे अनाचार नहीं रहते, पर जो कार्य पापयुक्त हैं, जिनका हिंसा से साक्षात् सम्बन्ध है, वे कार्य प्रत्येक परिस्थिति में अनाचीर्ण ही हैं। जैसे–सचित्त-भोजन, रात्रि-भोजन आदि। जो नियम संयम-साधना की विशेष विशुद्धि के लिए बनाए हुए हैं, वे नियम अपवाद में अनाचीर्ण नहीं रहते। ब्रह्मचर्य की दृष्टि से गृहस्थ के घर पर बैठने का निषेध किया गया है। पर श्रमण रुग्ण हो, वृद्ध या तपस्वी हो तो वह विशेष परिस्थिति

में बैठ सकता है। उसमें न तो ब्रह्मचर्य के प्रति शंका उत्पन्न होती है और न अन्य किसी भी प्रकार की विराधना की ही संभावना है। इसलिए वह अनाचार नहीं है।[८५] जो कार्य सौन्दर्य की दृष्टि से, शोभा या गौरव की दृष्टि से किए जायें वे अनाचार हैं पर वे कार्य भी रुग्णावस्था आदि विशेष परिस्थिति में किये जायें तो अनाचार नहीं हैं। उदाहरण के रूप में नेत्र-रोग होने पर अंजन आदि का उपयोग। कितने ही अनाचारों के सेवन में प्रत्यक्ष हिंसा है, कितने ही अनाचारों के सेवन से वे हिंसा के निमित्त बनते हैं और कितने ही अनाचारों के सेवन में हिंसा का अनुमोदन होता है, कितने ही कार्य स्वयं में दोषपूर्ण नहीं हैं किन्तु बाद में वे कार्य शिथिलाचार के हेतु बन सकते हैं, अतः उनका निषेध किया गया है। इस प्रकार अनेक हेतु अनाचार के सेवन में रहे हुए हैं।

जैन परम्परा में जो आचार-संहिता है, उसके पीछे अहिंसा, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का दृष्टिकोण प्रधान है। अन्य भारतीय परम्पराओं ने भी न्यूनाधिक रूप से उसे स्वीकार किया है।

स्नान

तथागत बुद्ध ने पन्द्रह दिन से पहले जो भिक्षु स्नान करता है उसे प्रायश्चित्त का अधिकारी माना है। यदि कोई भिक्षु विशेष परिस्थिति में पन्द्रह दिन से पहले नहाता है तो पाचित्तिय है। विशेष परिस्थिति यह है–ग्रीष्म के पीछे के डेढ़ मास और वर्षा का प्रथम मास, यह ढाई मास और गर्मी का समय, जलन होने का समय, रोग का समय, काम (लीपने-पोतने आदि का समय), रास्ता चलने का समय तथा आँधी-पानी का समय।[८६]

भगवान महावीर की भाँति तथागत बुद्ध की आचार-संहिता कठोर नहीं थी। कठोरता के अभाव में भिक्षु स्वच्छन्दता से नियमों का भंग करने लगे, तब बुद्ध ने स्नान के सम्बन्ध में अनेक नियम बनाये।

एक बार तथागत बुद्ध राजगृह में विचरण कर रहे थे। उस समय षड्वर्गीय भिक्षु नहाते हुए शरीर को वृक्ष से रगड़ते थे। जंघा, बाहु, छाती और पेट को भी। जब भिक्षुओं को इस प्रकार कार्य करते हुए देखते तो लोग खिन्न होते, धिक्कारते।

तथागत ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया–"भिक्षुओ ! नहाते हुए भिक्षु को वृक्ष से शरीर को न रगड़ना चाहिए, जो रगड़े उसको 'दुष्कृत' की आपत्ति है।"

उस समय षड्वर्गीय भिक्षु नहाते समय खम्भे से शरीर को भी रगड़ते थे। बुद्ध ने कहा–"भिक्षुओ ! नहाते समय भिक्षु को खम्भे से शरीर को न रगड़ना चाहिए, जो रगड़े उसको दुक्कड (दुष्कृत) की आपत्ति है।"[८७]

छाता–जूता

विनयपिटक में जूते, खड़ाऊँ, पादुका प्रभृति विधि-निषेधों के सम्बन्ध में चर्चाएँ हैं।[८८] उस समय षड्वर्गीय भिक्षु जूता धारण करते थे। वे जब जूता धारण कर गाँव में प्रवेश करते, तो लोग हैरान होते थे। जैसे काम-भोगी गृहस्थ हों। बुद्ध ने कहा–"भिक्षुओ ! जूता पहने गाँव में प्रवेश नहीं करना चाहिए। जो प्रवेश करता है, उसे दुक्कड दोष है।"[८९]

किसी समय एक भिक्षु रुग्ण हो गया। वह बिना जूता धारण किये गाँव में प्रवेश नहीं कर सकता था। उसे देख बुद्ध ने कहा–"भिक्षुओ ! मैं अनुमति देता हूँ बीमार भिक्षु को जूता पहनकर गाँव में प्रवेश करने की।"[९०] जो भिक्षु पूर्ण निरोग होने पर भी छाता धारण करता है, उसे तथागत बुद्ध ने पाचित्तिय कहा है।[९१]

इस तरह बुद्ध ने छाता और जूते धारण करने के सम्बन्ध में विधि और निषेध दोनों बताये हैं।

दीघनिकाय में तथागत बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए माला, गंध-विलेपन, उबटन तथा सजने-सजाने का निषेध किया है।[९२]

मनुस्मृति,[९३] श्रीमद्भागवत[९४] आदि में ब्रह्मचारी के लिए गंध, माल्य, उबटन, अंजन, जूते और छत्र धारण का निषेध किया है। भागवत में वानप्रस्थ के लिए दातुन करने का भी निषेध है।[९५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं ने श्रमण और संन्यासी के लिए कष्ट सहन करने का विधान एवं शरीर-परिकर्म का निषेध किया है। यह सत्य है कि ब्राह्मण परम्परा ने शरीर-शुद्धि पर बल दिया तो जैन परम्परा ने आत्म-शुद्धि पर बल दिया। यहाँ पर सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आयुर्वेदिक ग्रन्थों में जो बातें स्वास्थ्य के लिए आवश्यक मानी हैं उन्हें शास्त्रकार ने अनाचार क्यों कहा है? समाधान है कि श्रमण शरीर से भी आत्म-शुद्धि पर अधिक बल दे। स्वास्थ्य-रक्षा से पहले आत्म-रक्षा आवश्यक है। **"अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।"** श्रमण

सब इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त कर आत्मा की रक्षा करे। शास्त्रकार ने आत्म-रक्षा पर अधिक बल दिया है, जबकि चरक और सुश्रुत ने देह-रक्षा पर अधिक बल दिया है। उनका यह स्पष्ट मन्तव्य रहा कि नगर-रक्षक नगर का ध्यान रखता है, गाड़ीवान गाड़ी का ध्यान रखता है, वैसे ही विज्ञ मानव शरीर का पूर्ण ध्यान रखे।[९६]

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए चरक ने निम्न नियम आवश्यक बताए हैं–

सौवीरांजन–आँखों में काला सुरमा आँजना।

नस्यकर्म–नाक में तेल डालना।

दन्त-धावन–दतौन करना।

जिह्वा-निर्लेखन–जिह्वा के मैल को शलाका से खुरचकर निकालना।

अभ्यंग–तेल का मर्दन करना।

शरीर-परिमार्जन–तौलिए आदि के द्वारा मैल उतारने के लिए शरीर को रगड़ना, स्नान करना, उबटन लगाना।

गन्धमाल्य-निषेवण–चन्दन, केसर प्रभृति सुगन्धित द्रव्यों का शरीर पर लेप करना, सुगन्धित फूलों की मालाएँ धारण करना।

रत्नाभरण-धारण–रत्नों से जटित आभूषण धारण करना।

शौचाधान–पैरों को, मलमार्ग (नाक, कान, गुदा, उपस्थ) आदि को प्रतिदिन पुनः-पुनः साफ करना।

सम्प्रसाधन–केश आदि को कटवाना तथा बालों में कंघी करना।

पादत्राण-धारण–जूते पहनना।

छत्र-धारण–छत्ता धारण करना।

दण्ड-धारण–दण्ड (छड़ी) धारण करना।

ये सारे नियम यहाँ अधिकांशतः श्रमण के अनाचार में आये हैं अथवा अन्य आगम-साहित्य में श्रमणों के लिए निषिद्ध कहे हैं।[९७] इसका यही कारण है कि श्रमणों के लिए शरीर-रक्षा की अपेक्षा संयम-रक्षा प्रधान है। संयम-रक्षा के लिए इन्द्रिय-समाधि आवश्यक है। स्नान आदि कामाग्नि-सन्दीपक हैं, अतः भगवान महावीर ने उन सभी को अनाचार की कोटि में परिगणित किया है।

अनाचारों का उल्लेख अहिंसा, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए हुआ है।

निर्युक्तिकार की दृष्टि से दशवैकालिक का तृतीय अध्ययन नौवें पूर्व की तृतीय आचारवस्तु से उद्धृत है।[९८]

महाव्रत : विश्लेषण

चतुर्थ अध्ययन में **षड्जीवनिकाय** का निरूपण है। आचार-निरूपण के पश्चात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस आदि जीवों का विस्तार से निरूपण है। जैनधर्म में अहिंसा का बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण है। विश्व के अन्य विचारकों ने पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि में जहाँ जीव नहीं माने हैं, वहाँ जैन परम्परा में उनमें जीव मानकर उनके विविध भेद-प्रभेदों का भी विस्तार से कथन है। श्रमण साधक विश्व में जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं उनकी हिंसा से विरत होता है। श्रमण न स्वयं हिंसा करता है, न हिंसा करवाता है और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन ही करता है। श्रमण हिंसा क्यों नहीं करता? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है–हिंसा से और दूसरों को नष्ट करने के संकल्प से उस प्राणी को तो पीड़ा पहुँचती ही है साथ ही स्वयं के आत्म-गुणों का भी हनन होता है। आत्मा कर्मों से मलिन बनता है। यही कारण है कि प्रश्नव्याकरण में हिंसा का एक नाम गुणविराधिका मिलता है। श्रमण अहिंसा महाव्रत का पालन करता है। इसकी संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत अध्ययन में है। संयमी श्रमण तीन करण और तीन योग से सचित्त पृथ्वी आदि को न स्वयं नष्ट करे और न सचित्त पृथ्वी पर बैठे और न सचित्त धूल से सने हुए आसन का उपयोग करे। वह अचित्त भूमि पर आसन आदि को प्रमार्जित कर बैठे। संयमी श्रमण सचित्त जल का भी उपयोग न करे, किन्तु उष्ण जल या अचित्त जल का उपयोग करे। किसी भी प्रकार की अग्नि को साधु स्पर्श न करे और न अग्नि को सुलगावे और न बुझावे। इसी प्रकार श्रमण हवा भी न करे, दूध आदि को फूँक से ठण्डा न करे। श्रमण तृण, वृक्ष, फल, फूल, पत्ते आदि को न तोड़े, न काटे और न उस पर बैठे। श्रमण स्थावर जीवों की तरह त्रस प्राणियों की भी हिंसा मन, वचन और काया से न करे। वह जो भी कार्य करे वह विवेकपूर्वक करे। इतना सावधान रहे कि किसी भी प्रकार की हिंसा न हो। सभी प्रकार के जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है। श्रमण स्व और पर दोनों ही प्रकार की हिंसा से मुक्त होता है। काम, क्रोध, मोह प्रभृति दूषित मनोवृत्तियों के द्वारा

आत्मा के स्व-गुणों का घात करना स्व-हिंसा है और अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाना पर-हिंसा है। श्रमण स्व और पर दोनों ही प्रकार की हिंसा से विरत होता है।

श्रमण मन, वचन और काया तथा कृतकारित अनुमोदन की नव कोटियों सहित असत्य का परित्याग करता है। जिनदासगणी महत्तर के अभिमतानुसार श्रमण को मन, वचन, काया से सत्य पर आरूढ़ होना चाहिए। यदि मन, वचन और काया में एकरूपता नहीं है तो वह मृषावाद है।[९९] जिन शब्दों से दूसरे प्राणियों के अन्तर्हृदय में व्यथा उत्पन्न होती हो, ऐसे हिंसाकारी और कठोर शब्द भी श्रमण के लिए वर्ज्य हैं और यहाँ तक कि जिस भाषा से हिंसा की सम्भावना हो, ऐसी भाषा का प्रयोग भी वर्जित है। काम, क्रोध, लोभ, भय एवं हास्य के वशीभूत होकर पापकारी, निश्चयकारी, दूसरों के मन को कष्ट देने वाली भाषा, भले ही वह मनोविनोद के लिए ही कही गई हो, श्रमण को नहीं बोलनी चाहिए। इस प्रकार असत्य और अप्रियकारी भाषा का निषेध किया गया है। अहिंसा के बाद सत्य का उल्लेख है। वह इस बात का द्योतक है कि सत्य अहिंसा पर आधृत है। निश्चयकारी भाषा का निषेध इसलिए किया गया है कि वह अहिंसा और अनेकान्त के परीक्षण-प्रस्तर पर खरी नहीं उतरती। सत्य का महत्त्व इतना अधिक है कि उसे भगवान की उपमा से अलंकृत किया गया है और उसे सम्पूर्ण लोक का सारतत्त्व कहा है।[१००]

अस्तेय श्रमण का तृतीय महाव्रत है। श्रमण बिना स्वामी की आज्ञा के एक तिनका भी ग्रहण नहीं करता।[१०१] जीवन यापन के लिए आवश्यक वस्तुओं को तब ही ग्रहण करता है जब उसके स्वामी द्वारा वस्तु प्रदान की जाये। अदत्त वस्तु को ग्रहण न करना श्रमण का महाव्रत है। वह मन, वचन, काया और कृतकारित अनुमोदन को नवकोटियों सहित अस्तेय महाव्रत का पालन करता है। चौर्यकर्म एक प्रकार से हिंसा ही है। अदत्तादान अनेक दुर्गुणों का जनक है। वह अपयश का कारण और अनार्य कर्म है, इसलिए श्रमण इस महाव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करता है।

चतुर्थ महाव्रत ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के पालन से मानव का अन्तःकरण प्रशस्त, गम्भीर और सुस्थिर होता है। ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर अन्य सभी नियमों और उपनियमों का भी नाश हो जाता है।[१०२] अब्रह्मचर्य आसक्ति और मोह का कारण है, जिससे आत्मा का पतन होता है। वह आत्म-विकास में बाधक है, इसीलिए श्रमण को सभी प्रकार के अब्रह्म से मुक्त होने का सन्देश

दिया गया है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की सावधानी बहुत आवश्यक है। जरा-सी असावधानी से साधक साधना से च्युत हो सकता है। ब्रह्मचर्य-पालन का जहाँ अत्यधिक महत्त्व बताया गया है वहाँ उसकी सुरक्षा के लिए कठोर नियमों का भी विधान है। ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है।

अपरिग्रह पाँचवाँ महाव्रत है। श्रमण बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता है। परिग्रह चाहे अल्प हो या अधिक हो, सचित्त हो या अचित्त हो, वह सभी का त्याग करता है। वह मन, वचन और काया से न परिग्रह रखता है और रखवाता है और न रखने वाले का अनुमोदन करता है। परिग्रह की वृत्ति आन्तरिक लोभ की प्रतीक है। इसीलिए मूर्च्छा या आसक्ति को परिग्रह कहा है। श्रमण को जीवन की आवश्यकता की दृष्टि से कुछ धर्मोपकरण रखने पड़ते हैं, जैसे–वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि।[१०३] श्रमण वे ही वस्तुएँ अपने पास में रखे जिनके द्वारा संयम-साधना में सहायता मिले। श्रमणों को उन उपकरणों पर ममत्व नहीं रखना चाहिए, क्योंकि ममत्व साधना की प्रगति के लिए बाधक है। आचारांग[१०४] के अनुसार जो पूर्ण स्वस्थ श्रमण है, वह एक वस्त्र से अधिक न रखे। श्रमणियों के लिए चार वस्त्र रखने का विधान है पर श्रमण के वस्त्रों के नाप के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु श्रमणियों के लिए जो चार वस्त्र का उल्लेख है उनमें एक दो हाथ का, दो तीन हाथ के और एक चार हाथ का होना चाहिए। प्रश्नव्याकरणसूत्र में श्रमणों के लिए चौदह प्रकार के उपकरणों का विधान है–(१) पात्र–जोकि लकड़ी, मिट्टी अथवा तुम्बी का हो सकता है, (२) पात्रबन्ध–पात्रों को बाँधने का कपड़ा, (३) पात्रस्थापना–पात्र रखने का कपड़ा, (४) पात्रकेसरिका–पात्र पोंछने का कपड़ा, (५) पटल–पात्र ढकने का कपड़ा, (६) रजस्त्राण, (७) गोच्छक, (८) से (१०) प्रच्छादक–ओढ़ने की चादर, श्रमण विभिन्न नापों की तीन चादरें रख सकता है इसलिए ये तीन उपकरण माने गये हैं, (११) रजोहरण, (१२) मुखवस्त्रिका, (१३) मात्रक, और (१४) चोलपट्ट।[१०५] ये चौदह प्रकार की वस्तुएँ श्रमणों के लिए आवश्यक मानी गई हैं। बृहत्कल्पभाष्य[१०६] आदि में अन्य वस्तुएँ रखने का भी विधान मिलता है, पर विस्तारभय से हम यहाँ उन सबकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। अहिंसा और संयम की वृद्धि के लिए ये उपकरण हैं, न कि सुख-सुविधा के लिए।

पाँच महाव्रतों के साथ छठा व्रत रात्रि-भोजन-परित्याग है। श्रमण सम्पूर्ण रूप से रात्रि-भोजन का परित्याग करता है। अहिंसा महाव्रत के लिए व संयम-साधना के लिए रात्रि-भोजन का निषेध किया गया है। सूर्य अस्त हो जाने के पश्चात् श्रमण आहार आदि करने की इच्छा मन में भी न करे। रात्रि-भोजन-परित्याग को नित्य तप कहा है। रात्रि में आहार करने से अनेक सूक्ष्म जीवों की हिंसा की सम्भावना होती है। रात्रि-भोजन करने वाला उन सूक्ष्म और त्रस जीवों की हिंसा से अपने आपको बचा नहीं सकता। इसलिए निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए रात्रि-भोजन का निषेध किया गया है।

महाव्रत और यम

ये श्रमण के मूल व्रत हैं। अष्टांगयोग में महाव्रतों को यम कहा गया है। आचार्य पतंजलि के अनुसार महाव्रत जाति, देश, काल आदि की सीमाओं से मुक्त एक सार्वभौम साधना है।[१०७] महाव्रतों का पालन सभी के द्वारा निरपेक्ष रूप से किया जा सकता है। वैदिक परम्परा की दृष्टि से संन्यासी को महाव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करना चाहिए, उसके लिए हिंसा-कार्य निषिद्ध है।[१०८] असत्य भाषण और कटु भाषण भी वर्ज्य है।[१०९] ब्रह्मचर्य महाव्रत का भी संन्यासी को पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए। संन्यासी के लिए जलपात्र, जल छानने का वस्त्र, पादुका, आसन आदि कुछ आवश्यक वस्तुएँ रखने का विधान है।[११०] धातुपात्र का प्रयोग संन्यासी के लिए निषिद्ध है। आचार्य मनु ने लिखा है–संन्यासी जलपात्र या भिक्षापात्र मिट्टी, लकड़ी, तुम्बी या बिना छिद्र वाला बाँस का पात्र रख सकता है।[१११] यह सत्य है कि जैन परम्परा में जितना अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण है उतना सूक्ष्म विश्लेषण वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में नहीं हुआ है। वैदिक ऋषियों ने जल, अग्नि, वायु आदि में जीव नहीं माना है। यही कारण है जलस्नान को वहाँ अधिक महत्त्व दिया है। पंचाग्नि तपने को धर्म माना है, कन्द-मूल के आहार को ऋषियों के लिए श्रेष्ठ आहार स्वीकार किया है। तथापि हिंसा से बचने का उपदेश तो दिया ही गया है। वैदिक ऋषियों ने सत्य बोलने पर बल दिया है। अप्रिय सत्य भी वर्ज्य है। वही सत्य बोलना श्रेयस्कर है जिससे सभी प्राणियों का हित हो। इसी तरह अन्य व्रतों की तुलना महाव्रतों के साथ वैदिक परम्परा की दृष्टि से की जा सकती है।

महाव्रत और दस शील

जिस प्रकार जैन परम्परा में महाव्रतों का निरूपण है, वैसा महाव्रतों के नाम से वर्णन बौद्ध परम्परा में नहीं है। विनयपिटक महावग्ग में बौद्ध भिक्षुओं

के दस शील का विधान है जो महाव्रतों के साथ मिलते-जुलते हैं। वे दस शील इस प्रकार हैं–(१) प्राणातिपात-विरमण, (२) अदत्तादान-विरमण, (३) कामेसु-मिच्छाचार-विरमण, (४) मूसावाद (मृषावाद)-विरमण, (५) सुरा-मेरय-मद्य (मादक द्रव्य)-विरमण, (६) विकाल भोजन-विरमण, (७) नृत्य-गीत-वादित्र-विरमण, (८) माल्य धारण, गन्धविलेपन-विरमण, (९) उच्च शय्या, महाशय्या-विरमण, (१०) जातरूप-रजतग्रहण (स्वर्ण-रजतग्रहण)-विरमण।[११२] महाव्रत और शील में भावों की दृष्टि से बहुत कुछ समानता है।

सुत्तनिपात[११३] के अनुसार भिक्षु के लिए मन, वचन, काया और कृत, कारित तथा अनुमोदित हिंसा का निषेध किया गया है। विनयपिटक[११४] के विधानानुसार भिक्षु के लिए वनस्पति तोड़ना, भूमि को खोदना निषिद्ध है क्योंकि उससे हिंसा होने की सम्भावना है। बौद्ध परम्परा ने पृथ्वी, पानी आदि में जीव की कल्पना तो की है पर भिक्षु आदि के लिए सचित्त जल आदि का निषेध नहीं है, केवल जल छानकर पीने का विधान है। जैन श्रमण की तरह बौद्ध भिक्षुक भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भिक्षावृत्ति के द्वारा करता है। विनयपिटक में कहा गया है–जो भिक्षु बिना दी हुई वस्तु को लेता है वह श्रमणधर्म से च्युत हो जाता है।[११५] संयुक्तनिकाय में लिखा है–यदि भिक्षुक फूल को सूँघता है तो भी वह चोरी करता है।[११६] बौद्ध भिक्षुक के लिए स्त्री का स्पर्श भी वर्ज्य माना है।[११७] आनन्द ने तथागत बुद्ध से प्रश्न किया–"भदन्त ! हम किस प्रकार स्त्रियों के साथ बर्ताव करें?" तथागत ने कहा–"उन्हें मत देखो।" आनन्द ने पुनः जिज्ञासा व्यक्त की–"यदि वे दिखाई दे जाएँ तो हम उनके साथ कैसा व्यवहार करें?" तथागत ने कहा–"उनके साथ वार्त्तालाप नहीं करना चाहिए।" आनन्द ने कहा–"भदन्त ! यदि वार्त्तालाप का प्रसंग उपस्थित हो जाये तो क्या करना चाहिए?" बुद्ध ने कहा–"उस समय भिक्षु को अपनी स्मृति को सँभाले रखना चाहिए।"[११८] भिक्षु का एकान्त स्थान में भिक्षुणी के साथ बैठना भी अपराध माना गया है।[११९] बौद्ध भिक्षु के लिए विधान है कि वह स्वयं असत्य न बोले, अन्य किसी से असत्य न बुलवाये और न किसी को असत्य बोलने की अनुमति दे।[१२०] बौद्ध भिक्षु सत्यवादी होता है, वह न किसी की चुगली करता है और न कपटपूर्ण वचन ही बोलता है।[१२१] बौद्ध भिक्षु के लिए विधान है–जो वचन सत्य हो, हितकारी हो, उसे बोलना चाहिए।[१२२] जो भिक्षु जानकर असत्य वचन बोलता है, अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करता है तो वह प्रायश्चित्त योग्य दोष माना है।[१२३] गृहस्थोचित भाषा बोलना भी बौद्ध भिक्षु के लिए वर्ज्य है।[१२४] बौद्ध भिक्षु के लिए परिग्रह रखना वर्जित माना गया है। भिक्षु को स्वर्ण,

रजत आदि धातुओं को ग्रहण नहीं करना चाहिए।[१२५] जीवन यापन के लिए जितने वस्त्र-पात्र अपेक्षित हैं, उनसे अधिक नहीं रखना चाहिए। यदि वह आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है तो दोषी है। बौद्ध भिक्षु तीन चीवर, भिक्षापात्र, पानी छानने के लिए छन्ने से युक्त पात्र आदि सीमित वस्तुएँ रख सकता है।[१२६] यहाँ तक कि भिक्षु के पास जो सामग्री है उसका अधिकारी संघ है। वह उन वस्तुओं का उपयोग कर सकता है पर उनका स्वामी नहीं है। शेष जो चार शील हैं–मद्यपान, विकाल भोजन, नृत्यगीत, उच्च शय्यावर्जन आदि का महाव्रत के रूप में उल्लेख नहीं है पर वे श्रमणों के लिए वर्ज्य हैं।

दस भिक्षुशील और महाव्रतों में समन्वय की दृष्टि से देखा जाय तो बहुत कुछ समानता है, तथापि जैन श्रमणों की आचार-संहिता में और बौद्ध परम्परा की आचार-संहिता में अन्तर है। बौद्ध परम्परा में भी दस भिक्षुशीलों के लिए मन, वचन, काया तथा कृत, कारित, अनुमोदित की नव कोटियों का विधान है पर वहाँ औद्देशिक हिंसा से बचने का विधान नहीं है। जैन श्रमण के लिए यह विधान है कि यदि कोई गृहस्थ साधु के निमित्त हिंसा करता है और यदि श्रमण को यह ज्ञात हो जाये तो वह आहार आदि ग्रहण नहीं करता। जैन श्रमण के निमित्त भिक्षा तैयार की हुई हो या आमंत्रण दिया गया हो तो वह किसी भी प्रकार का आमंत्रण स्वीकार नहीं करता। बुद्ध, अपने लिए प्राणीवध कर जो माँस तैयार किया होता उसे निषिद्ध मानते थे पर सामान्य भोजन के सम्बन्ध में, चाहे वह भोजन औद्देशिक हो, वे स्वीकार करते थे। वे भोजन आदि के लिए दिया गया आमंत्रण भी स्वीकार करते थे। इसका मूल कारण है अग्नि, पानी आदि में बौद्ध परम्परा ने जैन परम्परा की तरह जीव नहीं माने हैं। इसलिए सामान्य भोजन में औद्देशिक दृष्टि से होने वाली हिंसा की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। बौद्ध परम्परा में दस शीलों का विधान होने पर भी उन शीलों के पालन में बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ उतनी सजग नहीं रहीं जितनी जैन परम्परा के श्रमण और श्रमणियाँ सजग रहीं। आज भी जैन श्रमण-श्रमणियों के द्वारा महाव्रतों का पालन जागरूकता के साथ किया जाता है जबकि बौद्ध और वैदिक परम्परा उनके प्रति बहुत ही उपेक्षाशील हो गई है। नियमों के पालन की शिथिलता ने ही तथागत बुद्ध के बाद बौद्ध भिक्षु संघ में विकृतियाँ पैदा कर दीं।

महाव्रतों के वर्णन के पश्चात् प्रस्तुत अध्ययन में विवेकयुक्त प्रवृत्ति पर बल दिया है। जिस कार्य में विवेक का आलोक जगमगा रहा है, वह कार्य

कर्मबन्धन का कारण नहीं और जिस कार्य में विवेक का अभाव है, उस कार्य से कर्मबन्धन होता है। जैसे प्राचीन युग में योद्धागण रणक्षेत्र में जब जाते थे तब शरीर पर कवच धारण कर लेते थे। कवच धारण करने से शरीर पर तीक्ष्ण बाणों का कोई असर नहीं होता, कवच से टकराकर बाण नीचे गिर जाते, वैसे ही विवेक के कवच को धारण कर साधक जीवन के क्षेत्र में प्रवृत्ति करता है। उस पर कर्मबन्धन के बाण नहीं लगते। विवेकी साधक सभी जीवों के प्रति समभाव रखता है, उसमें **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** की भव्य भावना अँगड़ाइयाँ लेती हैं। इसलिए वह किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार से पीड़ा नहीं पहुँचाता। इस अध्ययन में इस बात पर भी बल दिया गया है कि पहले ज्ञान है उसके पश्चात् चारित्र है। ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यक् नहीं होता। पहले जीवों का ज्ञान होना चाहिए। जिसे षड्जीवनिकाय का परिज्ञान है, वही जीवों के प्रति दया रख सकेगा। जिसे यह परिज्ञान ही नहीं है–जीव क्या है? अजीव क्या है? वह जीवों की रक्षा किस प्रकार कर सकेगा? इसीलिए मुक्ति का आरोह-क्रम जानने के लिए इस अध्ययन में बहुत ही उपयोगी सामग्री दी गई है। जीवाजीवाभिगम, आचार, धर्मप्रज्ञप्ति, चारित्रधर्म, चरण और धर्म ये छहों षड्जीवनिकाय के पर्यायवाची हैं।[१२७] निर्युक्तिकार भद्रबाहु के अभिमतानुसार यह अध्ययन आत्म-प्रवादपूर्व से उद्धृत है।[१२८]

एषणा : विश्लेषण

पाँचवें अध्ययन का नाम **पिण्डैषणा** है। पिण्ड शब्द **'पिंडी संघाते'** धातु से निर्मित है। चाहे सजातीय पदार्थ हो या विजातीय, उस ठोस पदार्थ का एक स्थान पर इकट्ठा हो जाना पिण्ड कहलाता है। पिण्ड शब्द तरल और ठोस दोनों के लिए व्यवहृत हुआ है। आचारांग में पानी की एषणा के लिए पिण्डैषणा शब्द का प्रयोग हुआ है।[१२९] संक्षेप में यदि कहा जाय तो अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, इन सभी की एषणा के लिए पिण्डैषणा शब्द का व्यवहार हुआ है।[१३०] दोषरहित शुद्ध व प्रासुक आहार आदि की एषणा करने का नाम पिण्डैषणा है। पिण्डैषणा का विवेचन आचारचूला में विस्तार से हुआ है। उसी का संक्षेप में निरूपण इस अध्ययन में है। स्थानांगसूत्र में पिण्डैषणा के सात प्रकार बताए हैं–(१) **संसृष्टा**–देय वस्तु से लिप्त हाथ या कड़छी आदि से देने पर भिक्षा ग्रहण करना, (२) **असंसृष्टा**–देय वस्तु से अलिप्त हाथ या कड़छी आदि से भिक्षा देने पर ग्रहण करना, (३) **उद्धृता**–अपने प्रयोजन के लिए राँधने के पात्र से दूसरे पात्र में निकाला हुआ आहार ग्रहण करना, (४) **अल्पलेपा**–अल्पलेप वाली

यानि चना, बादाम, पिस्ते, द्राक्षा आदि रूखी वस्तुएँ लेना, (५) अवगृहीता–खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना, (६) प्रगृहीता–परोसने के लिए कड़छी या चम्मच आदि से निकाला हुआ आहार लेना या खाने वाले व्यक्ति के द्वारा अपने हाथ से कँवल उठाया गया हो पर खाया न गया हो, उसे ग्रहण करना, (७) उज्झितधर्मा–जो भोजन अमनोज्ञ होने के कारण परित्याग करने योग्य है, उसे लेना।[१३१]

भिक्षा : ग्रहण-विधि

प्रस्तुत अध्ययन में बताया है कि श्रमण आहार के लिए जाये तो गृहस्थ के घर में प्रवेश करके शुद्ध आहार की गवेषणा करे। वह यह जानने का प्रयास करे कि यह आहार शुद्ध और निर्दोष है या नहीं?[१३२] इस आहार को लेने से पश्चात्कर्म आदि दोष तो नहीं लगेंगे? यदि आहार अतिथि आदि के लिए बनाया गया हो तो उसे लेने पर गृहस्थ को दोबारा तैयार करना पड़ेगा या गृहस्थ को ऐसा अनुभव होगा कि मेहमान के लिए भोजन बनाया और मुनि बीच में ही आ टपके। उनके मन में नफरत की भावना हो सकती है, अतः वह आहार भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। किसी गर्भवती महिला के लिए बनाया गया हो–वह खा रही हो और उसको अन्तराय लगे वह आहार भी श्रमण ग्रहण न करे।[१३३] गरीब और भिखारियों के लिए तैयार किया हुआ आहार भिक्षु के लिए अकल्पनीय है।[१३४] दो साझीदारों का आहार हो और दोनों की पूर्ण सहमति न हो तो वह आहार भी भिक्षु ग्रहण न करे।[१३५] इस तरह भिक्षु प्राप्त आहार की आगम के अनुसार एषणा करे। वह भिक्षा न मिलने पर निराश नहीं होता। वह यह नहीं सोचता कि यह कैसा गाँव है, जहाँ भिक्षा भी उपलब्ध नहीं हो रही है! प्रत्युत वह सोचता है कि अच्छा हुआ, आज मुझे तपस्या का सुनहरा अवसर अनायास प्राप्त हो गया। भगवान महावीर ने कहा है कि श्रमण को ऐसी भिक्षा लेनी चाहिए जो नवकोटि परिशुद्ध हो अर्थात् पूर्ण रूप से अहिंसक हो। भिक्षु भोजन के लिए न स्वयं जीव-हिंसा करे और न करवाए तथा न हिंसा करते हुए का अनुमोदन करे। न वह स्वयं अन्न पकाए, न पकवाए और न पकाते हुए का अनुमोदन करे तथा न स्वयं मोल ले, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे।[१३६]

श्रमण को जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह भिक्षा से ही प्राप्त होता है। इसीलिए कहा है–"**सव्वं से जाइयं होई णत्थि किंचि अजाइयं।**"[१३७] भिक्षु को

सभी कुछ माँगने से मिलता है, उसके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जो अयाचित हो। याचना परीषह है। क्योंकि दूसरों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं है, अहिंसा के पालक श्रमण को वैसा करना पड़ता है किन्तु उसकी भिक्षा पूर्ण निर्दोष होती है। वह भिक्षा के दोषों को टालता है। आगम में भिक्षा के निम्न दोष बताये हैं–उद्‌गम और उत्पादन के सोलह-सोलह और एषणा के दस, ये सभी मिलाकर बयालीस दोष होते हैं। पाँच दोष परिभोगैषणा के हैं। जो दोष गृहस्थ के द्वारा लगते हैं, वे दोष उद्‌गम दोष कहलाते हैं, ये दोष आहार की उत्पत्ति सम्बन्धी हैं। साधु के द्वारा लगने वाले दोष उत्पादना के दोष कहलाते हैं। आहार की याचना करते समय ये दोष लगते हैं। साधु और गृहस्थ दोनों के द्वारा जो दोष लगते हैं, वे एषणा के दोष कहलाते हैं। ये दोष विधिपूर्वक आहार न लेने और विधिपूर्वक आहार न देने तथा शुद्धाशुद्ध की छानबीन न करने से उत्पन्न होते हैं। भोजन करते समय भोजन की सराहना और निन्दा आदि करने से जो दोष पैदा होते हैं वे परिभोगैषणा दोष कहलाते हैं। आगम-साहित्य में ये सैंतालीस दोष यत्र-तत्र वर्णित हैं, जैसे–स्थानांग के नौवें स्थान में आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्यवतरक, पूतिकर्म, कृतकृत्य, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभ्याहृत ये दोष बताए हैं।[१३८] निशीथसूत्र में धातृपिण्ड, दूतीपिण्ड, निमित्तपिण्ड, आजीवपिण्ड, वनीपकपिण्ड, चिकित्सापिण्ड, कोपपिण्ड, मानपिण्ड, मायापिण्ड, लोभपिण्ड, विद्यापिण्ड, मंत्रपिण्ड, चूर्णपिण्ड, योगपिण्ड और पूर्व-पश्चात्-संस्तव ये बतलाये हैं।[१३९] आचारचूला में परिवर्तन का उल्लेख है।[१४०] भगवती में अंगार, धूम, संयोजना, प्राभृतिका और प्रमाणातिरेक दोष मिलते हैं।[१४१] प्रश्नव्याकरण में मूल कर्म का उल्लेख है। दशवैकालिक में उद्‌भिन्न, मालापहृत, अध्यवतर, शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित ये दोष आये हैं।[१४२] उत्तराध्ययन में कारणातिक्रान्त दोष का उल्लेख है।[१४३]

श्रमणाचार : एक अध्ययन

छठे अध्ययन में **महाचारकथा** का निरूपण है। तृतीय अध्ययन में क्षुल्लक आचारकथा का वर्णन था। उस अध्ययन की अपेक्षा यह अध्ययन विस्तृत होने से महाचारकथा है। तृतीय अध्ययन में अनाचारों की एक सूची दी गई है किन्तु इस अध्ययन में विविध दृष्टियों से अनाचारों पर चिन्तन किया गया है। तृतीय अध्ययन की रचना श्रमणों को अनाचारों से बचाने के लिए संकेत-सूची के रूप

में की गई है, तो इस अध्ययन में साधक के अन्तर्मानस में उद्‌बुद्ध हुए विविध प्रश्नों के समाधान हेतु दोषों से बचने का निर्देश है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि तृतीय अध्ययन में अनाचारों का सामान्य निरूपण है तो इस अध्ययन में विशेष निरूपण है। यत्र-तत्र उत्सर्ग और अपवाद की भी चर्चा की गई है। उत्सर्ग में जो बातें निषिद्ध कही गई हैं, अपवाद में वे परिस्थितिवश ग्रहण भी की जाती हैं। इस प्रकार इस अध्ययन में सहेतुक निरूपण हुआ है।

आध्यात्मिक साधना की परिपूर्णता के लिए श्रद्धा और ज्ञान, ये दोनों पर्याप्त नहीं हैं किन्तु उसके लिए आचरण भी आवश्यक है। बिना सम्यक् आचरण के आध्यात्मिक परिपूर्णता नहीं आती। सम्यक् आचरण के पूर्व सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। सम्यक् दर्शन का अर्थ श्रद्धा है और सम्यक् ज्ञान अर्थ तत्त्व का साक्षात्कार है। श्रद्धा और ज्ञान की परिपूर्णता जैन दृष्टि से तेरहवें गुणस्थान में हो जाती है किन्तु सम्यक् चारित्र की पूर्णता न होने से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। चौदहवें गुणस्थान में सम्यक् चारित्र की पूर्णता होती है तो उसी क्षण आत्मा मुक्त हो जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में उठाया गया कदम अन्तिम चरण है। सम्यक् दर्शन परिकल्पना है, सम्यक् ज्ञान प्रयोग विधि है और सम्यक् चारित्र प्रयोग है। तीनों के संयोग से सत्य का पूर्ण साक्षात्कार होता है। ज्ञान का सार आचरण है और आचरण का सार निर्वाण या परमार्थ को उपलब्धि है।

छठे अध्ययन का अपर नाम 'धर्मार्थकाम' मिलता है। मूर्धन्य मनीषियों की कल्पना है कि इस अध्ययन की चौथी गाथा में **'हंदि धमत्थकामाणं'** शब्द का प्रयोग हुआ है, इस कारण इस अध्ययन का नाम 'धर्मार्थकाम' हो गया है। यहाँ पर धर्म से अभिप्राय मोक्ष है। श्रमण मोक्ष की कामना करता है। इसलिए श्रमण का विशेषण धर्मार्थकाम है। श्रमण का आचार-गोचर अत्यधिक कठोर होता है। उस कठोर आचार का प्रतिपादन प्रस्तुत अध्ययन में हुआ है, इसलिए सम्भव है इसी कारण इस अध्ययन का नाम धर्मार्थकाम रखा हो।[१४४]

इस अध्ययन में स्पष्ट शब्दों में लिखा है, जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं उन्हें मुनि संयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते और उनका उपयोग करते हैं। सब जीवों के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है। मूर्च्छा परिग्रह है, ऐसा महर्षि ने कहा। श्रमणों के वस्त्रों के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ रही हैं–दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से श्रमण वस्त्र

धारण नहीं कर सकता तो श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से श्रमण वस्त्र को धारण कर सकता है। आचारचूला में श्रमण को एक वस्त्र सहित, दो वस्त्र सहित आदि कहा है।[१४५] उत्तराध्ययन में श्रमण की सचेल और अचेल इन दोनों अवस्थाओं का वर्णन है।[१४६] आचारांग में जिनकल्पी श्रमणों के लिए शीत ऋतु व्यतीत हो जाने पर अचेल रहने का भी विधान है।[१४७] प्रशमरति प्रकरण में आचार्य उमास्वाति ने धर्म-देहरक्षा के निमित्त अनुज्ञात पिण्ड, शय्या आदि के साथ वस्त्रैषणा का भी उल्लेख किया है।[१४८] उन्होंने उसी ग्रन्थ में श्रमणों के लिए कौन-सी वस्तु कल्पनीय है और कौन-सी वस्तु अकल्पनीय है, इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए वस्त्र का उल्लेख किया है।[१४९] तत्त्वार्थभाष्य में एषणासमिति के प्रसंग में वस्त्र का उल्लेख किया है।[१५०] इस प्रकार श्वेताम्बर साहित्य में अनेक स्थलों पर वस्त्र का निधान श्रमणों के लिए प्राप्त है। आगम साहित्य में सचेलता और अचेलता दोनों प्रकार के विधान मिलते हैं। अब प्रश्न यह है– श्रमण निर्ग्रन्थ अपरिग्रही होता है तो फिर वह वस्त्र किस प्रकार रख सकता है? भंडोपकरण को भी परिग्रह माना गया है। पर आचार्य शय्यम्भव ने कहा– "जो आवश्यक वस्त्र-पात्र संयम-साधना के लिए हैं वे परिग्रह नहीं हैं, क्योंकि उन वस्त्र-पात्रों में श्रमण की मूर्च्छा नहीं होती है। वे तो संयम और लज्जा के लिए धारण किये जाते हैं। वे वस्त्र-पात्र संयम-साधना में उपकारी होते हैं, इसलिए वे धर्मोपकरण हैं।" इस प्रकार परिग्रह की बहुत ही सटीक परिभाषा प्रस्तुत अध्ययन में दी गई है।[१५१]

वाणी-विवेक : एक विश्लेषण

सातवें अध्ययन का नाम **वाक्य-शुद्धि** है। जैनधर्म ने वाणी के विवेक पर अत्यधिक बल दिया है। मौन रहना वचनगुप्ति है। विवेकपूर्वक वाणी का प्रयोग करना भाषासमिति है। श्रमण असत्य, कर्कश, अहितकारी एवं हिंसाकारी भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता। वह स्त्रीविकथा, राजदेशविकथा, चोरविकथा, भोजनविकथा आदि वचन की अशुभ प्रवृत्ति का परिहार करता है।[१५२] वह अशुभ प्रवृत्तियों में जाते हुए वचन का निरोध कर वचनगुप्ति का पालन करता है।[१५३] मुनि प्रमाण, नय, निक्षेप से युक्त अपेक्षा दृष्टि से हित, मित, मधुर तथा सत्य भाषा बोलता है।[१५४]

श्रमण साधना की उच्च भूमि पर अवस्थित है अतः उसे अपनी वाणी पर बहुत ही नियंत्रण और सावधानी रखनी होती है। श्रमण सावद्य और अनवद्य

भाषा का विवेक रखकर बोलता है। इस प्रकार वचनसमिति का लाभ वक्ता और श्रोता दोनों को मिलता है। प्रस्तुत अध्ययन में श्रमण को किस प्रकार की भाषा बोलनी चाहिए और किस प्रकार की भाषा नहीं बोलनी चाहिए, इस सम्बन्ध में चिन्तन करते कहा गया है कि श्रमण असत्य भाषा का प्रयोग न करे और सत्यासत्य यानि मिश्र भाषा का भी प्रयोग न करे, क्योंकि असत्य और मिश्र सावद्य होती है। सावद्य भाषा से कर्मबन्ध होता है। जिस श्रमण को सावद्य और अनवद्य का विवेक नहीं है, उसके लिए मौन रहना ही अच्छा है। आचारांगसूत्र में मुनि के लिए मौन का विधान है–"**मुणी मोणं समादाय धुणे कम्मसरीरगं।**"–मुनि मौन-संयम को स्वीकार कर कर्मबन्धनों का क्षय करता है। सत्य और असत्यामृषा अर्थात् व्यवहार भाषा का प्रयोग यदि निरवद्य है तो उस भाषा का प्रयोग श्रमण कर सकता है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बताने वाली भाषा सत्य होने पर भी यदि किसी के दिल में दर्द पैदा करती है तो वह भाषा श्रमण को नहीं बोलनी चाहिए। जैसे–अन्धे को अन्धा कहना, काने को काना कहना। सत्य होने पर भी वह अवक्तव्य है। बोलने के पूर्व साधक को सोचना चाहिए कि वह क्या बोल रहा है? विज्ञ बोलने से पूर्व सोचता है तो मूर्ख बोलने के बाद में सोचता है! एक बार जो अपशब्द मुँह से निकल जाते हैं, उनके बाद केवल पश्चात्ताप हाथ लगता है। वाणी के असंयम ने ही महाभारत का युद्ध करवाया, जिसमें भारत की विशिष्ट विभूतियाँ नष्ट हो गईं। इस प्रकार वाणी का प्रयोग आचार का प्रमुख अंग होने के कारण उस पर सूक्ष्म चिंतन इस अध्ययन में किया गया है। विवेकहीन वाणी और विवेकहीन मौन दोनों पर ही निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने चिन्तन किया है। जिस श्रमण में बोलने का विवेक है, भाषासमिति का पूर्ण परिज्ञान है वह बोलता हुआ भी मौनी है और अविवेकपूर्वक जो मौन रखता है, उसका मौन वाणी तक तो सीमित रहता है पर अन्तर्मानस में विकृत भावनाएँ पनप रही हों तो वह मौन सच्चा मौन नहीं है। उदाहरण के रूप में कोई श्रमण रुग्ण है, गुरुजन रात्रि में शिष्य को आवाज देते हैं। यदि शिष्य सोचे कि इस समय बोले तो सेवा के लिए उठना पड़ेगा, अतः मौन रख लूँ। इस प्रकार सोचकर उत्तर नहीं देता है तो वह मौन सही मौन नहीं है। अतः साधक को हर दृष्टि से चिन्तनपूर्वक बोलना चाहिए, उसकी वाणी पर विवेक का अंकुश हो। धम्मपद में कहा है कि जो भिक्षु वाणी में संयत है, मितभाषी है तथा विनीत है वही धर्म और अर्थ को प्रकाशित करता है, उसका भाषण मधुर होता है।[१५५] सुत्तनिपात में उल्लेख है कि भिक्षु को

अविवेकपूर्ण वचन नहीं बोलना चाहिए। वह विवेकपूर्ण वचन का ही प्रयोग करे। आचार्य मनु ने लिखा है– मुनि को सदैव सत्य ही बोलना चाहिए।[१५६] महाभारत शान्तिपर्व में वचन-विवेक पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[१५७]

इन्द्रिय-संयम : एक चिन्तन

प्रस्तुत अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व से उद्धृत है।[१५८] आठवें अध्ययन का नाम आचारप्रणिधि है। आचार एक विराट् निधि है। जिस साधक को यह अपूर्व निधि प्राप्त हो जाती है, उसके जीवन का कायाकल्प हो जाता है। उसका प्रत्येक व्यवहार अन्य साधकों की अपेक्षा पृथक् हो जाता है। उसका चलना, बैठना, उठना सभी विवेकयुक्त होता है। वह इन्द्रियरूपी अश्वों को सन्मार्ग की ओर ले जाता है। उसकी मन, वचन, कर्म और इन्द्रियाँ उच्छृंखल नहीं होतीं। वह शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में समभाव धारण करता है। राग-द्वेष के वशीभूत होकर कर्मबन्धन नहीं करता है-इन्द्रियों पर वह नियंत्रण करता है। इन्द्रिय-संयम श्रवण-जीवन का अनिवार्य कर्त्तव्य है। यदि श्रमण इन्द्रियों पर संयम नहीं रखेगा तो श्रमण-जीवन में प्रगति नहीं कर सकेगा। प्रायः इन्द्रिय-सुखों की प्राप्ति के लिए ही व्यक्ति पतित आचरण करता है। इन्द्रिय-संयम का अर्थ है-इन्द्रियों को अपने विषयों के ग्रहण से रोकना एवं गृहीत विषय में राग-द्वेष न करना। हमारे अन्तर्मानस में इन्द्रियों के विषयों के प्रति जो आकर्षण उत्पन्न होता है उनका नियमन किया जाए।[१५९] श्रमण अपनी पाँचों इन्द्रियों को संयम में रखे और जहाँ भी संयममार्ग से पतन की संभावना हो वहाँ उन विषयों पर संयम करे। जैसे संकट समुपस्थित होने पर कछुआ अपने अंगों का समाहरण कर लेता है वैसे ही श्रमण इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का समाहरण करे।[१६०] बौद्ध श्रमणों के लिए भी इन्द्रिय-संयम आवश्यक माना है। धम्मपद में तथागत बुद्ध ने कहा–"नेत्रों का संयम उत्तम है, कानों का संयम उत्तम है, घ्राण और रसना का संयम भी उत्तम है, शरीर, वचन और मन का संयम भी उत्तम है, जो भिक्षु सर्वत्र सभी इन्द्रियों का संयम रखता है वह दुःखों से मुक्त हो जाता है।"[१६१] स्थितप्रज्ञ का लक्षण बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन को कहा–"जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत हैं वही स्थितप्रज्ञ है।"[१६२] इस प्रकार भारतीय परम्परा में चाहे श्रमण हो, चाहे संन्यासी हो उसके लिए इन्द्रिय-संयम आवश्यक है।[१६३]

कषाय : एक विश्लेषण

श्रमण को इन्द्रियनिग्रह के साथ कषायनिग्रह भी आवश्यक है। कषाय शब्द क्रोध, मान, माया, लोभ का संग्राहक है। यह जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है। कष और आय इन दो शब्दों के मेल से कषाय शब्द निर्मित हुआ है। 'कष' का अर्थ-संसार, कर्म या जन्म-मरण है और आय का अर्थ लाभ है। जिससे प्राणी कर्मों से बाँधा जाता है अथवा जिससे जीव पुनः-पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है वह कषाय है।[१६४] स्थानांगसूत्र के अनुसार पापकर्म के दो स्थान हैं- राग और द्वेष। राग माया और लोभरूप है तथा द्वेष क्रोध और मानरूप है।[१६५] आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य में नयों के आधार से राग-द्वेष का कषायों के साथ क्या सम्बन्ध है, इस पर चिन्तन किया है। संग्रहनय की दृष्टि से क्रोध और मान ये दोनों द्वेषरूप हैं। माया और लोभ ये दोनों रागरूप हैं। इसका कारण यह है कि क्रोध और मान में दूसरे के प्रति अहित की भावना सन्निहित है। व्यवहारनय की दृष्टि से क्रोध, मान और माया ये तीनों द्वेष के अन्तर्गत आते हैं। माया में भी दूसरे का अहित हो, इस प्रकार की विचारधारा रहती है। लोभ एकाकी राग में है, क्योंकि उसमें ममत्वभाव है। ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से केवल क्रोध ही द्वेषरूप है। मान, माया, लोभ ये तीनों कषाय न राग-प्रेरित हैं और न द्वेष-प्रेरित। वे जब राग से उत्प्रेरित होते हैं तो रागरूप हैं और जब द्वेष से प्रेरित होते हैं तो द्वेषरूप हैं।[१६६] चारों कषाय राग-द्वेषात्मक पक्षों की आवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं।

क्रोध एक उत्तेजक आवेग है जिससे विचारक्षमता और तर्कशक्ति प्रायः शिथिल हो जाती है। भगवतीसूत्र में क्रोध के द्रव्य-क्रोध और भाव-क्रोध ये दो भेद किये हैं।[१६७] द्रव्य-क्रोध से शारीरिक चेष्टाओं में परिवर्तन आता है और भाव-क्रोध से मानसिक अवस्था में परिवर्तन आता है। क्रोध का अनुभूत्यात्मक पक्ष भाव-क्रोध है और क्रोध का अभिव्यक्त्यात्मक पक्ष द्रव्य-क्रोध है। क्रोध का आवेग सभी में एक सदृश नहीं होता, वह तीव्र और मंद होता है। तीव्रतम क्रोध अनन्तानुबन्धी क्रोध कहलाता है। तीव्रतर क्रोध अप्रत्याख्यानी क्रोध के नाम से विश्रुत है। तीव्र क्रोध प्रत्याख्यानी क्रोध की संज्ञा से पुकारा जाता है और अल्प क्रोध संज्वलन क्रोध के रूप में पहचाना जाता है।

मान कषाय का दूसरा प्रकार है। मानव में स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति है। जब वह प्रवृत्ति दम्भ और प्रदर्शन का रूप ग्रहण करती है तब मानव के

अन्तःकरण में मान की वृत्ति समुत्पन्न होती है। अहंकारी मानव अपनी अहंवृत्ति का सम्पोषण करता रहता है। अहं का कारण वह अपने आप को महान् और दूसरे को हीन समझता है। प्रायः जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि, ज्ञान, सौन्दर्य, अधिकार आदि पर अहंकार आता है। इन्हें आगम की भाषा में मद भी कहा गया है। अहंभाव की तीव्रता और मन्दता के आधार पर मान कषाय के भी चार प्रकार होते हैं–तीव्रतम मान अनन्तानुबन्धी मान, तीव्रतर मान अप्रत्याख्यानी मान। तीव्र मान प्रत्याख्यानी मान, अल्प मान संज्वलन के नाम से जाने और पहचाने जाते हैं।

कपटाचार माया कषाय है, माया जीवन की विकृति है। मायावी का जीवन निराला होता है। वह **'विषकुम्भं पयोमुखम्'** होता है। माया कषाय के भी तीव्रता और मंदता की दृष्टि से पूर्ववत् चार प्रकार होते हैं।

लोभ मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा व लालसा है। लोभ दुर्गुणों की जड़ है। ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों-त्यों लोभ बढ़ता चला जाता है। अनन्त आकाश का कहीं ओर-छोर नहीं, वैसे ही लोभ भी अछोर है। लोभ कषाय के भी तीव्रता और मंदता के आधार पर पूर्ववत् चार प्रकार होते हैं। इस प्रकार कषाय के सोलह प्रकार होते हैं। कषाय को चाण्डालचौकड़ी भी कहा गया है। कषाय की तीव्रता अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय के फलस्वरूप जीव अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है, वह सम्यक् दृष्टि नहीं बन सकता। अप्रत्याख्यानी कषाय में श्रावकधर्म स्वीकार नहीं कर सकता। अप्रत्याख्यानी कषाय आंशिक चारित्र को नष्ट कर देता है। प्रत्याख्यानी कषाय की विद्यमानता में साधुत्व प्राप्त नहीं होता। ये तीनों प्रकार के कषाय विशुद्ध निष्ठा को और चारित्रधर्म को नष्ट करते हैं। संज्वलन कषाय में पूर्ण वीतरागता की उपलब्धि नहीं होती। इसलिए आत्म-हित चाहने वाला साधक पाप की वृद्धि करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ–इन चारों दोषों को पूर्णतया छोड़ दे।[१६८] ये चारों दोष सद्गुणों को नाश करने वाले हैं। क्रोध से प्रीति का, मान से विनय का, माया से मित्रता का और लोभ से सभी सद्गुणों का नाश होता है।[१६९] योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है–मान विनय, श्रुत, शील का घातक है, विवेकरूपी नेत्रों को नष्ट कर मानव को अन्धा बना देता है। जब क्रोध उत्पन्न होता है तो सर्वप्रथम उसी मानव को जलाता है जिसमें वह उत्पन्न हुआ है। माया अविद्या और असत्य को उत्पन्न करती है। वह शीलरूपी लहलहाते हुए वृक्ष को नष्ट करने में कुल्हाड़ी के सदृश है। लोभ से समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। वह

सद्गुणों को निगलने वाला राक्षस है और जितने भी दुःख हैं उनका वह मूल है।[१७०] प्रश्न यह है कि कषाय को किस प्रकार जीता जाए? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य शय्यम्भव ने लिखा है–शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।[१७१] आचार्य कुन्दकुन्द[१७२] तथा आचार्य हेमचन्द्र[१७३] ने भी शय्यम्भव का ही अनुसरण किया है तथा बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद[१७४] में भी यही स्वर झंकृत हुआ है कि अक्रोध से क्रोध को, साधुता से असाधुता को जीतें और कृपणता को दान से, मिथ्या भाषण को सत्य से पराजित करें। महाभारतकार व्यास ने भी इसी सत्य की अपने शब्दों में पुनरावृत्ति की है।[१७५] कषाय वस्तुतः आत्म-विकास में अत्यधिक बाधक तत्त्व है। कषाय के नष्ट होने पर ही भव परम्परा का अन्त होता है। कषायों से मुक्त होना ही सही दृष्टि से मुक्ति है।

जैन परम्परा में जिस प्रकार कषाय वृत्ति त्याज्य मानी गई है उसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी कषाय वृत्ति को हेय माना है। तथागत बुद्ध ने साधकों को सम्बोधित करते हुए कहा–क्रोध का परित्याग करो, अभिमान को छोड़ दो, समस्त संयोजनों को तोड़ दो, जो पुरुष नाम तथा रूप में आसक्त नहीं होता अर्थात् उनका लोभ नहीं करता, जो अकिंचन है उस पर क्लेशों का आक्रमण नहीं होता। जो समुत्पन्न होते हुए क्रोध को उसी तरह निग्रह कर लेता है जैसे सारथी अश्व को, वही सच्चा सारथी है। शेष तो मात्र लगाम पकड़ने वाले हैं।[१७६] जो क्रोध करता है वह वैरी है तथा जो मायावी है उस व्यक्ति को वृषल (नीच) जानो।[१७७] सुत्तनिपात में बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा–जो मानव जाति, धन और गोत्र का अभिमान करता है और अपने बन्धुओं का अपमान करता है वह उसी पराभव का कारण है।[१७८] मायावी मरकर नरक में उत्पन्न होता है और दुर्गति को प्राप्त करता है।[१७९] इस प्रकार बौद्धधर्म में कषाय या अशुभ वृत्तियों के परिहार पर बल दिया है। बौद्धदर्शन की भाँति कषाय-निरोध का संकेत वैदिकदर्शन में भी प्राप्त है। छान्दोग्योपनिषद् में कषाय शब्द राग-द्वेष के अर्थ में प्रयुक्त है।[१८०] महाभारत में कषाय शब्द अशुभ मनोवृत्तियों के अर्थ में आया है। वहाँ पर इस बात पर प्रकाश डाला है कि मानव-जीवन के तीन सोपान हैं–ब्रह्मचर्य-आश्रम, गृहस्थ-आश्रम और वानप्रस्थ-आश्रम। इन तीन आश्रमों में कषाय को पराजित कर फिर संन्यास-आश्रम का अनुसरण करे।[१८१] श्रीमद्भगवद्गीता में कषाय के अर्थ में ही आसुरी वृत्ति का उल्लेख है। दम्भ, दर्प, मान, क्रोध आदि आसुरी संपदा हैं।[१८२] अहंकारी मानव बल,

दर्प, काम, क्रोध के अधीन होकर अपने और दूसरों के शरीर में अवस्थित परमात्मा से विद्वेष करने वाले होते हैं।[१८३] काम, क्रोध और लोभ ये नरक के द्वार हैं, अतः इन तीनों द्वारों का त्याग कर देना चाहिए और जो इनको त्यागकर कल्याणमार्ग का अनुसरण करता है वह परम गति को प्राप्त करता है। इस प्रकार हम देखते हैं वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी क्रोध, मान आदि आवेगों को आध्यात्मिक विकास में बाधक माना है। यह आवेग सामाजिक सम्बन्धों में भी कटुता उत्पन्न करते हैं। सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टि से इनका परिहार आवश्यक है। जितना-जितना कषायों का आवेग कम होगा उतनी ही साधना में स्थिरता और परिपक्वता आयेगी। इसलिए आठवें अध्ययन में कहा गया है–श्रमण को कषाय का निग्रह कर मन का सुप्रणिधान करना चाहिए। इस अध्ययन में इस बात पर बल दिया गया है कि श्रमण इन्द्रिय और मन का अप्रशस्त प्रयोग न करे, वह प्रशस्त प्रयोग करे। यह शिक्षा ही इस अध्ययन की अन्तरात्मा है। इसीलिए निर्युक्तिकार की दृष्टि से 'आचारप्रणिधि' नाम का भी यही हेतु है।[१८४]

'प्रणिधि' शब्द का प्रयोग कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अनेक बार किया है। वहाँ गूढ़ पुरुष-प्रणिधि, राग-प्रणिधि, दूत-प्रणिधि आदि प्रणिधि पद वाले कितने ही प्रकरण हैं। अर्थशास्त्र के व्याख्याकार ने प्रणिधि का अर्थ कार्य में लगाना तथा व्यापार किया है। प्रस्तुत आगम में जो प्रणिधि शब्द का प्रयोग हुआ है वह साधक को आचार में प्रवृत्त करना या आचार में संलग्न करना है। इस अध्ययन में कषायविजय, निद्राविजय, अट्टहासविजय के लिए सुन्दर संकेत किए गये हैं। आत्मगवेषी साधकों के लिए संयम और स्वाध्याय में सतत संलग्न रहने की प्रबल प्रेरणा दी गई है। जो संयम और स्वाध्याय में रत रहते हैं वे स्व-पर का रक्षण करने में उसी प्रकार समर्थ होते हैं जैसे आयुधों से सज्जित वीर सैनिक सेना से घिर जाने पर भी अपनी और दूसरों की रक्षा कर लेता है।[१८५]

विनय : एक विश्लेषण

नौवें अध्ययन का नाम **विनयसमाधि** है। विनय तप है और तप धर्म है। अतः साधक को विनय धारण करना चाहिए। विनय का सम्बन्ध हृदय से है। जिसका हृदय कोमल होता है वह गुरुजनों का विनय करता है। अहंकार पत्थर की तरह कठोर होता है, वह टूट सकता है पर झुक नहीं सकता। जिसका हृदय

नम्र है, मुलायम है, उसकी वाणी और आचरण सभी में कोमलता की मधुर सुवास होती है। विनय आत्मा का ऐसा गुण है, जिससे आत्मा सरल, शुद्ध और निर्मल बनता है। विनय शब्द का प्रयोग आगम-साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। कहीं पर विनय नम्रता के अर्थ में व्यवहृत हुआ है तो कहीं पर आचार और उसकी विविध धाराओं के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन परम्परा में विनय शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ को लिए हुए है। श्रमण भगवान महावीर के समय एक सम्प्रदाय था जो विनय-प्रधान था।[१८७] वह बिना किसी भेदभाव के सबका विनय करता था। चाहे श्रमण मिले, चाहे ब्राह्मण मिले, चाहे गृहस्थ मिले, चाहे राजा मिले या रंक मिले, चाहे हाथी मिले या घोड़ा मिले, चाहे कूकर मिले या शूकर मिले, सबका विनय करते रहना ही उसका सिद्धान्त था।[१८८] इस मत के वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्म, वाल्मीकि, रोमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, तेलापुत्र, इन्द्रदत्त आदि बत्तीस आचार्य थे जो विनयवाद का प्रचार करते थे।[१८९] पर जैनधर्म वैनयिक नहीं है, उसने आचार को प्रधानता दी है। ज्ञाताधर्मकथा में सुदर्शन नामक श्रेष्ठी ने थावच्चापुत्र अणगार से जिज्ञासा प्रस्तुत की–"आपके धर्म और दर्शन का मूल क्या है?" थावच्चापुत्र अणगार ने चिन्तन की गहराई में डुबकी लगाकर कहा–"सुदर्शन ! हमारे धर्म और दर्शन का मूल विनय है और वह विनय अगार और अनगार विनय के रूप में है। अगार और अनगार के जो व्रत और महाव्रत हैं उनको धारण करना ही अगार-अनगार विनय है।[१९०] इस अध्ययन में विनय-समाधि का निरूपण है तो उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन का नाम विनयश्रुत दिया गया है।

यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि विनय को तप क्यों कहा गया है? सद्गुरुओं के साथ नम्रतापूर्ण व्यवहार करना यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। फिर ऐसी क्या विशेषता है जो उसे तप की कोटि में परिगणित किया गया है? उत्तर में निवेदन है कि विनय शब्द जैन-साहित्य में तीन अर्थों में व्यवहृत हुआ है–

१. विनय–अनुशासन,

२. विनय–आत्म-संयम–सदाचार,

३. विनय–नम्रता–सद्व्यवहार।

उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन में जो विनय का विश्लेषण हुआ है वहाँ विनय अनुशासन के अर्थ में आया है। सद्गुरुओं की आज्ञा का पालन करना,

उनकी भावनाओं को लक्ष्य में रखकर कार्य करना, गुरुजन शिष्य के हित के लिए कभी कठोर शब्दों में हित शिक्षा प्रदान करें, उपालम्भ भी दें तो शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह गुरु की बात को बहुत ही ध्यानपूर्वक सुने और उसका अच्छी तरह से पालन करे। "**फरुसं पि अणुसासणं।**"[१९१] अनुशासन चाहे कितना भी तेजतर्रार क्यों न हो, शिष्य सदा यही सोचे कि गुरुजन मेरे हित के लिए यह आदेश दे रहे हैं, इसलिए मुझे गुरुजनों के हितकारी, लाभकारी आदेश का पालन करना चाहिए,[१९२] उनके आदेश की अवहेलना करना और अनुशासन पर क्रोध करना मेरा कर्त्तव्य नहीं है।[१९३]

विनय का दूसरा अर्थ आत्म-संयम है। उत्तराध्ययन में "**अप्पा चेव दमेयव्वो।**"–आत्मा का दमन करना चाहिए; जो आत्मा का दमन करता है, वह सर्वत्र सुखी होता है। विवेकी साधक संयम और तप के द्वारा अपने आप पर नियंत्रण करता है। जो आत्मा विनीत होता है, वह आत्म-संयम कर सकता है, वही व्यक्ति गुरुजनों के अनुशासन को भी मान सकता है, क्योंकि उसके मन में गुरुजनों के प्रति अनन्त आस्था होती है। वह प्रतिफल–प्रतिक्षण यही सोचता है कि गुरुजन जो भी मुझे कहते हैं, वह मेरे हित के लिए है, मेरे सुधार के लिए है। कितना गुरुजनों का मुझ पर स्नेह है कि जिसके कारण वे मुझे शिक्षा प्रदान करते हैं। शिष्य गुरुजनों के समक्ष विनीत मुद्रा में बैठता है, गुरुजनों के समक्ष कम बोलता है या मौन रहता है। गुरुजनों का विनय कर उन्हें सदा प्रसन्न रखता है और ज्ञान-आराधना में लीन रहता है। विनीत व्यक्ति अपने सद्‌गुणों के कारण आदर का पात्र बनता है। विनय ऐसा वशीकरण मंत्र है जिससे सभी सद्‌गुण खिंचे चले आते हैं। अविनीत व्यक्ति सड़े हुए कानों वाली कुतिया सदृश है, जो दर-दर ठोकरें खाती है, अपमानित होती है। लोग उससे घृणा करते हैं। वैसे ही अविनीत व्यक्ति सदा अपमानित होता है। इस तरह विनय के द्वारा आत्म-संयम तथा शील-सदाचार की भी पावन प्रेरणा दी गई है।

विनय का तृतीय अर्थ नम्रता और सद्‌व्यवहार है। विनीत व्यक्ति गुरुजनों के समक्ष बहुत ही नम्र होकर रहता है। वह उन्हें नमस्कार करता है तथा अञ्जलिबद्ध होकर तथा कुछ झुककर खड़ा रहता है। उसके प्रत्येक व्यवहार में विवेकयुक्त नम्रता रहती है। वह न गुरुओं के आसन से बहुत दूर बैठता है, न सटकर बैठता है। वह इस मुद्रा में बैठता है जिसमें अहंकार न झलके। वह गुरुओं की आशातना नहीं करता। इस प्रकार वह नम्रतापूर्ण सद्‌व्यवहार करता है।

आचार्य नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थ पर आचार्य सिद्धसेनसूरि ने एक वृत्ति लिखी है। उसमें उन्होंने लिखा है–क्लेश समुत्पन्न करने वाले आठ कर्मशत्रुओं को जो दूर करता है वह विनय है–"**विनयति क्लेशकारकमष्टप्रकारं कर्म इति विनयः।**"–विनय से अष्टकर्म नष्ट होते हैं। चार गति का अन्त कर वह साधक मोक्ष को प्राप्त करता है। विनय सद्गुणों का आधार है। जो विनीत होता है उसके चारों ओर सम्पत्ति मँडराती है और अविनीत के चारों ओर विपत्ति। भगवती,[१९४] स्थानांग,[१९५] औपपातिक[१९६] में विनय के सात प्रकार बताए हैं–(१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय, (४) मनविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय, तथा (७) लोकोपचारविनय। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि को विनय कहा गया है, क्योंकि उनके द्वारा कर्मपुद्गलों का विनयन यानि विनाश होता है। विनय का अर्थ यदि हम भक्ति और बहुमान करें तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के प्रति भक्ति और बहुमान प्रदर्शित करना है। जिस समाज और धर्म में ज्ञान और ज्ञानियों का सम्मान और बहुमान होता है, वह धर्म और समाज आगे बढ़ता है। ज्ञानी धर्म और समाज के नेत्र हैं। ज्ञानी के प्रति विनीत होने से धर्म और समाज में ज्ञान के प्रति आकर्षण बढ़ता है। इतिहास साक्षी है कि यहूदी जाति विद्वानों का बड़ा सम्मान करती थी, उन्हें हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करती थी, जिसके फलस्वरूप आइन्सटीन जैसा विश्वविश्रुत वैज्ञानिक उस जाति में पैदा हुआ अनेक मूर्धन्य वैज्ञानिक और लेखक यहूदी जाति की देन हैं। अमेरिका और रूस में जो विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति हुई है, उसका मूल कारण भी वहाँ पर वैज्ञानिकों और साहित्यकारों का सम्मान रहा है। भारत में भी राजागण जब कवियों को उनकी कविताओं पर प्रसन्न होकर लाखों रुपया पुरस्कारस्वरूप दे देते थे तब कविगण जमकर के साहित्य की उपासना करते थे। गीर्वाण गिरा का जो साहित्य समृद्ध हुआ उसका मूल कारण विद्वानों का सम्मान था। ज्ञानविनय के पाँच भेद औपपातिक में प्रतिपादित हैं।

दर्शनविनय में साधक सम्यक् दृष्टि के प्रति विश्वास तथा आदरभाव प्रकट करता है। इस विनय के दो रूप हैं–(१) शुश्रूषाविनय तथा (२) अनाशातनाविनय। औपपातिक के अनुसार दर्शनविनय के भी अनेक भेद हैं। देव, गुरु, धर्म आदि का अपमान हो, इस प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिए। आशातना का अर्थ ज्ञान आदि सद्गुणों की आय–प्राप्ति के मार्ग को अवरुद्ध करना है।[१९७]

अर्हत्, अर्हत्प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, क्रियावादी, सम आचार वाले श्रमण, मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञान के धारक, इन पन्द्रह की आशातना न करना, बहुमान करना आदि पैंतालीस अनाशातनाविनय के भेद प्रतिपादित हैं। सामायिक आदि पाँच चारित्र और चारित्रवान् के प्रति विनय करना चारित्रविनय है। अप्रशस्त प्रवृत्ति से मन को दूर रखकर मन से प्रशस्त प्रवृत्ति करना मनोविनय है। सावद्य वचन की प्रवृत्ति न करना और वचन की निरवद्य व प्रशस्त प्रवृत्ति करना वचनविनय है। काया की प्रत्येक प्रवृत्ति में जागरूक रहना, चलना, उठना, बैठना, सोना आदि सभी प्रवृत्तियाँ उपयोगपूर्वक करना प्रशस्त कायविनय है। लोक-व्यवहार की कुशलता जिस विनय से सहज रूप से उपलब्ध होती है वह लोकोपचारविनय है। उसके सात प्रकार हैं। गुरु आदि के सन्निकट रहना, गुरुजनों की इच्छानुसार कार्य करना, गुरु के कार्य में सहयोग करना, कृत उपकारों का स्मरण करना, उनके प्रति कृतज्ञ भाव रखकर उनके उपकार से उऋण होने का प्रयास करना, रुग्ण श्रमण के लिए औषधि एवं पथ्य की गवेषणा करना, देश एवं काल को पहचानकर काम करना, किसी के विरुद्ध आचरण न करना, इस प्रकार विनय की व्यापक पृष्ठभूमि है, जिसका प्रतिपादन इस अध्ययन में किया गया है। यदि शिष्य अनन्त ज्ञानी हो जाए तो भी गुरु के प्रति उसके अन्तर्मानस में वही श्रद्धा और भक्ति होनी चाहिए जो पूर्व में थी। जिन ज्ञानवान् जनों से किंचिन्मात्र भी ज्ञान प्राप्त किया है उनके प्रति सतत विनीत रहना चाहिए। जब शिष्य में विनय के संस्कार प्रबल होते हैं तो वह गुरुओं का सहज रूप से स्नेह-पात्र बन जाता है। अविनीत असंविभागी होता है और जो असंविभागी होता है उसका मोक्ष नहीं होता।[१९८] इस अध्ययन में चार समाधियों का उल्लेख है–विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचारसमाधि। आचार्य हरिभद्र[१९९] ने समाधि का अर्थ आत्मा का हित, सुख और स्वास्थ्य किया है। विनय, श्रुत, तप और आचार के द्वारा आत्मा का हित होता है, इसलिए वह समाधि है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने समारोपण तथा गुणों के समाधान अर्थात् स्थिरीकरण या स्थापन को समाधि कहा है। उनके अभिमतानुसार विनय, श्रुत, तप और आचार के समारोपण या इनके द्वारा होने वाले गुणों के समाधान को विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि तथा आचारसमाधि कहा है।[२००] विनय, श्रुत, तप तथा आचार; इनका क्या उद्देश्य है, इसकी सम्यक् जानकारी प्रस्तुत अध्ययन में है। यह अध्ययन नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत है।[२०१]

भिक्षु : एक चिन्तन

दसवें अध्ययन का नाम सभिक्षु अध्ययन है। जो भिक्षा कर अपना जीवन यापन करता है, वह भिक्षु कहलाता है। भिक्षा भिखारी भी माँगते हैं, वे दर-दर हाथ और झोली पसारे हुए दीन स्वर में भीख माँगते हैं। जो उन्हें भिक्षा देता है, उन्हें वे आशीर्वाद प्रदान करते हैं और नहीं देने वाले को कटु वचन कहते हैं, शाप देते हैं तथा रुष्ट होते हैं। भिखारी की भिक्षा केवल पेट भरने के लिए होती है। उस भिक्षा में कोई पवित्र उद्देश्य नहीं होता और न कोई शास्त्रसम्मत विधिविधान ही होता है। वह भिक्षा अत्यन्त निम्न स्तर की होती है। इस प्रकार की भिक्षा पौरुष भिक्षा है।[२०२] वह भिक्षा पुरुषार्थ का नाश कर अकर्मण्य और आलसी बनाती है। ऐसे पुरुषत्वहीन माँगखोर व्यक्तियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। वे माँगकर खाते ही नहीं, जमा भी करते हैं और दुर्व्यसनों में उसका उपयोग करते हैं।

श्रमण अदीनभाव से अपनी श्रमण-मर्यादा और अभिग्रह के अनुकूल जो भिक्षा प्राप्त होती है उसे प्रसन्नता से ग्रहण करता है। भिक्षा में रूक्ष और नीरस पदार्थ मिलने पर वह रुष्ट नहीं होता और उत्तम, स्वादिष्ट पदार्थ मिलने पर तुष्ट नहीं होता। भिक्षा में कुछ भी प्राप्त नहीं हो तो भी वह खिन्न नहीं होता और मिलने पर हर्षित भी नहीं होता। वह दोनों ही स्थितियों में समभाव रखता है। इसलिए श्रमण की भिक्षा सामान्य भिक्षा न होकर सर्वसम्पत्करी भिक्षा है। सर्वसम्पत्करी[२०३] भिक्षा देने वाले और लेने वाले दोनों के लिए कल्याणकारी है। जिसमें संवेग, निर्वेद, विवेक, सुशीलसंसर्ग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, शांति, मार्दव, आर्जव, तितिक्षा, आराधना, आवश्यक शुद्धि प्रभृति सद्गुणों का साम्राज्य हो वह भिक्षु है।

सूत्रकृतांगसूत्र में भिक्षु की परिभाषा इस प्रकार है–जो निरभिमान, विनीत, पापमल को धोने वाला, दान्त, बन्धनमुक्त होने योग्य, निर्ममत्व, विविध प्रकार के परीषहों और उपसर्गों से अपराजित, अध्यात्मयोगी, विशुद्ध, चारित्र-सम्पन्न, सावधान, स्थितात्मा, यशस्वी, विवेकशील तथा परदत्तभोजी है, वह भिक्षु है।[२०४] जो कर्मों का भेदन करता है वह भिक्षु कहलाता है। भिक्षु के भी द्रव्य-भिक्षु और भाव-भिक्षु ये दो प्रकार हैं। द्रव्य-भिक्षु माँगकर खाने के साथ ही त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा करता है; सचित्तभोजी है; स्वयं पकाकर खाता है; सभी प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति करता है; संचय करके रखता है; परिग्रही

है। भाव-भिक्षु वह है जो पूर्ण रूप से अहिंसक है; सचित्तत्यागी है, तीन करण, तीन योग से सावद्य प्रवृत्ति का परित्यागी है; आगम में वर्णित भिक्षु के जितने भी सद्‌गुण हैं, उन्हें धारण करता है।

भिक्षु की गौरव-गरिमा अतीतकाल से चली आई है। जैन, बौद्ध और वैदिक–तीनों ही परम्पराओं में भिक्षु शीर्षस्थ स्थान पर आसीन रहा है। वैदिक परम्परा में संन्यासी पूज्य रहा है, उसे दो हाथों वाला साक्षात् परमेश्वर माना है–"द्विभुजः परमेश्वरः।" बौद्ध परम्परा में भी भिक्षु का महत्त्व कम नहीं रहा है, भिक्षु धर्म-संघ का अधिनायक रहा है। जैन परम्परा में भी भिक्षु को परम पूज्य स्थान प्राप्त है। भिक्षु का जीवन सद्‌गुणों का पुञ्ज होता है। वह समाज, राष्ट्र के लिए प्रकाश-स्तम्भ की तरह उपयोगी होता है। वह स्व-कल्याण के साथ ही पर-कल्याण में लगा रहता है। धम्मपद में भिक्षु के अनेक लक्षण बताए गये हैं, जो प्रस्तुत अध्ययन में बताए गए लक्षणों से मिलते-जुलते हैं। विश्व में अनेक मूर्धन्य मनीषियों ने भिक्षु की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं। सभी परिभाषाओं का सार संक्षेप में यह है कि भिक्षु का जीवन सामान्य मानव के जीवन से अलग-थलग होता है। वह विकार और वासनाओं से एवं राग-द्वेष से ऊपर उठा हुआ होता है। उसके जीवन में हजारों सद्‌गुण होते हैं। वह सद्‌गुणों से जन-जन के मन को आकर्षित करता है। वह स्वयं तिरता है और दूसरों को तारने का प्रयास करता है। भगवान महावीर स्वयं भिक्षु थे। जब कोई अपरिचित व्यक्ति उनसे पूछता कि आप कौन हैं तो संक्षेप में वे यही कहते कि मैं भिक्षु हूँ। भिक्षु के श्रमण, निर्ग्रन्थ, मुनि, साधु आदि पर्यायवाची शब्द हैं। भिक्षुचर्या की दृष्टि से इस अध्ययन का बहुत ही महत्त्व है। श्रमण-जीवन की महिमा उसके त्याग और वैराग्ययुक्त जीवन में रही हुई है।

रति : विश्लेषण

दशवैकालिक के दस अध्ययनों के पश्चात् दो चूलिकाएँ हैं। चूलिकाओं के सम्बन्ध में हम पूर्व पृष्ठों में लिख चुके हैं। प्रथम चूलिका 'रतिवाक्या' के नाम से विश्रुत है। रति मोहनीयकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों में से एक प्रकृति है, जो नोकषाय के अन्तर्गत है। जैन मनीषियों ने 'नो' शब्द को साहचर्य के अर्थ में ग्रहण किया है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये प्रधान कषाय हैं। प्रधान कषायों के सहचारी भाव अथवा उनकी सहयोगी मनोवृत्तियाँ नोकषाय कहलाती हैं।[२०५] पाश्चात्य विचारक फ्रायड ने कामवासना को प्रमुख मूल वृत्ति मानी है और भय

आदि को प्रमुख आवेग माना है। जैनदर्शन की दृष्टि से कामभावना सहकारी कषाय है या उप-आवेग है, जो कषाय की अपेक्षा कम तीव्र है। जिन मनोभावों के कारण कषाय उत्पन्न होते हैं, वे नोकषाय हैं। इन्हें उप-कषाय भी कहते हैं। ये भी व्यक्ति के जीवन को बहुत प्रभावित करते हैं। नोकषाय व्यक्ति के आन्तरिक गुणों को उतना प्रत्यक्षतः प्रभावित नहीं करते जितना शारीरिक और मानसिक स्थिति को करते हैं। जबकि कषाय शारीरिक और मानसिक स्थिति को प्रभावित करने के साथ ही सम्यक् दृष्टिकोण को, आत्म-नियंत्रण आदि को प्रभावित करते हैं, जिससे साधक न तो सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है और न आचार को। रति का अर्थ है अभीष्ट पदार्थों पर प्रीतिभाव या इन्द्रियविषयों में चित्त की अभिरतता। रति के कारण ही आसक्ति और लोभ की भावनाएँ प्रबल होती हैं।[२०६]

असंयम में सहज आकर्षण होता है पर त्याग और संयम में सहज आकर्षण नहीं होता। इन्द्रिय-वासनाओं की परितृप्ति में जो सुखानुभूति प्रतीत होती है वह सुखानुभूति इन्द्रिय-विषयों के विरोध में नहीं होती। इसका मूल कारण है– चारित्रमोहनीय कर्म की प्रबलता। जब मोह के परमाणु सक्रिय होते हैं तब भोग में आनन्द की अनुभूति होती है। जिस व्यक्ति को सर्प का जहर चढ़ता है, उसे नीम के पत्ते भी मधुर लगते हैं। जिनमें मोह के जहर की प्रबलता है, उन्हें भोग प्रिय लगते हैं। जिनमें चारित्रमोह की अल्पता है, जो निर्मोही हैं, उन्हें भोग प्रिय नहीं लगते और न वे सुखकर ही प्रतीत होते हैं। भोग में सुख आदि की अनुभूति का आधार चारित्रमोहनीय कर्म है।

मोह एक भयंकर रोग के सदृश है, जो एक बार के उपचार से नहीं मिटता। उसके लिए सतत उपचार और सावधानी की आवश्यकता है। जरा-सी असावधानी रोग को उभार देती है। मोह का उभार न हो और साधक मोह से विचलित न हो, इस दृष्टि से प्रस्तुत चूलिका अध्ययन का निर्माण हुआ है। आचार्य हरिभद्र ने लिखा है कि इस चूलिका में जो अठारह स्थान प्रतिपादित हैं, वे उसी प्रकार हैं, जैसे घोड़े के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश, नौका के लिए पताका है। इस अध्ययन के वाक्य साधक के अन्तर्मानस में संयम के प्रति रति समुत्पन्न करते हैं, जिसके कारण इस अध्ययन का नाम 'रतिवाक्या' रखा गया है।[२०७]

इस अध्ययन में साधक को साधना में स्थिर करने हेतु अठारह सूत्र दिए हैं। वे सूत्र साधक को साधना में स्थिर कर सकते हैं। गृहस्थाश्रम में विविध प्रकार

की कठिनाइयाँ हैं, उन कठिनाइयों को पार करना सहज नहीं है। मानव कामभोगों में आसक्त होता है और सोचता है कि इनमें सच्चा सुख रहा हुआ है, पर वे कामभोग अल्पकालीन और साररहित हैं। उस क्षणिक् सुख के पीछे दुःख की काली निशा रही हुई है। संयम के विराट् आनन्द को छोड़कर यदि कोई साधक पुनः गृहस्थाश्रम को प्राप्त करने की इच्छा करता है तो वह वमन कर पुनः उसे चाटने के सदृश है। संयमी जीवन का आनन्द स्वर्ग के रंगीन सुखों की तरह है, जबकि असंयमी जीवन का कष्ट नरक की दारुण वेदना की तरह है। गृहस्थाश्रम में अनेक क्लेश हैं, जबकि श्रमण-जीवन क्लेशरहित है। इस प्रकार इस अध्ययन में विविध दृष्टियों से संयमी जीवन का महत्त्व प्रतिपादित है। वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में गृहस्थाश्रम को महत्त्व दिया गया है। आपस्तंभ धर्मसूत्र में गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहा है। मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से लिखा है कि अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान करने वाला गृहस्थ ही सर्वश्रेष्ठ है।[२०८] वही तीन आश्रमों का पालन करता है। महाभारत में भी गृही के आश्रम को ज्येष्ठ कहा है।[२०९] किन्तु श्रमण-संस्कृति में श्रमण का महत्त्व है। वहाँ पर आश्रम-व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई चिन्तन नहीं है। यदि कोई साधक गृहस्थाश्रम में रहता भी है तो उसके अन्तर्मानस में यह विचार सदा रहते हैं कि कब मैं श्रमण बनूँ; वह दिन कब आयेगा, जब मैं श्रमणधर्म को स्वीकार कर अपने जीवन को पावन बनाऊँगा। उत्तराध्ययनसूत्र में छद्मवेशधारी इन्द्र और नमि राजर्षि का मधुर संवाद है। इन्द्र ने राजर्षि से कहा–"आप यज्ञ करें, श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन करायें, उदार मन से दान दें और उसके पश्चात् श्रमण बनें।" प्रत्युत्तर में राजर्षि ने कहा–"जो मानव प्रति मास दस लाख गायें दान में देता है, उसके लिए भी संयम श्रेष्ठ है अर्थात् दस लाख गायों के दान से भी श्रमणधर्म का पालन करना अधिक श्रेष्ठ है।" उसी श्रमण-जीवन की महत्ता का यहाँ चित्रण है। इसलिए गृहवास बन्धनस्वरूप है और संयम मोक्ष का पर्याय बताया है।[२१०] जो साधक दृढ़-प्रतिज्ञ होगा वह देह का परित्याग कर देगा किन्तु धर्म का परित्याग नहीं करेगा। महावायु का तीव्र प्रभाव भी क्या सुमेरु पर्वत को विचलित कर सकता है? नहीं ! वैसे ही साधक भी विचलित नहीं होता। वह तीन गुप्तियों से गुप्त होकर जिनवाणी का आश्रय ग्रहण करता है।

गुप्ति : एक विवेचन

जैन परम्परा में तीन गुप्तियों का विधान है। गुप्ति शब्द गोपन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसका तात्पर्य है–खींच लेना, दूर कर लेना, मन-वचन-काया को

अशुभ प्रवृत्तियों से हटा लेना। गुप्ति शब्द का दूसरा अर्थ ढकने वाला या रक्षाकवच है। अर्थात् आत्मा की अशुभ प्रवृत्तियों से रक्षा करना गुप्ति है। गुप्तियाँ तीन हैं–मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। मन को अप्रशस्त, कुत्सित और अशुभ विचारों से दूर रखना; संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ की हिंसक प्रवृत्तियों में जाते हुए मन को रोकना मनोगुप्ति है।[२११] असत्य, कर्कश, अहितकारी एवं हिंसाकारी भाषा का प्रयोग नहीं करना; स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा आदि वचन की अशुभ प्रवृत्ति और असत्य वचन का परिहार करना वचनगुप्ति है।[२१२] उत्तराध्ययन के अनुसार श्रमण अशुभ प्रवृत्तियों में जाते हुए वचन का निरोध करे।[२१३] श्रमण उठने, बैठने, लेटने, नाली आदि लाँघने तथा पाँचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति में नियमन करे।[२१४] दूसरे शब्दों में कहा जाए तो बन्धन, छेदन, मारण, आकुंचन, प्रसारण प्रभृति शारीरिक क्रियाओं से निवृत्ति कायगुप्ति है।[२१५] जैन परम्परा की तरह बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात ग्रन्थ में भी गुप्ति शब्द का प्रयोग हुआ है।[२१६] तथागत बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुओं को आदेश दिया कि वे मन, वचन और शरीर की क्रियाओं का नियमन करें। तथागत बुद्ध ने अंगुत्तरनिकाय में तीन शुचि भावों का वर्णन किया है–शरीर की शुचिता, वाणी की शुचिता और मन की शुचिता। उन्होंने कहा–भिक्षुओ ! जो व्यक्ति प्राणी-हिंसा से विरत रहता है; तस्कर कृत्य से विरत रहता है; कामभोग सम्बन्धी मिथ्याचार से विरत रहता है, वह शरीर की शुचिता है। भिक्षुओ ! जो व्यक्ति असत्य भाषण से विरत रहता है; चुगली करने से विरत रहता है; व्यर्थ वार्त्तालाप से विरत रहता है, वह वाणी की शुचिता है। भिक्षुओ ! जो व्यक्ति निर्लोभ होता है; अक्रोधी होता है; सम्यक् दृष्टि होता है, वह मन की शुचिता है।[२१७] इस तरह तथागत बुद्ध ने श्रमण साधकों के लिए मन, वचन और शरीर की अप्रशस्त प्रवृत्तियों को रोकने का सन्देश दिया है।[२१८] इसी प्रकार गुप्ति के ही अर्थ में वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में त्रिदण्डी शब्द व्यवहृत हुआ है। दक्षस्मृति में दत्त ने कहा–केवल बाँस की दण्डी धारण करने से कोई संन्यासी या त्रिदण्डी परिव्राजक नहीं हो जाता। त्रिदण्डी परिव्राजक वही है जो अपने पास आध्यात्मिक दण्ड रखता हो।[२१९] आध्यात्मिक दण्ड से यहाँ तात्पर्य मन, वचन और शरीर की क्रियाओं का नियंत्रण है। चाहे श्रमण हो, चाहे संन्यासी हो, उनके लिए यह आवश्यक है कि वे मन, वचन, काया की अप्रशस्त प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करें। बौद्ध और वैदिक परम्परा की अपेक्षा जैन परम्परा ने इस पर अधिक बल दिया है, जैन श्रमणों

के लिए महाव्रत का जहाँ मूलगुण के रूप में विधान है वहाँ समिति और गुप्ति का उत्तरगुण के रूप में विधान किया गया है, जिनका पालन जैन श्रमण के लिए अनिवार्य माना गया है।

इस प्रकार मोह-माया से मुक्त होकर श्रमण को अधिक से अधिक साधना में सुस्थिर होने की प्रबल प्रेरणा इस चूलिका द्वारा दी गई है। "चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं।"–शरीर का परित्याग कर दे किन्तु धर्मशासन को न छोड़े–यह है इस चूलिका का संक्षेप सार।

द्वितीय चूलिका का नाम 'विविक्तचर्या' है। इसमें श्रमण की चर्या, गुणों और नियमों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें अन्धानुसरण का विरोध किया गया है। आधुनिक युग में प्रत्येक प्रश्न बहुमत के आधार पर निर्णीत होते हैं, पर बहुमत का निर्णय सही ही हो, यह नहीं कहा जा सकता। बहुमत प्रायः मूर्खों का होता है, संसार में सम्यक् दृष्टि की अपेक्षा मिथ्यात्वियों की संख्या अधिक है; ज्ञानियों की अपेक्षा अज्ञानी अधिक हैं; त्यागियों की अपेक्षा भोगियों का प्राधान्य है; इसलिए साधना के क्षेत्र में बहुमत और अल्पमत का प्रश्न महत्त्व का नहीं है। वहाँ महत्त्व है सत्य की अन्वेषणा और उपलब्धि का। उस सत्य की उपलब्धि के साधन हैं–चर्या, गुण और नियम। श्रमण आचार में पराक्रम करे, वह गृहवास का परित्याग करे। सदा एक स्थान पर न रहे और न ऐसे स्थान पर रहे जहाँ रहने से उसकी साधना में बाधा उपस्थित होती हो। वह एकान्त स्थान जहाँ स्त्री, पुरुष, नपुंसक, पशु आदि न हों, वहाँ पर रहकर साधना करे। चर्या का अर्थ मूल व उत्तरगुण रूप चारित्र है और गुण का अर्थ है–चारित्र की रक्षा के लिए भव्य भावनाएँ। नियम का अर्थ है–प्रतिमा आदि अभिग्रह; भिक्षु की बारह प्रतिमाएँ नियम के अन्तर्गत ही हैं; स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि भी नियम हैं। जो इनका अच्छी तरह से पालन करता है वह प्रतिबुद्ध जीवी कहलाता है। वह अनुस्रोतगामी नहीं किन्तु प्रतिस्रोतगामी होता है। अनुस्रोत में मुर्दे बहा करते हैं तो प्रतिस्रोत में जीवित व्यक्ति तैरा करते हैं। साधक इन्द्रिय और मन के विषयों के प्रवाह में नहीं बहता। श्रमण मद्य और माँस का अभोजी होता है। माँस बौद्ध भिक्षु ग्रहण करते थे पर जैन श्रमणों के लिए उसका पूर्ण रूप से निषेध किया गया है। माँस और मदिरा का उपयोग करने वाले को नरकगामी बताया है। साथ ही श्रमणों के लिए दूध, दही आदि विकृतियाँ प्रतिदिन खाने का निषेध किया गया है।

कायोत्सर्ग : एक चिन्तन

श्रमण के लिए पुनः-पुनः कायोत्सर्ग करने का विधान है। कायोत्सर्ग में शरीर के प्रति ममत्व का त्याग किया जाता है। साधक एकान्त-शान्त स्थान में शरीर से निस्पृह होकर खम्भे की तरह सीधा खड़ा हो जाता है, शरीर को न अकड़कर रखता है और न झुकाकर ही। दोनों बाँहों को घुटनों की ओर लम्बा करके प्रशस्त ध्यान में निमग्न हो जाता है। चाहे उपसर्ग और परीषह आयें, उनको वह शान्तभाव से सहन करता है। साधक उस समय न संसार के बाह्य पदार्थों में रहता है, न शरीर में रहता है, वह सब ओर से सिमटकर आत्म-स्वरूप में लीन हो जाता है। कायोत्सर्ग अन्तर्मुख होने की एक पवित्र साधना है। वह उस समय राग-द्वेष से ऊपर उठकर निःसंग और अनासक्त होकर शरीर की मोह-माया का परित्याग करता है। कायोत्सर्ग का उद्देश्य है शरीर के ममत्व को कम करना। कायोत्सर्ग में साधक यह चिन्तन करता है– यह शरीर अन्य है तथा मैं अन्य हूँ; मैं अजर-अमर चैतन्य रूप हूँ; मैं अविनाशी हूँ; यह शरीर क्षण-भंगुर है; इस मिट्टी के पिण्ड में आसक्त बनकर मैं कर्त्तव्य से पराङ्मुख क्यों बनूँ? शरीर मेरा वाहन है; मैं इस वाहन पर सवार होकर जीवन-यात्रा का लम्बा पथ तय करूँ। यदि यह शरीर मुझ पर सवार हो जायेगा तो कितनी अभद्र बात होगी ! इस प्रकार कायोत्सर्ग में शरीर के ममत्व-त्याग का अभ्यास किया जाता है। आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने कहा है– चाहे कोई भक्तिभाव से चन्दन लगाए, चाहे कोई द्वेषवश बसूले से छीले; चाहे जीवन रहे, चाहे इसी क्षण मृत्यु आ जाये, परन्तु जो साधक देह में आसक्ति नहीं रखता है, सभी स्थितियों में समचेतना रखता है, वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग सिद्ध होता है।[२२०]

कायोत्सर्ग के द्रव्य और भाव ये दो प्रकार हैं। द्रव्य-कायोत्सर्ग का अर्थ है– शरीर की चेष्टाओं का निरोध करके एक स्थान पर निश्चल और निस्पंद जिन-मुद्रा में खड़े रहना और भाव-कायोत्सर्ग है–आर्त्त और रौद्र दुर्ध्यानों का परित्याग कर धर्म और शुक्लध्यान में रमण करना; आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की ओर गमन करना।[२२१] इसी भाव-कायोत्सर्ग पर बल देते हुए शास्त्रकार ने कहा–कायोत्सर्ग सभी दुःखों का क्षय करने वाला है।[२२२] भाव के साथ द्रव्य का कायोत्सर्ग भी आवश्यक है। द्रव्य और भाव कायोत्सर्ग के स्वरूप को समझाने के लिए कायोत्सर्ग के प्रकारान्तर से चार रूप बताए हैं–

(१) उत्थित-उत्थित–जब कायोत्सर्ग के लिए साधक खड़ा होता है, तब द्रव्य के साथ भाव से भी खड़ा होता है। इस कायोत्सर्ग में प्रसुप्त आत्मा जागृत होकर कर्मों को नष्ट करने के लिए खड़ा हो जाता है। यह उत्कृष्ट कायोत्सर्ग है।

(२) उत्थित-निविष्ट–जो साधक अयोग्य है, वह शरीर से तो कायोत्सर्ग के लिए खड़ा हो जाता है पर भावों में विशुद्धि न होने से उसकी आत्मा बैठी रहती है।

(३) उपविष्ट-उत्थित–जो साधक रुग्ण है, तपस्वी है या वृद्ध है, वह शारीरिक असुविधा के कारण खड़ा नहीं हो पाता, वह बैठकर ही धर्मध्यान में लीन होता है। वह शरीर से बैठा है किन्तु आत्मा से खड़ा है।

(४) उपविष्ट-निविष्ट–जो आलसी साधक कायोत्सर्ग करने के लिए खड़ा न होकर बैठा रहता है और कायोत्सर्ग में उसके अन्तर्मानस में आर्त्त और रौद्रध्यान चलता रहता है, वह तन से भी बैठा हुआ और भावना से भी। यह कायोत्सर्ग न होकर कायोत्सर्ग का दिखावा है।

चूलिका के अन्त में साधक को यह उपदेश दिया गया है कि वह आत्म-रक्षा का सतत ध्यान रखे। आत्मा की रक्षा के लिए देह का रक्षण आवश्यक है। वह देह-रक्षण संयम है। आत्मा के सद्गुणों का हनन कर जो देह-रक्षण किया जाता है वह साधक को इष्ट नहीं होता, अतः सतत आत्म-रक्षा की प्रेरणा दी गई है। दशवैकालिक में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक यही शिक्षा विविध प्रकार से व्यक्त की गई है। बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होना ही आत्म-रक्षा है।

तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय संस्कृति में जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों धाराओं का अद्भुत सम्मिश्रण है। ये तीनों धाराएँ भारत की पुण्य-धरा पर पनपी हैं। इन तीनों धाराओं में परस्पर अनेक बातों में समानता रही है तो अनेक बातों में भिन्नता भी रही है। तीनों धाराओं के विशिष्ट साधकों की अनेक अनुभूतियाँ समान थीं तो अनेक अनुभूतियाँ परस्पर विरुद्ध भी थीं। कितनी ही अनुभूतियों का परस्पर विनिमय भी हुआ है। एक ही धरती से जन्म लेने के कारण तथा परस्पर साथ रहने के कारण एक के चिन्तन का दूसरे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा समुदाय किसका कितना ऋणी है? सत्य की जो सहज अनुभूति है उसने जो अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण

किया, वह प्रायः कभी शब्दों में और कभी अर्थ में एक सदृश रहा है। उसी को हम यहाँ तुलनात्मक अध्ययन की अभिधा प्रदान कर रहे हैं। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि एक-दूसरे ने विचार और शब्दों को एक-दूसरे से चुराया है। 'सौ सयाना एक मता' के अनुसार सौ समझदारों का एक ही मत होता है–सत्य को व्यक्त करने में समान भाव और भाषा का होना स्वाभाविक है।

दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा है–

"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥" –दशवैकालिक १/१

धर्म उत्कृष्ट मंगल है, अहिंसा, संयम और तप धर्म के लक्षण हैं, जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

तुलना कीजिए–

"यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा संयमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो, सो थेरो ति पवुच्चति॥"

–धम्मपद (धम्मट्ठवग्गो १९/६)

जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, वह मलरहित धीर भिक्षु स्थविर कहलाता है।

दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की दूसरी गाथा की तुलना धम्मपद (पुप्फवग्गो ४/६) से की जा सकती है–

"जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं॥" –दशवैकालिक १/२

जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, किसी भी पुष्प को पीड़ा उत्पन्न नहीं करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है।

तुलना कीजिए–

"यथापि भमरो पुप्फं, वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय, एवं गामे मुनी चरे॥"

–धम्मपद (पुप्फवग्गो ४/६)

जैसे फूल या फूल के वर्ण या गन्ध को बिना हानि पहुँचाए भ्रमर रस को लेकर चल देता है, उसी प्रकार मुनि गाँव में विचरण करे।

मधुकर वृत्ति की अभिव्यक्ति महाभारत में भी इस प्रकार हुई है–

"यथा मधु समादत्ते, रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य, आदद्यादविहिंसया॥" –महाभारत ३४/१७

जैसे भौंरा फूलों की रक्षा करता हुआ ही उनका मधु ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनों को कष्ट दिए बिना ही कर के रूप में उनसे धन ग्रहण करे।

दशवैकालिक के द्वितीय अध्ययन की प्रथम गाथा है–

"कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ॥" –दशवैकालिक २/१

वह कैसे श्रामण्य का पालन करेगा जो काम (विषय-राग) का निवारण नहीं करता, जो संकल्प के वशीभूत होकर पग-पग पर विषादग्रस्त होता है।

इसी प्रकार के भाव बौद्ध परम्परा के ग्रन्थ संयुत्तनिकाय के निम्न श्लोक में परिलक्षित होते हैं–

"दुक्करं दुत्तितिक्खञ्च, अब्यत्तेन हि सामञ्ञं।
बहूहि तत्थ सम्बाधा, यत्थ बालो विसीदतीति॥
कतिहं चरेय्य सामञ्ञं, चित्तं चे न निवारए।
पदे पदे विसीदेय्य, संकप्पानं वसानुगो॥"

–संयुत्तनिकाय १/१७

कितने दिनों तक वह श्रमण भाव को पालन कर सकेगा, यदि उसका चित्त वश में नहीं हो तो, जो इच्छाओं के आधीन रहता है वह कदम-कदम पर फिसल जाता है।

दशवैकालिक के द्वितीय अध्ययन का सातवाँ श्लोक इस प्रकार है–

"धिरत्थु ते जसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वन्तं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे॥"

–दशवैकालिक २/७

हे यशःकामिन् ! धिक्कार है तुझे ! जो तू क्षण-भंगुर जीवन के लिए वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेय है।

तुलना कीजिए–

"धिरत्थु तं विसं वन्तं, यमहं जीवितकारणा।
वन्तं पच्चावमिस्सामि, मतम्मे जीविता वरं॥"

–विसवन्त जातक ६९, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४०४

धिक्कार है उस जीवन को, जिस जीवन की रक्षा के लिए एक बार उगलकर मैं फिर निगलूँ। ऐसे जीवन से मरना अच्छा है।

दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन की दूसरी और तीसरी गाथा निम्नानुसार है–

"उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य।
राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे॥
सन्निही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए।
संबाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य॥"

–दशवैकालिक ३/२-३

निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया, खरीदा गया, आदरपूर्वक निमन्त्रित कर दिया जाने वाला, निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया हुआ भोजन, रात्रि-भोजन, स्नान, गंध द्रव्य का विलेपन, माला पहनना, पंखा झलना, खाद्य वस्तु का संग्रह करना, रात वासी रखना, गृहस्थ के पात्र में भोजन करना, मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा ग्रहण करना, अंगमर्दन करना, दाँत पखारना, गृहस्थ की कुशल पूछना, दर्पण निहारना–ये कार्य निर्ग्रन्थ श्रमण के लिए वर्ज्य हैं।

उपरोक्त गाथा की तुलना श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के अध्याय १८ के श्लोक ३ से कर सकते हैं–

"केश-रोम-नख-श्मश्रु-मलानि बिभृयादतः।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः॥" –गीता ११/१८/३

केश, रोएँ, नख और मूँछ–दाढ़ी रूप शरीर के मल को हटावे नहीं। दातुन न करे। जल में घुसकर त्रिकाल स्नान न करे और धरती पर ही पड़ा रहे। यह विधान वानप्रस्थों के लिए है।

इसी प्रकार दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन की नवम् गाथा की तुलना भागवत के सातवें स्कन्ध के बारहवें अध्याय के बारहवें श्लोक से कीजिए–

"धूवणेति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे।
अंजणे दंतवणे य, गायब्भंग विभूसराणे॥" –दशवैकालिक ३/९

धूम्रपान की नलिका रखना, रोग की संभावना से बचने के लिए, रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए वमन करना, वस्तिकर्म (अपान मार्ग से तेल आदि चढ़ाना), विरेचन करना, आँखों में अंजन आँजना, दाँतों को दतौन से घिसना, शरीर में तेल आदि की मालिश, शरीर को आभूषणादि से अलंकृत करना आदि श्रमण के लिए वर्ज्य हैं।

"अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु।
स्रग्गन्धलेपालंकारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रताः॥" –गीता ७/१२/१२

जो ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करें, उन्हें चाहिये कि वे सुरमा या तेल न लगावें। उबटन न मलें। स्त्रियों के चित्र न बनावें। माँस और मद्य से कोई सम्बन्ध न रक्खें। फूलों के हार, इत्र-फुलेल, चन्दन और आभूषणों का त्याग कर दें। यह विधान ब्रह्मचारी के लिए है।

दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन की बारहवीं गाथा और मनुस्मृति के छठे अध्ययन के तेवीसवें श्लोक की समानता देखिए–

"आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया॥"
–दशवैकालिक ३/१२

सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त में खुले बदन रहते हैं और वर्षा में प्रतिसंलीन होते हैं–एक स्थान में रहते हैं।

"ग्रीष्म पञ्चतापास्तु, स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयंस्तपः॥"
–मनुस्मृति, अध्ययन ६, श्लोक २३

ग्रीष्म में पंचाग्नि से तपे, वर्षा में खुले मैदान में रहे और हेमन्त में भीगे वस्त्र पहनकर क्रमशः तपस्या की वृद्धि करे। यह विधान वानप्रस्थाश्रम को धारण करने वाले साधक के लिए है।

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की सातवीं गाथा है–

"कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई॥" –दशवैकालिक ४/७

कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए ? कैसे बोले ? जिससे पापकर्म का बन्ध न हो।

श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ के विषय में पूछा गया है। उपरोक्त गाथा की इस श्लोक से तुलना कीजिए–

"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव !
स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम्॥"
–श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ५४

हे केशव ! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण हैं ? और स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ?

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की आठवीं गाथा है–

"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजन्तो भासंतो, पावकम्मं न बंधई॥" –दशवैकालिक ४/८

जो यतना से चलता है, यतना से ठहरता है और यतना से सोता है, यतना से भोजन करता है, यतना से भाषण करता है, वह पापकर्म का बंधन नहीं करता।

इतिवुत्तक में भी यही स्वर प्रतिध्वनित हुआ है–

"यतं चरे यतं तिट्ठे, यतं अच्छे यतं सये।
यतं सम्मिञ्जये भिक्खू, यतमेनं पसारए॥" –इतिवुत्तक १२

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की नौवीं गाथा इस प्रकार है–

"सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भुयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधई॥" –दशवैकालिक ४/९

जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवों को सम्यक् दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है, उसे पापकर्म का बन्धन नहीं होता।

इस गाथा की तुलना गीता के निम्न श्लोक से की जा सकती है–

"योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते॥"

–गीता, अध्याय ५, श्लोक ७

योग से सम्पन्न जितेन्द्रिय और विशुद्ध अन्तःकरण वाला एवं सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मा के समान अनुभव करने वाला निष्काम कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की दसवीं गाथा है–

"पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही किं वा, वा नाहिइ छेय-पावगं॥"

–दशवैकालिक ४/१०

पहले ज्ञान फिर दया–इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं। अज्ञानी क्या करेगा? वह कैसे जानेगा कि क्या श्रेय है और क्या पाप है?

इसी प्रकार के भाव श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्ययन के अड़तीसवें श्लोक में आए हैं–

"न हि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रमिह विद्यते।
तत्समयं योगसंसिद्धः, कालेनात्मनि विन्दति॥" –गीता ४/३८

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितनेक काल से अपने आप समत्व बुद्धिरूप योग के द्वारा अच्छी प्रकार शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष आत्मा में अनुभव करता है।

दशवैकालिक के पाँचवें अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की चौथी गाथा है–

"कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जेत्ता, काले कालं समायरे॥"

–दशवैकालिक ५/२/४

भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। अकाल को वर्जकर जो कार्य जिस समय करने का हो, उसे उसी समय करे।

इस गाथा की निम्न से तुलना करें–

"काले निक्खमणा साधु, नाकाले साधु निक्खमो।
अकाले नहि निक्खम्म, एककंपि बहूजनो॥"

–कौशिक जातक २२६

साधु काल से निकले, बिना काल के नहीं निकले। अकाल में तो निकलना ही नहीं चाहिये, चाहे अकेला हो या बहुतों के साथ हो।

दशवैकालिक के छट्ठे अध्ययन की दसवीं गाथा है–

"सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥"

–दशवैकालिक ६/१०

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता, इसलिए प्राणिवध घोर पाप का कारण है अतः निर्ग्रन्थ उसका परिहार करते हैं।

यही स्वर संयुत्तनिकाय में इस रूप में झंकृत हुआ है–

"सब्बा दिसा अनुपरिगम्म चेतसा, नेवज्झगा पियतरमत्तना क्वचि।
एवं पियो पुथु अत्ता परेसं, तस्मा न हिंसे परमत्तकामो॥"

–संयुत्तनिकाय १/३/८

दशवैकालिक के आठवें अध्ययन की अड़तीसवीं गाथा में क्रोध को शान्त करने का उपाय बताते हुए कहा है–

"उवसमेण हणे कोहं।" –दशवैकालिक ८/३८

–उपशम से क्रोध का हनन करो।

तुलना कीजिए 'धम्मपद' क्रोध वर्ग के तीसरे पद से–

"अक्कोधेन जिने कोधं।" –धम्मपद, क्रोधवर्ग ३

–अक्रोध से क्रोध को जीतो।

दशवैकालिक के नौवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक की प्रथम गाथा में बताया है कि जो शिष्य कषाय व प्रमाद के वशीभूत होकर गुरु के सन्निकट शिक्षा ग्रहण नहीं करता, उसका अविनय उसके लिए घातक होता है–

"थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीयस्स वहाय होइ॥"

–दशवैकालिक ९/१/१

जो मुनि गर्व, क्रोध, माया या प्रमादवश गुरु के समीप विनय की शिक्षा नहीं लेता वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश के लिए होती है। जैसे कीचक (बाँस) का फल उसके विनाश के लिए होता है, अर्थात् हवा से शब्द करते हुए बाँस को कीचक कहते हैं, वह फल लगने पर सूख जाता है।

धम्मपद में यही उपमा इस प्रकार आई है–

"यो सासनं अरहतं, अरियानं धम्मजीविनं।
पटिक्कोसति दुम्मेधो, दिट्ठिं निस्साय पापिकं॥
फलानि कट्ठकस्सेव, अत्तयञ्ञा फुल्लति॥"

–धम्मपद १२/८

जो दुर्बुद्धि मनुष्य पापमयी दृष्टि का आश्रय लेकर अरहन्तों तथा धर्मनिष्ठ आर्य पुरुषों के शासन की अवहेलना करता है, वह आत्मघात के लिए बाँस के फल की तरह प्रफुल्लित होता है।

दशवैकालिक के दसवें अध्ययन की आठवीं गाथा में भिक्षु के जीवन की परिभाषा इस प्रकार दी है–

"तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइमसाइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा तं, न निहे न निहावए जे स भिक्खू॥"

–दशवैकालिक १०/८

पूर्वोक्त विधि से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर, यह कल या परसों काम आएगा, इस विचार से जो न सन्निधि (संचय) करता है और न कराता है वह भिक्षु है।

सुत्तनिपात में यही बात इस रूप में झंकृत हुई है–

"अन्नानमथो पानानं, खादनीयानमथोऽपि वत्थानं।
लद्धा न सन्निधि कयिरा, न च परित्तसेतानि अलभमानो॥"

–सुत्तनिपात ५२–१०

दशवैकालिक के दसवें अध्ययन की दसवीं गाथा में भिक्षु की जीवनचर्या का महत्त्व बताते हुए कहा है–

"न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा, न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते।
संजमधुवजोगजुत्ते उवसंते, अविहेडए जे स भिक्खू॥"

–दशवैकालिक १०/१०

जो कलहकारी कथा नहीं करता, जो कोप नहीं करता, जिसकी इन्द्रियाँ अनुद्धत हैं, जो प्रशान्त है, जो संयम में ध्रुवयोगी है, जो उपशान्त है, जो दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता वह भिक्षु है।

भिक्षु को शिक्षा देते हुए सुत्तनिपात में प्रायः यही शब्द कहे गए हैं–

"न च कत्थिता सिया भिक्खू, न च वाचं पयुतं भासेय्य।
पागब्भियं न सिक्खेय्य, कथं विग्गाहिकं न कथयेय्य॥"

–सुत्तनिपात, तुवटक सुत्तं ५२/१६

भिक्षु धर्मरत्न ने चतुर्थ चरण का अर्थ लिखा है–कलह की बात न करे। धर्मानन्द कौसम्बी ने अर्थ किया कि भिक्षु को वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए।

दशवैकालिक के दसवें अध्ययन की ग्यारहवीं गाथा में भिक्षु की परिभाषा इस प्रकार की गई है–

"जो सहइ हु गामकंटए, अक्कोसपहारतज्जणाओ य।
भयभेरवसद्दसंपहासे, समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खु॥"

–दशवैकालिक १०/११

जो काँटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय-विषयों, आक्रोश-वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं और बेताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासों को सहन करता है तथा सुख और दुःख को समभावपूर्वक सहन करता है वह भिक्षु है।

सुत्तनिपात की निम्न गाथाओं से तुलना करें–

"भिक्खुनो विजिगुच्छतो, भजतो रित्तमासनं।
रुक्खमूलं सुसानं वा, पब्बतानं गुहासु वा॥
उच्चावचेसु सयनेसु, कीवन्तो तत्थ भेरवा।
येहि भिक्खु न वेधेय्य, निग्घोसे सयनासने॥"

–सुत्तनिपात ५४/४-५

दशवैकालिक के दसवें अध्ययन की पन्द्रहवीं गाथा है–

"हत्थसंजए पायसंजए, वायसंजए संजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा, सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू॥"

–दशवैकालिक १०/१५

जो हाथों से संयत है, पैरों से संयत है, वाणी से संयत है, इन्द्रियों से संयत है, अध्यात्म में रत है, भलीभाँति समाधिस्थ है और जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है वह भिक्षु है।

धम्मपद में भिक्षु के लक्षण निम्न गाथा में आए हैं–

"चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो।
घाणेन संवरो साधु, साधु जिह्वाय संवरो॥
कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो॥
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु, सब्बदुक्खा पमुच्चति।" –धम्मपद २५/१-३

"हत्थसंयतो पादसंयतो, वाचाय संयतो संयतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं॥"

इस प्रकार दशवैकालिक में आयी हुई गाथाएँ कहीं पर भावों की दृष्टि से तो कहीं विषय की दृष्टि से और कहीं पर भाषा की दृष्टि से वैदिक और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों के साथ समानता रखती हैं। कितनी ही गाथाएँ आचारांग चूलिका के साथ विषय और शब्दों की दृष्टि से अत्यधिक साम्य रखती हैं। उनका कोई एक ही स्रोत होना चाहिए। इसके अतिरिक्त दशवैकालिक की अनेक गाथाएँ अन्य जैनागमों में आई हुई गाथाओं के साथ मिलती हैं। पर हमने विस्तारभय से उनकी तुलना नहीं दी है। समन्वय की दृष्टि से जब हम गहराई से अवगाहन करते हैं तो ज्ञान होता है–अनन्त सत्य को व्यक्त करने में चिन्तकों का अनेक विषयों में एकमत रहा है।

व्याख्या-साहित्य

दशवैकालिक पर आज तक जितना भी व्याख्या-साहित्य लिखा गया है, उस साहित्य को छह भागों में विभक्त किया जा सकता है–निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, संस्कृत टीका, लोकभाषा में टब्बा और आधुनिक शैली से संपादन। निर्युक्ति प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध टीकाएँ हैं, जिनमें मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद की व्याख्या न करके मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। निर्युक्ति की व्याख्या-शैली निक्षेप पद्धति पर आधृत है। एक पद के जितने भी अर्थ होते हैं उन्हें बताकर जो अर्थ ग्राह्य है उसकी व्याख्या की गई है और साथ ही अप्रस्तुत का निरसन भी किया गया है। यों कह सकते हैं–सूत्र और अर्थ का निश्चित सम्बन्ध बताने वाली व्याख्या निर्युक्ति है।[२२३] सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् शर्पेण्टियर ने लिखा है–निर्युक्तियाँ अपने प्रधान भाग के केवल इण्डेक्स का काम करती हैं, ये सभी विस्तारयुक्त घटनावलियों का संक्षेप में उल्लेख करती हैं।[२२४] डॉ. घाटके ने निर्युक्तियों को तीन विभागों में विभक्त किया है–[२२५]

(१) मूल निर्युक्तियाँ–जिन निर्युक्तियों पर काल का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और उनमें अन्य कुछ भी मिश्रण नहीं हुआ, जैसे–आचारांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्तियाँ।

(२) जिनमें मूल भाष्यों का सम्मिश्रण हो गया है तथापि वे व्यवच्छेद्य हों, जैसे–दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र की निर्युक्तियाँ।

(३) वे निर्युक्तियाँ, जिन्हें आजकल भाष्य या बृहद्भाष्य कहते हैं। जिनमें मूल और भाष्य का इतना अधिक सम्मिश्रण हो गया है कि उन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता, जैसे–निशीथ आदि की निर्युक्तियाँ।

प्रस्तुत विभाग वर्तमान में जो निर्युक्ति-साहित्य प्राप्त है, उसके आधार पर किया गया है।

जैसे यास्क महर्षि ने वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए निघण्टु भाष्य रूप निरुक्त लिखा, उसी प्रकार जैन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ लिखीं। निर्युक्तिकार भद्रबाहु का समय विक्रम संवत् ५६२ के लगभग है और निर्युक्तियों का समय ५०० से ६०० (वि. सं.) के मध्य का है। दस आगमों पर निर्युक्तियाँ लिखी गईं, उनमें एक निर्युक्ति दशवैकालिक पर भी है। डॉ. घाटके के अभिमतानुसार ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति क्रमशः दशवैकालिकनिर्युक्ति और आवश्यकनिर्युक्ति की उपशाखाएँ हैं। पर डॉ. घाटके की बात से सुप्रसिद्ध टीकाकार मलयगिरि सहमत नहीं हैं। उनके मंतव्यानुसार पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक अंश है। यह बात उन्होंने पिण्डनिर्युक्ति की टीका में स्पष्ट की है। आचार्य मलयगिरि दशवैकालिकनिर्युक्ति को चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृति मानते हैं, किन्तु पिण्डैषणा नामक पाँचवें अध्ययन पर वह निर्युक्ति बहुत ही विस्तृत हो गई, जिससे पिण्डनिर्युक्ति को स्वतंत्र निर्युक्ति के रूप में स्थान दिया गया। इससे यह स्पष्ट है कि पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक विभाग है। आचार्य मलयगिरि ने इस सम्बन्ध में अपना तर्क दिया है–पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति के अन्तर्गत होने के कारण ही इस ग्रन्थ के आदि में नमस्कार नहीं किया गया है और दशवैकालिकनिर्युक्ति के मूल के आदि में निर्युक्तिकार ने नमस्कारपूर्वक ग्रन्थ को प्रारम्भ किया है।[२२६]

गहराई से चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि आचार्य मलयगिरि का तर्क अधिक वजनदार नहीं है। केवल नमस्कार न करने के कारण ही पिण्डनिर्युक्ति

दशवैकालिकनिर्युक्ति का एक अंश है, यह कथन उपयुक्त नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्तन करने पर स्पष्ट होता है कि नमस्कार करने की परम्परा बहुत प्राचीन नहीं है। छेदसूत्र और मूलसूत्रों का प्रारम्भ भी नमस्कारपूर्वक नहीं हुआ है। टीकाकारों ने खींचतान कर आदि, मध्य और अन्त मंगल की संयोजना की। मंगल-वाक्यों की परम्परा विक्रम की तीसरी शती के पश्चात् की है। विश्व की दृष्टि से दोनों में समानता है किन्तु पिण्डनिर्युक्ति भद्रबाहु की रचना है, यह उल्लेख आचार्य मलयगिरि के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं पर भी नहीं मिलता।

दशवैकालिकनिर्युक्ति में सर्वप्रथम दश शब्द का प्रयोग दस अध्ययन की दृष्टि से हुआ है और काल का प्रयोग इसलिए हुआ है कि इसकी रचना उस समय पूर्ण हुई जब पौरुषी व्यतीत हो चुकी थी, अपराह्न का समय हो चुका था। प्रथम अध्ययन का नाम 'द्रुमपुष्पिका' है। इसमें धर्म की प्रशंसा करते हुए उसके लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद बताये हैं। लौकिकधर्म के ग्रामधर्म, देशधर्म, राजधर्म प्रभृति अनेक भेद किये हैं। लोकोत्तरधर्म के श्रुतधर्म और चारित्रधर्म ये दो विभाग हैं। श्रुतधर्म स्वाध्याय रूप है और चारित्रधर्म श्रमणधर्म रूप है। अहिंसा, संयम और तप की सुन्दर परिभाषा दी गई है। प्रतिज्ञा, हेतु, विभक्ति, विपक्ष, प्रतिबोध, दृष्टान्त, आशंका, तत्प्रतिषेध, निगमन इन दस अवयवों से प्रथम अध्ययन का परीक्षण किया गया है।[२२७]

द्वितीय अध्ययन के प्रारम्भ में श्रामण्यपूर्वक की निक्षेप पद्धति से व्याख्या है। श्रामण्य का निक्षेप चार प्रकार से किया गया है–(१) नामश्रमण, (२) स्थापनाश्रमण, (३) द्रव्यश्रमण, और (४) भावश्रमण।

भावश्रमण की संक्षेप में और सारगर्भित व्याख्या की गई है।[२२८] श्रमण के प्रव्रजित, अनगार, पाषंडी, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, श्रमण, संयत, मुक्त, तीर्ण, त्राता, द्रव्यमुनि, क्षान्तदान्त, विरत, रूक्ष, तीरार्थी, ये पर्यायवाची हैं। पूर्वक के निक्षेप की दृष्टि से तेरह प्रकार हैं–(१) नाम, (२) स्थापना, (३) द्रव्य, (४) क्षेत्र, (५) काल, (६) दिक्, (७) तापक्षेत्र, (८) प्रज्ञापक, (९) पूर्व, (१०) वस्तु, (११) प्राभृत, (१२) अतिप्राभृत, और (१३) भाव। उसके पश्चात् काम पर भी निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। भाव-काम के इच्छा-काम और मदन-काम ये दो प्रकार हैं। इच्छा-काम प्रशस्त और अप्रशस्त, दो प्रकार का होता है। मदन-काम का अर्थ–वेद का उपयोग, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद आदि का विपाक अनुभव। प्रस्तुत अध्ययन में

मदन-काम का निरूपण है।[२२९] इस प्रकार इस अध्ययन में पद की भी निक्षेप दृष्टि से व्याख्या है।[२३०]

तृतीय अध्ययन में क्षुल्लक अर्थात् लघु आचारकथा का अधिकार है। क्षुल्लक, आचार और कथा इन तीनों का निक्षेप दृष्टि से चिन्तन है। क्षुल्लक का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रधान, प्रतीत्य और भाव इन आठ भेदों की दृष्टि से चिन्तन किया गया है। आचार का निक्षेप दृष्टि से चिन्तन करते हुए नामन, धावन, वासन, शिक्षापान आदि को द्रव्याचार कहा है और दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य को भावाचार कहा है। कथा के अर्थ, काम, धर्म और मिश्र ये चार भेद किए गए हैं और उनके अवान्तर भेद भी किए गए हैं। श्रमण क्षेत्र, काल, पुरुष, सामर्थ्य प्रभृति को लक्ष्य में रखकर ही अनवद्य कथा करें।[२३१]

चतुर्थ अध्ययन में षड्जीवनिकाय का निरूपण है। इसमें एक, छह, जीव, निकाय और शास्त्र का निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। जीव के लक्षणों का प्रतिपादन करते हुए बताया है–आदान, परिभोग, योग, उपयोग, कषाय, लेश्या, आँख, आपान, इन्द्रिय, बन्धु, उदय, निर्जरा, चित्त, चेतना, संज्ञा, विज्ञान, धारण, बुद्धि, ईहा, मति, वितर्क से जीव को पहचान सकते हैं।[२३२] शस्त्र के द्रव्य और भावरूप से दो प्रकार बताए हैं। द्रव्य-शास्त्र स्वकाय, परकाय और उभयकायरूप होता है तथा भाव-शास्त्र असंयमरूप होता है।[२३३]

पंचम अध्ययन भिक्षा-विशुद्धि से सम्बन्धित है। पिण्डैषणा में पिण्ड तथा एषणा, ये दो पद हैं, इन पर निक्षेपपूर्वक चिन्तन किया गया है। गुड़, ओदन आदि द्रव्य-पिण्ड हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, ये भाव-पिण्ड हैं। द्रव्यैषणा सचित्त, अचित्त और मिश्र के रूप में तीन प्रकार की है। भावैषणा प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार की है–ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि प्रशस्त भावैषणा है और क्रोध आदि अप्रशस्त भावैषणा है। प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्यैषणा का ही वर्णन किया गया है, क्योंकि भिक्षा-विशुद्धि से तप और संयम का पोषण होता है।[२३४]

छठे अध्ययन में बृहद् आचारकथा का प्रतिपादन है। महत् का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रधान, प्रतीत्य और भाव इन आठ भेदों से चिन्तन किया है। धान्य और रत्न के चौबीस-चौबीस प्रकार बताए गए हैं।[२३५]

सप्तम अध्ययन का नाम वाक्यशुद्धि है। वाक्य, वचन, गिरा, सरस्वती, भारती, गो, वाक् भाषा, प्रज्ञापनी, देशनी, वाग्योग, योग ये सभी एकार्थक शब्द

हैं। जनपद आदि के भेद से सत्यभाषा दस प्रकार की होती है। क्रोध आदि के भेद से मृषाभाषा भी दस प्रकार की होती है। उत्पन्न होने के प्रकार से मिश्रभाषा अनेक प्रकार की है और असत्यामृषा आमंत्रणी आदि के भेद से अनेक प्रकार की है। शुद्धि के भी नाम आदि चार निक्षेप हैं। भावशुद्धि तद्भाव, आदेशभाव और प्राधान्यभाव रूप से तीन प्रकार की हैं।[२३६]

अष्टम अध्ययन आचारप्रणिधि है। प्रणिधि द्रव्य-प्रणिधि और भाव-प्रणिधि रूप से दो प्रकार की है। निधान आदि द्रव्य-प्रणिधि हैं। इन्द्रियप्रणिधि और नोइन्द्रियप्रणिधि ये भाव-प्रणिधि हैं, जो प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार की हैं।[२३७]

नवम अध्ययन का नाम विनयसमाधि है। भावविनय के लोकोपचार, अर्थनिमित्त, कामहेतु, भयनिमित्त और मोक्षनिमित्त, ये पाँच भेद किए गए हैं। मोक्षनिमित्तक विनय के दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार सम्बन्धी पाँच भेद किये गए हैं।[२३८]

दसवें अध्ययन का नाम सभिक्षु है। प्रथम नाम, क्षेत्र आदि निक्षेप की दृष्टि से 'स' पर चिन्तन किया है। उसके पश्चात् 'भिक्षु' का निक्षेप की दृष्टि से विचार किया है। भिक्षु के तीर्ण, तायी, द्रव्य, व्रती, क्षान्त, दान्त, विरत, मुनि, तापस, प्रज्ञापक, ऋजु, भिक्षु, बुद्ध, यति, विद्वान्, प्रव्रजित, अनगार, पाखण्डी, चरक, ब्राह्मण, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, संयत, मुक्त, साधु, रूक्ष, तीरार्थी आदि पर्यायवाची दिये हैं। पूर्व में श्रमण के जो पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं उनमें भी इनमें के कुछ शब्द आ गये हैं।[२३९]

चूलिका का निक्षेप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से चार प्रकार का है। यहाँ पर भावचूला अभिप्रेत है, जो क्षायोपशमिक है। रति का निक्षेप भी चार प्रकार का है। जो रतिकर्म के उदय के कारण होती है वह भावरति है, वह धर्म के प्रति रतिकारक और अधर्म के प्रति अरतिकारक है। इस प्रकार दशवैकालिकनिर्युक्ति की तीन सौ इकहत्तर गाथाओं में अनेक लौकिक और धार्मिक कथाओं एवं सूक्तियों के द्वारा सूत्रार्थ को स्पष्ट किया गया है। हिंगुशिव, गन्धर्विका, सुभद्रा, मृगावती, नलदाम और गोविन्दवाचक आदि की कथाओं का संक्षेप में नामोल्लेख हुआ है। सम्राट् कूणिक ने गणधर गौतम से जिज्ञासा प्रस्तुत की–"भगवन् ! चक्रवर्ती मरकर कहाँ उत्पन्न होते हैं ?" समाधान दिया गया–"संयम ग्रहण न करें तो सातवें नरक में।" पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत हुई–

"भगवन् ! मैं कहाँ पर उत्पन्न होऊँगा ?" गौतम ने समाधान दिया–"छठे नरक में।" प्रश्नोत्तर के रूप में कहीं-कहीं पर तार्किक शैली के भी दर्शन होते हैं।

भाष्य

निर्युक्तियों की व्याख्या-शैली बहुत ही संक्षिप्त और गूढ़ थी। निर्युक्तियों का मुख्य लक्ष्य पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना था। निर्युक्तियों के गुरु गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए कुछ विस्तार से प्राकृत भाषा में जो पद्यात्मक व्याख्याएँ लिखी गईं, वे भाष्य के नाम से विश्रुत हैं। भाष्यों में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियाँ, लौकिक कथाएँ और परम्परागत श्रमणों के आचार-विचार और गतिविधियों का प्रतिपादन किया गया है। दशवैकालिक पर जो भाष्य प्राप्त है, उसमें कुल ६३ गाथाएँ हैं। दशवैकालिकचूर्णि में भाष्य का उल्लेख नहीं है, आचार्य हरिभद्र ने अपनी वृत्ति में भाष्य और भाष्यकार का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है,[२४०] भाष्यकार के नाम का उल्लेख नहीं किया और न अन्य किसी विज्ञ ने ही इस सम्बन्ध में सूचन किया है।[२४१] जिन गाथाओं को आचार्य हरिभद्र ने भाष्यगत माना है, वे गाथाएँ चूर्णि में भी हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भाष्यकार चूर्णिकार से पूर्ववती हैं। इसमें हेतु, विशुद्धि, प्रत्यक्ष, परोक्ष, मूलगणों व उत्तरगुणों का प्रतिपादन किया गया है। अनेक प्रमाण देकर जीव की संसिद्धि की गई है। दशवैकालिकभाष्य दशवैकालिकनिर्युक्ति की अपेक्षा बहुत ही संक्षिप्त है।

चूर्णि

आगमों पर निर्युक्ति और भाष्य के पश्चात् शुद्ध प्राकृत में और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में गद्यात्मक व्याख्याएँ लिखी गईं। वे चूर्णि के रूप में विश्रुत हैं। चूर्णिकार के रूप में जिनदासगणी महत्तर का नाम अत्यन्त गौरव के साथ लिया जा सकता है। उनके द्वारा लिखित सात आगमों पर चूर्णियाँ प्राप्त हैं। उनमें एक चूर्णि दशवैकालिक पर भी है। दशवैकालिक पर दूसरी चूर्णि अगस्त्यसिंह स्थविर की है। आगमप्रभाकर पुण्यविजय जी म. ने उसे संपादित कर प्रकाशित किया है। उनके अभिमतानुसार अगस्त्यसिंह स्थविर द्वारा रचित चूर्णि का रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी के आसपास है।[२४२] अगस्त्यसिंह कोटिगणीय वज्रस्वामी की शाखा के एक स्थविर थे, उनके गुरु का नाम ऋषिगुप्त था। इस प्रकार दशवैकालिक पर दो चूर्णियाँ प्राप्त हैं-एक जिनदासगणी महत्तर की तथा दूसरी अगस्त्यसिंह स्थविर की। अगस्त्यसिंह ने

अपनी वृत्ति को चूर्णि की संज्ञा प्रदान की है–"चुण्णिसमासवयणेण दसकालियं परिसमत्तं।"

अगस्त्यसिंह ने अपनी चूर्णि में सभी महत्त्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या की है। इस व्याख्या के लिए उन्होंने विभाषा[२४३] शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध साहित्य में सूत्र-मूल और विभाषा-व्याख्या के ये दो प्रकार हैं। विभाषा का मुख्य लक्षण है–शब्दों के जो अनेक अर्थ होते हैं, उन सभी अर्थों को बताकर, प्रस्तुत में जो अर्थ उपयुक्त हो उसका निर्देश करना। प्रस्तुत चूर्णि में यह पद्धति अपनाने के कारण इसे 'विभाषा' कहा गया है, जो सर्वथा उचित है।

चूर्णि-साहित्य की यह सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि अनेक दृष्टान्तों व कथाओं के माध्यम से मूल विषय को स्पष्ट किया जाता है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने अपनी चूर्णि में अनेक ग्रन्थों के अवतरण दिए हैं जो उनकी बहुश्रुतता को व्यक्त करते हैं।

मूल आगम-साहित्य में श्रद्धा की प्रमुखता थी। निर्युक्ति-साहित्य में अनुमानविद्या या तर्कविद्या को स्थान मिला। उसका विशदीकरण प्रस्तुत चूर्णि में हुआ है। उनके पश्चात् आचार्य अकलंक आदि ने इस विषय को आगे बढ़ाया है। अगस्त्यसिंह के सामने दशवैकालिक की अनेक वृत्तियाँ थीं, सम्भव है वे वृत्तियाँ या व्याख्याएँ मौखिक रही हों, इसलिए उपदेश शब्द का प्रयोग लेखक ने किया है। **'भद्दियायरि ओवएस'** और **'दत्तिलायरि ओवएस'** की उन्होंने कई बार चर्चा की है। यह सत्य है कि दशवैकालिक की वृत्तियाँ प्राचीनकाल से ही प्रारम्भ हो चुकी थीं। आचार्य अपराजित जो यापनीय थे, उन्होंने दशवैकालिक की विजयोदया नामक टीका लिखी थी।[२४४] पर यह टीका स्थविर अगस्त्यसिंह के समक्ष नहीं थी। अगस्त्यसिंह ने अपनी चूर्णि में अनेक मतभेद या व्याख्यान्तरों का भी उल्लेख किया है।[२४५]

ध्यान का सामान्य लक्षण **'एगग्ग चिन्ता-निरोहो झाणं'** की व्याख्या में कहा है कि एक आलम्बन की चिन्ता करना, यह छद्मस्थ का ध्यान है। योग का निरोध केवली का ध्यान है, क्योंकि केवली को चिन्ता नहीं होती।

ज्ञानाचरण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि प्राकृत भाषानिबद्ध सूत्र का संस्कृत रूपान्तर नहीं करना चाहिए क्योंकि व्यञ्जन में विसंवाद करने पर अर्थ-विसंवाद होता है।

'रात्रि-भोजन विरमणव्रत' को मूलगुण माना जाय या उत्तरगुण? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि यह उत्तरगुण ही है किन्तु मूलगुण की रक्षा का हेतु होने से मूलगुण के साथ कहा गया है। वस्त्र-पात्रादि संयम और लज्जा के लिए रखे जाते हैं अतः वे परिग्रह नहीं हैं। मूर्च्छा ही परिग्रह है। चोलपट्टकादि का भी उल्लेख है।

धर्म की व्यावहारिकता का समर्थन करते हुए कहा है–अनन्तज्ञानी भी गुरु की उपासना अवश्य करे (९/१/११)।

'देहदुक्खं महाफलं' की व्याख्या में कहा है–"दुक्खं एवं साहिज्जमाणं मोक्खपज्जवसाणफलत्तेण महाफलं।" बौद्धदर्शन ने चित्त को ही नियंत्रण में लेना आवश्यक माना तो उसका निराकरण करते हुए कहा–"काय का भी नियंत्रण आवश्यक है।"

दार्शनिक विषयों की चर्चाएँ भी यत्र-तत्र हुई हैं। प्रस्तुत चूर्णि में तत्त्वार्थसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, व्यवहारभाष्य, कल्पभाष्य आदि ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है।

दशवैकालिकचूर्णि (जिनदास)

चूर्णि-साहित्य के निर्माताओं में जिनदासगणी महत्तर का मूर्धन्य स्थान है। जिनदासगणी महत्तर के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में विशेष सामग्री अनुपलब्ध है। विज्ञों का अभिमत है कि चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर भाष्यकार जिनभद्र क्षमाश्रमण के पश्चात् और आचार्य हरिभद्र के पहले हुए हैं। क्योंकि भाष्य की अनेक गाथाओं का उपयोग चूर्णियों में हुआ है। आचार्य हरिभद्र ने अपनी वृत्तियों में चूर्णियों का उपयोग किया है। आचार्य जिनदासगणी का समय विक्रम संवत् ६५० से ७५० के मध्य होना चाहिए। नंदीचूर्णि के उपसंहार में उसका रचनासमय शक संवत् ५९८ अर्थात् विक्रम संवत् ७३३ है–इससे भी यही सिद्ध होता है। आचार्य जिनदासगणी महत्तर की दशवैकालिकनिर्युक्ति के आधार पर दशवैकालिकचूर्णि लिखी गई है। यह चूर्णि संस्कृत-मिश्रित प्राकृत भाषा में रचित है, किन्तु संस्कृत कम और प्राकृत अधिक है।

प्रथम अध्ययन में एकक, काल, द्रुम, धर्म आदि पदों का निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। आचार्य शय्यम्भव का जीवन-वृत्त भी दिया है। दस प्रकार के श्रमणधर्म, अनुमान के विविध अवयव आदि पर प्रकाश डाला है।

द्वितीय अध्ययन में श्रमण के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए-पूर्व, काम, पद आदि पदों पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्ययन में दृढधृतिक के आचार का प्रतिपादन है। उसमें महत्, क्षुल्लक, आचार-दर्शनाचार, ज्ञानाचार, तपाचार, वीर्याचार, अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा, मिश्रकथा, अनाचीर्ण आदि का भी विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्ययन में जीव, अजीव, चारित्र, यतना, उपदेश, धर्मफल आदि का परिचय दिया है।

पञ्चम अध्ययन में श्रमण के उत्तरगुण-पिण्डस्वरूप, भक्तपानैषणा, गमनविधि, गोचरविधि, पानकविधि, परिष्ठापनविधि, भोजनविधि आदि पर विचार किया गया है।

षष्ठ अध्ययन में धर्म, अर्थ, काम, व्रतषट्क, कायषट्क आदि का प्रतिपादन है। इसमें आचार्य का संस्कृत भाषा के व्याकरण पर प्रभूत्व दृष्टिगोचर होता है।

सप्तम अध्ययन में भाषा सम्बन्धी विवेचना है।

अष्टम अध्ययन में इन्द्रियादि प्रणिधियों पर विचार किया है।

नौवें अध्ययन में लोकोपचारविनय, अर्थविनय, कामविनय, भयविनय, मोक्षविनय की व्याख्या है।

दशम अध्ययन में भिक्षु के गुणों का उत्कीर्तन किया है। चूलिकाओं में रति, अरति, विहारविधि, गृहिवैयावृत्य का निषेध, अनिकेतवास प्रभृत्ति विषयों से सम्बन्धित विवेचना है। चूर्णि में तरंगवती, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों का नामनिर्देश भी किया गया है।

प्रस्तुत चूर्णि में अनेक कथाएँ दी गई हैं, जो बहुत ही रोचक तथा विषय को स्पष्ट करने वाली हैं। उदाहरण के रूप में हम यहाँ एक-दो कथाएँ दे रहे हैं-

प्रवचन का उड्डाह होने पर किस प्रकार प्रवचन की रक्षा की जाए? इसे समझाने के लिए हिंगुशिव नामक वाणव्यन्तर की कथा है। एक माली पुष्पों को लेकर जा रहा था। उसी समय उसे शौच की हाजत हो गई। उसने रास्ते में ही शौच कर उस अशुचि पर पुष्प डाल दिए। राहगीरों ने पूछा-"यहाँ पर पुष्प

क्यों डाल रखे हैं?'' उत्तर में माली ने कहा–''मुझे प्रेतबाधा हो गई थी। यह हिंगुशिव नामक वाणव्यन्तर है।''

इसी प्रकार यदि कभी प्रमादवश प्रवचन की हँसी का प्रसंग उपस्थित हो जाय तो उसकी बुद्धिमानी से रक्षा करें।

एक लोककथा बुद्धि के चमत्कार को उजागर कर रही है–

एक व्यक्ति ककड़ियों से गाड़ी भरकर नगर में बेचने के लिए जा रहा था। उसे मार्ग में एक धूर्त्त मिला, उसने कहा–''मैं तुम्हारी ये गाड़ी भर ककड़ियाँ खा लूँ तो मुझे क्या पुरस्कार दोगे?'' ककड़ी वाले ने कहा–''मैं तुम्हें इतना बड़ा लड्डू दूँगा जो नगरद्वार में से निकल न सके।'' धूर्त्त ने बहुत सारे गवाह बुला लिए और उसने थोड़ी-थोड़ी सभी ककड़ियाँ खाकर पुनः गाड़ी में रख दीं और लगा लड्डू माँगने। ककड़ी वाले ने कहा–''शर्त के अनुसार तुमने ककड़ियाँ खाई ही कहाँ हैं?'' धूर्त्त ने कहा–''यदि ऐसी बात है तो ककड़ियाँ बेचकर देखो।''

ककड़ियों की गाड़ी को देखकर बहुत सारे व्यक्ति ककड़ियाँ खरीदने को आ गये। पर ककड़ियों को देखकर उन्होंने कहा–''खाई हुई ककड़ियाँ बेचने के लिए क्यों लेकर आए हो?''

अन्त में धूर्त्त और ककड़ी वाला दोनों न्याय कराने हेतु न्यायाधीश के पास पहुँचे। ककड़ी वाला हार गया और धूर्त्त जी गया। उसने पुनः लड्डू माँगा। ककड़ी वाले ने उसे लड्डू के बदले में बहुत सारा पुरस्कार देना चाहा पर वह लड्डू लेने के लिए ही अड़ा रहा। नगर के द्वार से बड़ा लड्डू बनाना कोई हँसी-खेल नहीं था। ककड़ी वाले को परेशान देखकर एक दूसरे धूर्त्त ने उसे एकान्त में ले जाकर उपाय बताया कि एक नन्हा-सा लड्डू बनाकर उसे नगर द्वार पर रख देना और कहना–''लड्डू ! दरवाजे से बाहर निकल आओ।'' पर लड्डू निकलेगा नहीं, फिर तुम वह लड्डू उसे यह कहकर दे देना कि यह लड्डू द्वार में से नहीं निकल रहा है।

इस प्रकार अनेक कथाएँ प्रस्तुत चूर्णि में विषय को स्पष्ट करने के लिए दी गई हैं।

टीकाएँ

चूर्णि-साहित्य के पश्चात् संस्कृत भाषा में टीकाओं का निर्माण हुआ। टीका युग जैन-साहित्य के इतिहास में स्वर्णिम युग के रूप में विश्रुत है।

निर्युक्ति-साहित्य में आगमों के शब्दों की व्याख्या और व्युत्पत्ति है। भाष्य-साहित्य में आगमों के गम्भीर भावों का विवेचन है। चूर्णि-साहित्य में निगूढ़ भावों को लोककथाओं तथा ऐतिहासिक वृत्तों के आधार से समझाने का प्रयास है तो टीका-साहित्य में आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण है। टीकाकारों ने प्राचीन निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि-साहित्य का अपनी टीकाओं में प्रयोग किया ही है और साथ ही नये हेतुओं का भी उपयोग किया है। टीकाएँ संक्षिप्त और विस्तृत दोनों प्रकार की हैं। टीकाओं के नामों का प्रयोग भी आचार्यों ने किया है, जैसे–टीका, वृत्ति, विवृत्ति, विवरण, विवेचन, व्याख्या, वार्तिक, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णि, पंजिका, टिप्पणक, पर्याय, स्तवक, पीठिका, अक्षरार्द्ध।

इन टीकाओं में केवल आगमिक तत्त्वों पर ही विवेचन नहीं हुआ अपितु उस युग की सामाजिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक परिस्थितियों का भी इनसे सम्यक् परिज्ञान हो जाता है। संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभद्र का नाम सर्वप्रथम है। वे संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका सत्ता-समय विक्रम संवत् ७५७ से ८२८ है। प्रभावकचरित के अनुसार उनके दीक्षागुरु आचार्य जिनभट थे किन्तु स्वयं आचार्य हरिभद्र ने उनका गच्छपति गुरु के रूप में उल्लेख किया है और जिनदत्त को दीक्षागुरु माना है।[२४६] याकिनी महत्तरा उनकी धर्ममाता थीं, उनका कुल विद्याधर था। उन्होंने अनेक आगमों पर टीकाएँ लिखी हैं, वर्तमान में ये आगम टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं–नन्दीवृत्ति, अनुयोगद्वारवृत्ति, प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या, आवश्यकवृत्ति और दशवैकालिकवृत्ति।

दशवैकालिकवृत्ति के निर्माण का मूल आधार दशवैकालिकनिर्युक्ति है। शिष्यबोधिनीवृत्ति या बृहद्वृत्ति ये दो नाम इस वृत्ति के उपलब्ध हैं। वृत्ति के प्रारम्भ में दशवैकालिक का निर्माण कैसे हुआ? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य शय्यम्भव का जीवन-वृत्त दिया है। तप के वर्णन में आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान का निरूपण किया गया है। अनेक प्रकार के श्रोता होते हैं, उनकी दृष्टि से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, विभिन्न अवयवों की उपयोगिता, उनके दोषों की शुद्धि का प्रतिपादन किया है।

द्वितीय अध्ययन की वृत्ति में श्रमण, पूर्व, काम, पद आदि शब्दों पर चिन्तन करते हुए तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच स्थावर, दस श्रमणधर्म, अठारह शीलांगसहस्र का निरूपण किया गया है।

तृतीय अध्ययन की वृत्ति में महत्, क्षुल्लक पदों की व्याख्या है। पाँच आचार, चार कथाओं का उदाहरण सहित विवेचन है।

चतुर्थ अध्ययन की वृत्ति में जीव के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। पाँच महाव्रत, छठा रात्रि-भोजन विरमणव्रत, श्रमणधर्म की दुर्लभता का चित्रण है।

पञ्चम अध्ययन की वृत्ति में आहारविषयक विवेचन है।

छठे अध्ययन की वृत्ति में व्रतषट्क, कायषट्क, अकल्प, गृहिभाजन, पर्यङ्क, निषद्या, स्नान और शोभा-वर्जन, इन अष्टादश स्थानों का निरूपण है, जिनके परिज्ञान से ही श्रमण अपने आचार का निर्दोष पालन कर सकता है।

सातवें अध्ययन की व्याख्या में भाषा-शुद्धि पर चिन्तन किया है।

आठवें अध्ययन की व्याख्या में आचार में प्रणिधि की प्रक्रिया और उसके फल पर प्रकाश डाला है।

नौवें अध्ययन में विनय के विविध प्रकार और उससे होने वाले फल का प्रतिपादन किया है।

दसवें अध्ययन की वृत्ति में सुभिक्षु का स्वरूप बताया है। चूलिकाओं में भी धर्म के रतिजनक, अरतिजनक कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत वृत्ति में अनेक प्राकृत कथानक व प्राकृत संस्कृत भाषा के उद्धरण भी आये हैं। दार्शनिक चिन्तन भी यत्र-तत्र मुखरित हुआ है। आचार्य हरिभद्र संविग्न-पाक्षिक थे। वह काल चैत्यवास के उत्कर्ष का काल था। चैत्यवासी और संविग्न-पक्ष में परस्पर संघर्ष की स्थिति थी। चैत्यवासियों के पास पुस्तकों का संग्रह था। संविग्न-पक्ष के पास प्रायः पुस्तकों का अभाव था। चैत्यवासी उनको पुस्तकें नहीं देते थे। वे तो संविग्न-पक्ष को मिटाने पर तुले हुए थे, यही कारण है कि आचार्य हरिभद्र को अपनी वृत्ति लिखते समय अगस्त्यसिंहचूर्णि आदि उपलब्ध न हुई हो। यदि उपलब्ध हुई होती तो वे उसका अवश्य ही संकेत करते।

आचार्य हरिभद्र के पश्चात् अपराजितसूरि ने दशवैकालिक पर एक वृत्ति लिखी, जो वृत्ति 'विजयोदया' नाम से प्रसिद्ध है। अपराजितसूरि यापनीय संघ के थे। इनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है। उन्होंने अपने द्वारा रचित

आराधना की टीका में इस बात का उल्लेख किया है। यह टीका उपलब्ध नहीं है। आचार्य हरिभद्र की टीका का अनुसरण करके तिलकाचार्य ने भी एक टीका लिखी है, इनका समय तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी है। माणिक्यशेखर ने दशवैकालिक पर निर्युक्तिदीपिका लिखी है, माणिक्यशेखर का समय पन्द्रहवीं शताब्दी है। समयसुन्दर ने दशवैकालिक पर दीपिका लिखी है, इनका समय विक्रम संवत् १६११ से १६८१ तक है। विनयहंस ने दशवैकालिक पर वृत्ति लिखी है, इनका समय विक्रम संवत् १५७३ है। रामचन्द्रसूरि ने दशवैकालिक पर वार्तिक लिखा है, इनका समय विक्रम संवत् १६७८ है। इसी प्रकार शान्तिदेवसूरि, सोमविमलसूरि, राजचन्द्र, पारसचन्द्र, ज्ञानसागर प्रभृति मनीषियों ने भी दशवैकालिक पर टीकाएँ लिखी हैं। पायचन्द्रसूरि और धर्मसिंह मुनि, जिनका समय विक्रम की अठारहवीं शताब्दी है, ने गुजराती-राजस्थानी मिश्रित भाषा में टब्बा लिखा। टब्बे में टीकाओं की तरह नया चिन्तन और स्पष्टीकरण नहीं है। इस प्रकार समय-समय पर दशवैकालिक पर आचार्यों ने विराट् व्याख्या-साहित्य लिखा है। पर यह सत्य है कि अगस्त्यसिंह स्थविर विरचित चूर्णि, जिनदासगणी महत्तर विरचित चूर्णि और आचार्य हरिभद्रसूरि विरचित वृत्ति इन तीनों का व्याख्या-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। परवर्ती विज्ञों ने अपनी वृत्तियों में इनके मौलिक चिन्तन का उपयोग किया है। टब्बे के पश्चात् अनुवाद युग का प्रारम्भ हुआ। आचार्य अमोलक ऋषि जी ने दशवैकालिक का हिन्दी अनुवाद लिखा। उसके बाद अनेक विज्ञों के हिन्दी अनुवाद प्रकाश में आए। इसी तरह गुजराती और अंग्रेजी भाषा में भी अनुवाद हुए तथा आचार्य आत्माराम जी म. ने दशवैकालिक पर हिन्दी में विस्तृत टीका लिखी। यह टीका मूल के अर्थ को स्पष्ट करने में सक्षम है। अनुसंधान युग में आचार्य तुलसी के नेतृत्व में मुनि श्री नथमल जी ने 'दसवेआलियं' ग्रन्थ तैयार किया, जिसमें मूल पाठ के साथ विषय को स्पष्ट करने के लिए शोध-प्रधान टिप्पण दिए गये हैं। इस प्रकार अतीत से वर्तमान तक दशवैकालिक पर व्याख्याएँ और विवेचन लिखा गया है, जो इस आगम की लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण है।

प्राचीन युग में मुद्रण का अभाव था इसलिए ताड़पत्र या कागज पर आगमों का लेखन होता रहा। मुद्रण युग प्रारम्भ होने पर आगमों का मुद्रण प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम सन् १९०० में हरिभद्र और समयसुन्दर की वृत्ति के साथ दशवैकालिक का प्रकाशन भीमसी माणेक (बम्बई) ने किया। उसके पश्चात् सन्

१९०५ में दशवैकालिक दीपिका का प्रकाशन हीरालाल हंसराज (जामनगर) ने किया। सन् १९१५ में समयसुन्दर विहित वृत्ति सहित दशवैकालिक का प्रकाशन हीरालाल हंसराज (जामनगर) ने करवाया। सन् १९११ में समयसुन्दर विहित वृत्ति सहित दशवैकालिक का प्रकाशन जिनयशःसूरि ग्रन्थमाला (खम्भात) से हुआ। सन् १९१८ में भद्रबाहुकृत निर्युक्ति तथा हारिभद्रीया वृत्ति के साथ दशवैकालिक का प्रकाशन देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार (बम्बई) ने किया। निर्युक्ति तथा हारिभद्रीया वृत्ति के साथ विक्रम संवत् १९९९ में मनसुखलाल हीरालाल (बम्बई) ने दशवैकालिक का एक संस्करण प्रकाशित किया। दशवैकालिक का भद्रबाहुनिर्युक्ति सहित प्रकाशन आंग्ल भाषा में E. Leumann द्वारा ZDMG से प्रकाशित करवाया गया (Vol. 46, page 581-663)। सन् १९३३ में जिनदासकृत चूर्णि का प्रकाशन ऋषभदेव जी केसरीमल जी जैन श्वेताम्बर संस्था (रतलाम) से हुआ। सन् १९४० में संस्कृत टीका के साथ संपादक आचार्य श्री हस्तीमल जी म. ने जो दशवैकालिक का संस्करण तैयार किया वह मोतीलाल बालचन्द मूथा (सतारा) के द्वारा प्रकाशित हुआ। सन् १९५४ में सुमति साधु विरचित वृत्ति सहित दशवैकालिक का प्रकाशन देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार (सूरत) से हुआ। निर्युक्ति, अगस्त्यसिंहचूर्णि का सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९७३ में पुण्यविजय जी म. द्वारा संपादित होकर प्राकृत ग्रन्थ परिषद् (वाराणसी) द्वारा किया गया।

विक्रम संवत् १९८१ में आचार्य आत्माराम जी म. कृत हिन्दी टीका सहित दशवैकालिक का संस्करण ज्वालाप्रसाद माणकचन्द जौहरी महेन्द्रगढ़ (पटियाला) ने प्रकाशित किया। उसी का द्वितीय संस्करण विक्रम संवत् २००३ में जैनशास्त्रमाला कार्यालय (लाहौर) से हुआ। सन् १९५७ और १९६० में आचार्य घासीलाल जी म. विरचित संस्कृत-व्याख्या और उसका हिन्दी और गुजराती अनुवाद जैनशास्त्रोद्धार समिति (राजकोट) से हुआ। वीर संवत् २४४६ में आचार्य अमोलक ऋषि जी ने हिन्दी अनुवाद सहित दशवैकालिक का एक संस्करण प्रकाशित किया। विक्रम संवत् २००० में मुनि अमरचंद्र पंजाबी संपादित दशवैकालिक का संस्करण विलायतीराम अग्रवाल (माच्छीवाड़ा) द्वारा प्रकाशित हुआ और विक्रम संवत् २००२ में घेवरचंद जी बांठिया द्वारा सम्पादित संस्करण सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था (बीकानेर) द्वारा और बांठिया द्वारा ही संपादित दशवैकालिक का एक संस्करण विक्रम

संवत् २०२० में साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ (सैलाना) से प्रकाशित हुआ। सन् १९३६ में हिन्दी अनुवाद सहित मुनि सौभाग्यचन्द्र 'सन्तबाल' ने संपादित किया, वह संस्करण श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस (बम्बई) ने प्रकाशित करवाया।

मूल टिप्पण सहित दशवैकालिक का एक अभिनव संस्करण मुनि नथमल जी द्वारा संपादित विक्रम संवत् २०२० में जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट (कलकत्ता) से और उसी का द्वितीय संस्करण सन् १९७४ में जैन विश्व भारती (लाड़नूं) से प्रकाशित हुआ। सन् १९३९ में दशवैकालिक का गुजराती छायानुवाद गोपालदास जीवाभाई पटेल ने तैयार किया, वह जैन साहित्य प्रकाशन समिति (अहमदाबाद) से प्रकाशित हुआ। इसी तरह दशवैकालिक का अंग्रेजी अनुवाद जो W. Schubring द्वारा किया गया, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। सन् १९३७ में पी. एल. वैद्य (पूना) ने भी दशवैकालिक का आंग्ल अनुवाद कर उसे प्रकाशित किया है।

दशवैकालिक का मूल पाठ सन् १९१२, सन् १९२४ में जीवराज घेलाभाई दोशी (अहमदाबाद) तथा सन् १९३० में उम्मेदचंद रायचंद (अहमदाबाद), सन् १९३८ में हीरालाल हंसराज (जामनगर), विक्रम संवत् २०१० में शान्तिलाल वनमाली सेठ (ब्यावर), सन् १९७४ में श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय (उदयपुर) तथा अन्य अनेक स्थलों से दशवैकालिक के मूल संस्करण छपे हैं। श्री पुण्यविजय जी द्वारा संपादित और श्री महावीर जैन विद्यालय (बम्बई) से सन् १९७७ में प्रकाशित संस्करण सभी मूल संस्करणों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संस्करण में प्राचीनतम प्रतियों के आधार से अनेक शोध-प्रधान पाठान्तर दिए गए हैं, जो शोधार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी हैं। पाठ शुद्ध है।

स्थानकवासी समाज एक प्रबुद्ध और क्रान्तिकारी समाज है। उसने समय-समय पर विविध स्थानों से आगमों का प्रकाशन किया तथापि आधुनिक दृष्टि से आगमों के सर्वजनोपयोगी संस्करण का अभाव खटक रहा था। उस अभाव की पूर्ति का संकल्प मेरे श्रद्धेय सद्गुरुवर्य राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी पूज्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. के स्नेह-साधी व सहपाठी श्रमणसंघ के युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी मधुकर मुनि जी ने किया। युवाचार्यश्री ने इस महाकार्य को शीघ्र सम्पन्न करने हेतु सम्पादक-मण्डल का गठन किया और साथ ही विविध मनीषियों को सम्पादन, विवेचन करने के लिए उत्प्रेरित

किया। परिणामस्वरूप सन् १९८३ तक अनेक आगम शानदार ढंग से प्रकाशित हुए। अत्यन्त द्रुतगति से आगमों के प्रकाशन कार्य को देखकर मनीषीगण आश्चर्यान्वित हो गए। पर किसे पता था कि युवाचार्यश्री का स्वप्न उनके जीवनकाल में साकार नहीं हो पायेगा। नवम्बर १९८३ को नासिक में हृदय-गति रुक जाने से यकायक उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी प्रबल प्रेरणा थी कि दशवैकालिक के अभिनव संस्करण का संपादन मेरी ज्येष्ठ भगिनी परम विदुषी महासती श्री पुष्पवती करें। बहिन जी महाराज को भी सम्पादन-कार्य में पूजनीया मातेश्वरी महाराज के स्वर्गवास से व्यवधान उपस्थित हुआ जिसके कारण न चाहते हुए भी इस कार्य में काफी विलम्ब हो गया। युवाचार्यश्री इस आगम के सम्पादन-कार्य को नहीं देख सके।

दशवैकालिक का मूल पाठ प्राचीन प्रतियों के आधार से विशुद्ध रूप से देने का प्रयास किया गया है। मूल पाठ के साथ हिन्दी में भावानुवाद भी दिया गया है। आगमों के गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में विवेचन भी लिखा है। विवेचन में निर्युक्ति, चूर्णि, टीका और अन्यान्य आगमों का उपयोग किया गया है। यह विवेचन सारगर्भित, सरल और सरस हुआ है। कई अज्ञात तथ्यों को इस विवेचन में उद्घाटित किया गया है। अनुवाद और विवेचन की भाषा सरल, सुबोध और सरस है। शैली चित्ताकर्षक और मोहक है। बहिन जी महाराज की विलक्षण प्रतिभा का यत्र-तत्र संदर्शन होता है। यद्यपि उन्होंने आगम का सम्पादन-कार्य सर्वप्रथम किया है तदपि वे इस कार्य में पूर्ण सफल रही हैं। यह विवेचन हर दृष्टि से मौलिक है। मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि इस संस्करण का सर्वत्र समादर होगा, क्योंकि इसकी सम्पादन शैली आधुनिकतम है और गुरु गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने वाली है। ग्रन्थ में अनेक परिशिष्ट भी दिए गए हैं, विशिष्ट शब्दों का अर्थ भी दिया गया है, जिससे यह संस्करण शोधार्थियों के लिए भी परम उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं दशवैकालिक पर बहुत ही विस्तार से लिखना चाहता था पर समयाभाव व ग्रन्थाभाव के कारण चाहते हुए भी नहीं लिख सका, पर संक्षेप में दशवैकालिक के सम्बन्ध में लिख चुका हूँ और इतना लिखना आवश्यक भी था।

●●

उद्धृत संदर्भ-स्थल सूची

१. समवायाङ्गसूत्र, पृष्ठ ६०
२. औपपातिकसूत्र
३. दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति
४. "मगद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमागहं, अट्ठारस देसीभासाणिमयं वा अद्धमागहं।"
—निशीथचूर्णि
५. सूत्रकृताङ्ग २/२-३९, सूत्र की टीका
६. बृहत्कल्पसूत्र, भाग ६, प्रस्तावना, पृष्ठ ५७
७. कल्पसूत्र, प्रस्तावना, पृष्ठ ४-६
८. अंगविज्जा, प्रस्तावना, ८-११
९. तत्त्वार्थभाष्य १/२०
१०. सुखबोधा समाचारी, पृष्ठ १३४
११. विधिमार्गप्रपा के लिए देखिए—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, प्रस्तावना, पृष्ठ ३८
१२. वायनाविही, पृष्ठ ६४
१३. प्रभावकचरित्र, आर्यरक्षित प्रबन्ध, श्लोक २४१
१४. The Uttaradhyayana Sutra, Page 32
१५. "आयारस्स उ उवरिं, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु।
दसवेयालिय उवरिं इयाणिं किं तेन होवंती उ॥"
—व्यवहारभाष्य, उद्देशक ३, गाथा १७६
१६. "पुव्वं सत्थपरिण्णा, अधीय पढियाइ होइ उवट्ठवणा।
इण्हिंछज्जीवणया, किं सा उ न होउ उवट्ठवणा॥"
—वही, उद्देशक ३, गाथा १७४
१७. समाचारीशतक
१८. "अथ उत्तराध्ययन-आवश्यक-पिण्डनिर्युक्ति-ओघनिर्युक्ति-दशवैकालिक-इति चत्वारि मूलसूत्राणि।" —जैनधर्मवरस्तोत्र, श्लोक ३० की स्वोपज्ञ वृत्ति
१९. ए हिस्ट्री ऑफ दी कैनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स, पृष्ठ ४४-४५ (लेखक—एच. आर. कापड़िया)
२०. "से किं तं उक्कालियं? उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—दसवेयालियं।"
—नन्दीसूत्र ७१
२१. "अपुहुत्तपुहुत्ताहं निद्दिसिउं, एत्थ होइ अहिगारो।
चरणकरणाणुओगेण, तस्स दारा इमे हुंति॥" —दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ४

२२. अगस्त्यसिंह स्थविर : दशवैकालिकचूर्णि

२३. चरणं मूलगुणाः।
"वय-समणधम्म संयम, वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
णाणाइतियं तव, कोहनिग्गहाई चरणमेयं॥" —प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५५२

२४. करणं उत्तरगुणाः।
"पिंडविसोही समिई, भावण पडिमा इ इंदियनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु॥" —वही, गाथा ५६३

२५. "दसवेयालियं आयार-गोयर-विहिं वण्णेइ।"
—षट्खंडागम, सत्प्ररूपणा १/१/१, पृष्ठ ९७

२६. "जदि गोचरस्स विहिं, पिंडविसुद्धिं च जं परूवेहि।
दसवेआलियसुत्तं, दहकाला जत्थ संवुत्ता॥" —अंगपण्णत्ती ३/२४

२७. "वृक्षकुसुमादीनां दशानां भेदकथकं यतीनामाचारकथकं च दशवैकालिकम्।"
—तत्त्वार्थवृत्ति श्रुतसागरीया, पृष्ठ ६७

२८. "वितितंमि बंभचेरे, पंचम उद्देसे आमगंधम्मि।
सुत्तंमि पिंडकप्पो, इह पुण पिंडेसणाए ओ॥"
—व्यवहारभाष्य, उद्देशक ३, गाथा १७५

२९. "तेण य सेज्जंभवेण दारमूले ठिएणं तं वयणं सुअं, ताहे सो विचिंतेइ–एए उवसंता तवस्सिणो असच्चं ण वयंति।"
—दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति, पत्रांक १०–११

३०. "जया य सो पव्वइओ तया य तस्स गुव्विणी महिला होत्था।"
—वही, पत्रांक ११ (१)

३१. "अहो शय्यम्भवो भट्टो, निष्ठुरेभ्योऽपि निष्ठुरः।
स्वां प्रियां यौवनवतीं, सुशीलामपि योऽत्यजत्॥५७॥" —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

३२. "मायाए से भणिअ 'मणग' ति तम्हा मणओ से णामं कयंति।"
—दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्रांक ११ (२)

३३. "एवं च चिन्तयामास, शय्यम्भवमहामुनिः।
अत्यल्पायुरयं बालो, भावी श्रुतधरः कथम्॥८२॥" —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

३४. "अपश्चिमो दशपूर्वी, श्रुतसारं समुद्धरेत्।
चतुर्दशपूर्वधरः, पुनः केनापि हेतुना॥८३॥" —वही, सर्ग ५

३५. (क) "सिद्धान्तसारमुद्धृत्याचार्यः शय्यम्भवस्तदा।
दशवैकालिकं नाम श्रुतस्कन्धमुदाहरत्॥८५॥" —वही, सर्ग ५
(ख) दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र १२

३६. "आणंद-अंसुपायं कासी, सिज्जंभवा तहिं थेरा।
जसभद्दस्स य पुच्छा, कहणा अ विआलणा संघे॥" —दशवैकालिकनिर्युक्ति ३७१

३७. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३१४
३८. जैनधर्म के प्रभावक आचार्य, पृष्ठ ५१
३९. History of Indian Literature, Vol. II, Page 47, F.N. 1
४०. The Dasavaikalika Sutra : A Study, Page 9
४१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, पृष्ठ ३१४
४२. दसवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र ११-१२
४३. "आयप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ धम्मपन्नती।
कम्मप्पवायपुव्वा, पिंडस्स उ एसणा तिविहा॥
सच्चप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा, नवमस्स उ तइयवत्थूओ॥"
—दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा १६-१७
४४. "बीओऽवि अ आएसो, गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ।
एअं किर निज्जूढं, मणगस्स अणुग्गहट्ठाए॥" —वही, गाथा १८
४५. (क) "संतिमे तसा पाणा, तं जहा–अंडया पोयया जराउया रसया संसेयया समुच्छिमा उब्भिया ओववाइया।" —आचारांग १/११८
तुलना करें–
"अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया।"
—दशवैकालिक, अध्ययन ४, सूत्र ९
(ख) "ण मे देति ण कुप्पेज्जा" —आचारांग २/१०२
तुलना करें–
"अदेंतस्स न कुप्पेज्जा।" —दशवैकालिक ५/२/२८
(ग) "सामायिकमाहु तस्स तं जं गिहिमत्तेऽसणं ण भक्खति।"
—सूत्रकृतांग १/२/२/१८
तुलना करें–
"सन्निही गिहिमत्ते य रायपिंडे किमिच्छए।" —दशवैकालिक ३/३
४६. दशवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि की भूमिका, पृष्ठ १२
४७. "आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्। तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णव-जलं घटगृहीतमिव। —सर्वार्थसिद्धि १/२०
४८. तत्त्वार्थभाष्य १/२०
४९. "दसवेयालं च उत्तरज्झयणं।" —गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६७
५०. कषायपाहुड (जयधवला सहित), भाग १, पृष्ठ १३/२५
५१. मूलाराधना, आश्वास ४, श्लोक ३३३, वृत्ति पत्र ६११

५२. देखें–आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४१, वृत्ति पत्र १४९

५३. निशीथचूर्णि १/७, १/१३, १/१०६, १/१६३, २/१२५, २/१२६, २/३५९, २/३६३, ३/४८३, ३/५४७, ४/३१, ४/३२, ४/३३, ४/१४३, ४/१५७, ४/२७२

५४. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति १/३१, वृत्ति ५९, २/१३/९४, ३/१३/१८६, ५/३१/२५४, १५/२/४१५

५५. उत्तराध्ययनचूर्णि १/३४, पृष्ठ ४०, २/४१/८३, ५/१८/१३७

५६. जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ५३, सन् १९४२, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार कार्यालय, बम्बई

५७. (क) नन्दीसूत्र ४६
(ख) दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ६

५८. वही, गाथा १, ७, १२, १४-१५

५९. दशवैकालिक : अगस्त्यसिंहचूर्णि, पुण्यविजय जी म. द्वारा सम्पादित

६०. "विचारणा संघ' इति शय्यम्भवेनाल्पायुषमेनमवेत्य मयेदं शास्त्रं निर्यूढं किमत्र युक्तमिति निवेदिते विचारणा संघे–कालह्रासदोषात् प्रभूतसत्वानामिदमेवोपकार–कमतस्तिष्ठत्वेतदित्येवंभूता स्थापना।"

–दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र २८४

६१. महानिशीथ अध्ययन ५, दुःषमाकरक प्रकरण।

६२. "श्री संघायोपदां, प्रेषीन्मन्मुखेन प्रसादभाक्।
श्रीमान्सीमन्धर स्वामी, चत्वार्यध्ययनानि च॥
भावना च विमुक्तिश्च, रतिकल्पमथापरम्।
तथा विचित्रचर्या च, तानि चैतानि नामतः॥
अप्येकया वाचनया, मया तानि धृतानि च।
उद्गीतानि च संघाय, तत्तथाख्यानपूर्वकम्॥
आचारांगस्य चूले द्वे, आद्यमध्ययनद्वयम्।
दशवैकालिकस्यान्यदथ, संघेन योजितम्॥"

–परिशिष्ट पर्व, ९/९७-१००, पृष्ठ ९०

६३. "आओ दो चूलियाओ, आणीया जक्खिणीए अज्जाए।
सीमंधरपासाओ, भवियाण विबोहणट्ठाए॥" –दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ४४७

६४. "एवं च वृद्धवादः–कयाचिदार्ययाऽसहिष्णुः कुरगडुकप्रायः संयतश्चातुर्मासिकादावुपवासं कारितः, स तदाराधनया मृत एव, ऋषिघातिकाऽहमित्युद्विग्ना सा तीर्थंकरं पृच्छामीति गुणावर्जितदेवतया नीता श्रीसीमन्धरस्वामिसमीपं, पृष्टो भगवान, अदुष्टचित्ताऽघातिकेत्यभिधाय भगवतेमां चूडां ग्राहितेति।"

–दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र २७८-२७९

६५. दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ ५२
६६. "सिरिओ पव्वइतो अब्भत्तट्ठेणं कालगतो महाविदेहे य पुच्छिका गता अज्झा दो वि अज्झयणाणि भावणा विमोत्ती य आणिताणि।" —आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ १८८
६७. श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, जैन आगम ग्रन्थमाला, ग्रंथाक १५, पृष्ठ ८१
६८. दशवैकालिकसूत्र मूल, प्रकाशक—आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद १३, पृष्ठ ५
६९. भूमिका, पृष्ठ २८-२९, प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाड़नूं
७०. आचारांग १/६/२/१८१
७१. मीमांसादर्शन १/१/२
७२. मनुस्मृति २/१
७३. महाभारत, कर्ण पर्व ६९/५९
७४. अमोलकसूक्तिरत्नाकर, पृष्ठ २७
७५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४७८
७६. अभिधानराजेन्द्रकोष, खण्ड ४, पृष्ठ २६६९
७७. "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। —वैशेषिकदर्शन १/१/२
७८. (क) दशवैकालिक १/१
(ख) योगशास्त्र ४/१००
७९. धम्मपद ४/६
८०. "यथामधु समादत्ते, रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य, आदद्याद् अविहिंसया॥" —महाभारत, उद्योग पर्व ३४/१७
८१. "धिरत्थु तं विसं वन्तं, यमहं जीवितकारणा।
वन्तं पच्चावमिस्सामि, मतम्मे जीविता वरं॥" —जातक, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४०४
८२. "सद्यप्पवायपुव्वा निज्जूढा, होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा,नवमस्स उ तइयवत्थूओ॥" —निर्युक्ति, गाथा १७
८३. "एएसि महंताणं पडिवक्खे खुड्डया होंति।" —वही, गाथा १७८
८४. "सर्वमेतत् पूर्वोक्तचतुःपञ्चाशद्भेदभिन्नमौद्देशिकतादिकं यदनन्तरमुक्तं तत् सर्वमनाचरितं ज्ञातव्यम्।" —दीपिका (दशवैकालिक), पृष्ठ ७
८५. "तिण्हमन्नयरागस्स, निसेज्जा जस्स कप्पइ।
जराए अभिभूयस्स, वाहियस्स तवस्सिणो॥" —दशवैकालिक ६/५९
८६. विनयपिटक, पृष्ठ २७, अनु. राहुल सांकृत्यायन, प्र. महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस)
८७. विनयपिटक, पृष्ठ ४१८
८८. विनयपिटक, पृष्ठ २०४-२०८
८९. विनयपिटक, पृष्ठ २११

९०. विनयपिटक, पृष्ठ २११
९१. विनयपिटक, पृष्ठ ५७
९२. दीघनिकाय, पृष्ठ ३
९३. मनुस्मृति २/१७७-१७९
९४. "अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु।
सुगन्धलेपालंकारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रताः॥" —भागवत ७/१२/१२
९५. "केशरोमनखश्मश्रुमलानि विभृयादतः।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः॥" —भागवत ११/१८/३
९६. "नगरी नगरस्येव, रथस्येव रथी सदा।
स्वशरीरस्य मेधावी, कृत्येष्ववहितो भवेत्॥"
—चरकसंहिता, सूत्रस्थान, अध्ययन ५/१००
९७. सूत्रकृतांग १/९/१२/१८, २०-२१, २३, २९
९८. "अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ।" —निर्युक्ति, गाथा १७
९९. निशीथचूर्णि ३९८८
१००. प्रश्नव्याकरणसूत्र २/२
१०१. दशवैकालिक ६/१४
१०२. प्रश्नव्याकरण ९
१०३. आचारांग १/२/५/९०
१०४. वही २/५/१४१, २/६/१/१५२
१०५. प्रश्नव्याकरणसूत्र १०
१०६. (क) बृहत्कल्पभाष्य, खण्ड ३, २८८३-२८९२
(ख) हिस्ट्री ऑफ जैन मोनाशिज्म, पृष्ठ २६९-२७७
१०७. "जाति-देश-काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।" —योगदर्शन २/३१
१०८. महाभारत, शान्ति पर्व ९/१९
१०९. मनुस्मृति ६/४७-४८
११०. देखिए—धर्मशास्त्र का इतिहास, पाण्डुरंग वामन काणे, भाग १, पृष्ठ ४१३
१११. मनुस्मृति ६/५३-५४
११२. विनयपिटक, महावग्ग १/५६
११३. सुत्तनिपात ३७/२७
११४. विनयपिटक, महावग्ग १/७८/२
११५. वही, पातिमोक्ख पराजिक धम्म २
११६. संयुक्तनिकाय ९/१४
११७. विनयपिटक, पातिमोक्ख संघादि सेस धम्म २

११८. दीघनिकाय २/३
११९. विनयपिटक, पातिमोक्ख पाचितिय धम्म ३०
१२०. सुत्तनिपात २६/२२
१२१. वही ५३/७, ९
१२२. मज्झिमनिकाय, अभयराजसुत्त
१२३. विनयपिटक, पातिमोक्ख पाचितिय धम्म १-२
१२४. संयुक्तनिकाय ४२/१
१२५. विनयपिटक, महावग्ग १/५६; चूल्लवग्ग १२/१; पातिमोक्ख-निसग्ग पाचितिय १८
१२६. बुद्धिज्म इट्स कनेक्शन विद ब्राह्मणिज्म एण्ड हिन्दूइज्म, पृष्ठ ८१/८२ –मोनियर विलियम्स चौखम्बा, वाराणसी, १९६४ ई.
१२७. "जीवाजीवाभिगमो, आयारो चेव धम्मपन्नत्ती।
तत्तो चरित्तधम्मो, चरणे धम्मे अ एगट्ठा॥" –दशवैकालिकनिर्युक्ति ४/२३३
१२८. "आयप्पवायपुव्वा, निव्वूढा होइ धम्मपन्नत्ती।" –वही १/१६
१२९. आचारांग
१३०. पिण्डनिर्युक्ति, गाथा ६
१३१. (क) आयारचूला १/१४१-१४७
(ख) स्थानांग ७/५४५ वृत्ति, पत्र ३८६
(ग) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७३९-७४२
१३२. दशवैकालिक ५/१/२७; ५/१/५६
१३३. वही ५/१/२५
१३४. वही ५/१/३९
१३५. वही ५/१/४७
१३६. "णवकोडि परिसुद्धे भिक्खे पण्णत्ते ..... !" –स्थानांग ९/३
१३७. उत्तराध्ययन २/२८
१३८. स्थानांग ९/६२
१३९. निशीथ, उद्देशक १२
१४०. आचारचूला १/२१
१४१. भगवती ७/१
१४२. दशवैकालिक, अध्ययन ५
१४३. उत्तराध्ययन २६/३३
१४४. "धम्मस्स फलं मोक्खो, सासयमउलं सिवं अणाबाहं।
तमभिप्पेया साहू, तम्हा धम्मत्थकाम त्ति॥" –दशवैकालिकनिर्युक्ति २६५

१४५. "जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एगं वत्थ धारिज्जा नो बीयं।" —आयारचूला ५/२

१४६. "एगयाऽचेलए होई, सचेले आवि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए॥" —उत्तराध्ययन २/१३

१४७. "उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले।" —आचारांग ८/५०-५३

१४८. "पिण्डः शय्या वस्त्रैषणादि, पात्रैषणादि यच्चान्यत्।
कल्याकल्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम्॥" —प्रशमरति प्रकरण १३८

१४९. "किंचिच्छुद्धं कल्यमकल्यं, स्यादकल्यमपि कल्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भैषजाद्यं वा॥" —वही १४५

१५०. "अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य च
उद्गमोत्पादनैषणादोष वर्जनम्—एषणासमितिः।" —तत्त्वार्थभाष्य ९/५

१५१. "तिविहे परिग्गहे पं. तं.—कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, बाहिरभंडमत्तपरिग्गहे।" —स्थानांग ३/९५

१५२. दशवैकालिक

१५३. वही

१५४. वही

१५५. धम्मपद ३६३

१५६. मनुस्मृति ६/४६

१५७. महाभारत, शान्तिपर्व १०९/१५-१९

१५८. "सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।" —दशवैकालिकनिर्युक्ति १७

१५९. आचारांग २/१५/१/१८०

१६०. सूत्रकृतांग १/८/१/११६

१६१. धम्मपद ३६०-३६१

१६२. श्रीमद्भगवद्गीता २/६१

१६३. वही २/५९; ६४

१६४. अभिधानराजेन्द्रकोष, खण्ड ३, पृष्ठ ३९५

१६५. स्थानांग २/२

१६६. विशेषावश्यकभाष्य २६६८-२६७१

१६७. भगवतीसूत्र १२/५/२

१६८. दशवैकालिक ८/३७

१६९. वही ८/३८

१७०. योगशास्त्र ४/१०/१८

१७१. दशवैकालिक ८/३९
१७२. नियमसार ११५
१७३. योगशास्त्र ४/२३
१७४. धम्मपद २२३
१७५. महाभारत, उद्योगपर्व ३९/४२
१७६. धम्मपद २२१-२२२
१७७. सुत्तनिपात ६/१४
१७८. वही ७/१
१७९. वही ४०/१३/१
१८०. छान्दोग्य-उपनिषद् ७/२६/२
१८१. महाभारत, शान्तिपर्व २४४/३
१८२. श्रीमद्भगवद्गीता १६/४
१८३. वही १६/१८
१८४. "तम्हा उ अप्पसत्थं, पणिहाणं उज्झिऊण समणेणं।
पणिहाणंमि पसत्थे, भणिओ 'आयारपणिहि' त्ति॥" –दशवैकालिकनिर्युक्ति ३०८
१८५. दशवैकालिक ८/६१
१८६. "विणओ वि तवो तवो वि धम्मो, तम्हा विणओ पउंजियव्वो।"
–प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ३/५
१८७. सूत्रकृतांग १/१२/१
१८८. प्रवचनसारोद्धार सटीक, उत्तरार्द्ध, पत्र ३४४
१८९. (क) तत्त्वार्थराजवार्तिक ८/१, पृष्ठ ५६२
(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ४४४
१९०. ज्ञातासूत्र ५
१९१. उत्तराध्ययन १/२९
१९२. वही १/२७
१९३. वही १/९
१९४. भगवती २५/७
१९५. स्थानांगसूत्र ७/१३०
१९६. औपपातिक, तपवर्णन
१९७. "आसातणा णामं नाणादिआयस्स सातणा।"
–आवश्यकचूर्णि (आचार्य जिनदासगणी)
१९८. "असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।" –दशवैकालिक ९/२/२२
१९९. "समाधानं समाधिः–परमार्थतः आत्मनो हितं सुखं स्वास्थ्यम्।"
–दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र २५६

२००. "जं विणयसमारोवणं विणयेण वा जं गुणाण समाधाणं एस विणयसमाधी भवतीति।" —दशवैकालिक अगस्त्यसिंहचूर्णि

२०१. दशवैकालिकनिर्युक्ति १७

२०२. अष्टक प्रकरण ५/१

२०३. "सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथापरा।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता।" —अष्टक प्रकरण ५/१

२०४. सूत्रकृतांग १/१६/३

२०५. अभिधानराजेन्द्रकोष, खण्ड ४, पृष्ठ २१६१

२०६. (क) वही, खण्ड ६, पृष्ठ ४६७
(ख) "यदुदयाद्विषयादिष्वौत्सुक्यं सा रतिः।" —सर्वार्थसिद्धि ८-९

२०७. दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र २८०

२०८. मनुस्मृति ६/८९

२०९. "ज्येष्ठाश्रमो गृही।" —महाभारत, शान्तिपर्व २३/५

२१०. "बंधे गिहवासे।
मोक्खे परियाए॥" —दशवैकालिक, चूलिका प्रथम, १२

२११. उत्तराध्ययन २४/२

२१२. नियमसार ६७

२१३. उत्तराध्ययन २४/२३

२१४. वही २४/२४-२५

२१५. नियमसार ६८

२१६. सुत्तनिपात ४/३

२१७. अंगुत्तरनिकाय ३/११८

२१८. वही ३/१२०

२१९. दक्षस्मृति ७/२७-३१

२२०. "वासी-चंदणकप्पो, जो मरणे जीविए य समसण्णो।
देहे य अपडिबद्धो, काउस्सग्गो हवइ तस्स॥" —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५४८

२२१. "सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति, दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाणं।" —आवश्कचूर्णि

२२२. "काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं।" —उत्तराध्ययन २६/४९

२२३. "सूत्रार्थयोः परस्परं नियोजनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः।"
—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ८३

२२४. उत्तराध्ययन की भूमिका, पृष्ठ ५०-५१

२२५. Indian Historical Quarterly, Vol. 12, Page 270

२२६. "दशवैकालिकस्य च निर्युक्तिश्चतुर्दशपूर्वविदा भद्रबाहुस्वामिना कृता, तत्र पिण्डैषणाभिधपञ्चमाध्ययन निर्युक्तिरति-प्रभूतग्रन्थत्वात् पृथक् शास्त्रान्तरमिव व्यवस्थापिता तस्याश्च पिण्डनिर्युक्तिरिति नामकृतं ..... अतएव चादावत्र नमस्कारोऽपि न कृतो दशवैकालिकनिर्युक्त्यन्तरगतत्वेन शेषा तु निर्युक्तिर्दशवैकालिकनिर्युक्तिरिति स्थापिता।"

२२७. दशवैकालिक, गाथा १३७-१४८

२२८. वही, गाथा १५२-१५७

२२९. वही, गाथा १६१-१६३

२३०. वही, गाथा, १६६-१७७

२३१. वही, गाथा १८८-२१५

२३२. वही, गाथा २२३-२२४

२३३. वही, गाथा २३१

२३४. वही, गाथा २३४-२४४

२३५. वही, गाथा २५०-२६२

२३६. वही, गाथा २६९-२७०, २७३-२७६, २८६

२३७. वही, गाथा २९३-२९४

२३८. वही, गाथा ३०९-३२२

२३९. वही, गाथा ३४५-३४७

२४०. (क) "भाष्यकृता पुनरुपन्यस्त इति।" **–दशवैकालिक हारिभद्रीया टीका, पद ६४**

(ख) "आह च भाष्यकारः।" **–वही, पद १२०**

(ग) "व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेयः।" **–वही, पद १२८**

२४१. "तामेव निर्युक्तिगाथां लेशतो व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः। एतदपि नित्यत्वादिप्रसाधकमिति निर्युक्ति गाथायामनुपन्यस्तमप्युक्तं सूक्ष्मधिया भाष्यकारेणेति गाथार्थः।" **–वही, पद १३२**

२४२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ६, आमुख, पृष्ठ ४

२४३. विभाषा शब्द का अर्थ देखें–'शाकटायन-व्याकरण', प्रस्तावना, पृष्ठ ६९ (प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)

२४४. "दशवैकालिकटीकायां श्री विजयोदयायां प्रपञ्चिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते।" **–भगवती आराधना टीका, विजयोदया, गाथा ११९५**

२४५. दशवैकालिक अगस्त्यसिंहचूर्णि २-२९, ३-५, १६-९, २५-५, ६४-४, ७८-२९, ८१-३४, १००-२५ आदि

२४६. "सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलका चार्यजिनदत्त-शिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरोसूनोः अल्पमतेः आचार्यहरिभद्रस्य।"

–आवश्यकनिर्युक्ति, टीका का अन्त

अनुयोगद्वारसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अनुयोगद्वारसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्यात्म और विज्ञान

अतीतकाल से ही मानव-जीवन के साथ अध्यात्म और विज्ञान का अत्यन्त गहरा सम्बन्ध रहा है। ये दोनों सत्य के अन्तस्तल को समुद्घाटित करने वाली दिव्य और भव्य दृष्टियाँ हैं। अध्यात्म आत्मा का विज्ञान है। वह आत्मा के शुद्ध और अशुद्ध स्वरूप का, बंध और मोक्ष का, शुभ और अशुभ परिणतियों का, ह्रास और विकास का गम्भीर व गहन विश्लेषण है तो विज्ञान भौतिक प्रकृति की गुरु गम्भीर ग्रन्थियों को सुलझाने का महत्त्वपूर्ण साधन है। उसने मानव के तन, मन और इन्द्रियों के संरक्षण व संपोषण के लिए विविध आयाम उपस्थित किए हैं। जीवन की अखण्ड सत्ता के साथ दोनों का मधुर सम्बन्ध है। अध्यात्म जीवन की अन्तरंग धारा का प्रतिनिधित्व करता है तो विज्ञान बहिरंग धारा का नेतृत्व करता है।

अध्यात्म का विषय है–जीवन के अन्तःकरण, अन्तश्चैतन्य एवं आत्म-तत्त्व का विवेचन व विश्लेषण करना। आत्मा के विशोधन व ऊर्ध्वीकरण करने की प्रक्रिया प्रस्तुत करना। जीव और जगत्, आत्मा और परमात्मा, व्यक्ति और समाज प्रभृति के शाश्वत तथ्यपरक सत्य का दिग्दर्शन करना। जबकि विज्ञान का क्षेत्र है प्रकृति के अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक का प्रयोगात्मक अनुसन्धान करना। अध्यात्म योग है तो विज्ञान प्रयोग है। अध्यात्म मन, वचन और काया की प्रशस्त शक्तियों को केन्द्रित कर मानव-चेतना को विकसित करने वाली निर्भय और निर्द्वन्द्व बनाने की दिव्य व भव्य दृष्टि प्रदान करता है। वह विवेक के तृतीय नेत्र को उद्घाटित कर काम और विकारों को भस्म करता है। जबकि विज्ञान नित्य नई भौतिक सुख-सुविधाओं को समुपलब्ध कराने में अपूर्व सहयोग देता है। विज्ञान के फलस्वरूप ही मानव अनन्त आकाश में पक्षियों की भाँति उड़ानें भरने लगा है, मछलियों की भाँति अनन्त सागर की गहराई से जाने लगा है और पृथ्वी पर द्रुतगामी साधनों से गमन करने लगा है। विद्युत् के दिव्य चमत्कारों से कौन चमत्कृत नहीं है !

अध्यात्म अन्तर्मुख है तो विज्ञान बहिर्मुख है। अध्यात्म अन्तरंग जीवन को सजाता है, सँवारता है तो विज्ञान बहिरंग जीवन को विकसित करता है। बहिरंग जीवन में किसी भी प्रकार की विशृंखलता नहीं आये, द्वन्द्व समुत्पन्न न हों, इसलिए अन्तरंग दृष्टि की आवश्यकता है एवं अन्तरंग जीवन को समाधियुक्त बनाने के लिए बहिरंग का सहयोग भी अपेक्षित है। बिना बहिरंग सहयोग के अन्तरंग जीवन विकसित नहीं हो सकता। मूलतः अध्यात्म और विज्ञान परस्पर विरोधी नहीं हैं। उनमें किसी प्रकार का विरोध और द्वन्द्व नहीं है। वे एक-दूसरे के पूरक हैं, जीवन की अखण्डता के लिए दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है।

अध्यात्म का प्रतिनिधि आगम

जैन आगम आध्यात्मिक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले चिन्तन का अद्भुत व अनूठा संग्रह है, संकलन है। आगम शब्द बहुत ही पवित्र और व्यापक अर्थगरिमा को अपने आप में समेटे हुए है। स्थूल दृष्टि से भले ही आगम और ग्रन्थ पर्यायवाची शब्द रहे हों पर दोनों में गहरा अन्तर है। आगम 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की साक्षात् अनुभूति की अभिव्यक्ति है। वह अनन्त सत्य के द्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग तीर्थंकरों की विमल वाणी का संकलन-आकलन है। जबकि ग्रन्थों व पुस्तकों के लिए यह निश्चित नियम नहीं है। वह राग-द्वेष के दलदल में फँसे हुए विषय-कषाय की आग में झुलसते हुए, विकार और वासनाओं से संत्रस्त व्यक्ति के विचारों का संग्रह भी हो सकता है। उसमें कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान भी हो सकती है पर वह केवल वाणी का विलास है, शब्दों का आडम्बर है, किन्तु उसमें अन्तरंग की गहराई नहीं है।

जैन आगम में सत्य का साक्षात् दर्शन है जो अखण्ड है, सम्पूर्ण व समग्र मानव-चेतना को संस्पर्श करता है। सत्य के साथ शिव का मधुर सम्बन्ध होने से वह सुन्दर ही नहीं, अतिसुन्दर है। वह आर्ष वाणी तीर्थंकर या ऋषियों की वाणी है। यास्क ने ऋषि की परिभाषा करते हुए लिखा है–"जो सत्य का साक्षात् द्रष्टा है, वह ऋषि है।"[1] प्रत्येक साधक ऋषि नहीं बन सकता, ऋषि वह है जिसने तीक्ष्ण प्रज्ञा, तर्कशुद्ध ज्ञान से सत्य की स्पष्ट अनुभूति की है।[2] यही कारण है कि वेदों में ऋषि को मंत्रद्रष्टा कहा है। मंत्रद्रष्टा का अर्थ है–साक्षात् सत्यानुभूति पर आधृत शिवत्व का प्रतिपादन करने वाला सर्वथा मौलिक ज्ञान। वह आत्मा पर आई हुई विभाव परिणतियों के कालुष्य को दूर कर केवलज्ञान और केवलदर्शन

से स्व-स्वरूप को आलोकित करता है। जो यथार्थ सत्य का परिज्ञान करा सकता है, आत्मा का पूर्णतया परिबोध करा सके, जिससे आत्मा पर अनुशासन किया जा सके, वह आगम है। उसे दूसरे शब्दों में शास्त्र और सूत्र भी कह सकते हैं।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में लिखा है–जिसके द्वारा यथार्थ सत्य रूप ज्ञेय का, आत्मा का परिबोध हो एवं आत्मा का अनुशासन किया जा सके, वह शास्त्र है।[३] शास्त्र शब्द शास् धातु से निर्मित हुआ है, जिसका अर्थ है–शासन, शिक्षण और उद्‌बोधन। जिस तत्त्वज्ञान से आत्मा अनुशासित हो, उद्‌बुद्ध हो, वह शास्त्र है; जिससे आत्मा जागृत होकर तप, क्षमा एवं अहिंसा की साधना में प्रवृत्त होती है, वह शास्त्र है और जो केवल गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वी के द्वारा कहा गया है, वह सूत्र है।[४] दूसरे शब्दों में जो ग्रन्थ प्रमाण से अल्प अर्थ की अपेक्षा महान् बत्तीस दोषों से रहित, लक्षण तथा आठ गुणों से सम्पन्न होता हुआ सारवान् अनुयोगों से सहित, व्याकरणविहित, निपातों से रहित, अनिंद्य और सर्वज्ञ कथित है, वह सूत्र है।[५]

इस सन्दर्भ में यह समझना आवश्यक है कि आगम कहो, शास्त्र कहो या सूत्र कहो, सभी का एक ही प्रयोजन है। वे प्राणियों के अन्तर्मानस को विशुद्ध बनाते हैं। इसलिए आचार्य हरिभद्र ने कहा–जैसे जल वस्त्र की मलिनता का प्रक्षालन करके उसको उज्ज्वल बना देता है, वैसे ही शास्त्र भी मानव के अन्तःकरण में स्थित काम, क्रोध आदि कालुष्य का प्रक्षालन करके उसे पवित्र और निर्मल बना देता है।[६] जिससे आत्मा का सम्यक् बोध हो, आत्मा अहिंसा, संयम और तपःसाधना के द्वारा पवित्रता की ओर गति करे, वह तत्त्वज्ञान शास्त्र है, आगम है।

आगम भारतीय साहित्य की मूल्यवान निधि है। डॉ. हरमन जैकोबी, डॉ. शुब्रिंग प्रभृति अनेक पाश्चात्य मूर्धन्य मनीषियों ने जैन आगम-साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन कर इस सत्य-तथ्य को स्वीकार किया है कि विश्व को अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद के द्वारा सर्वधर्म-समन्वय का पुनीत पाठ पढ़ाने वाला यह सर्वश्रेष्ठतम साहित्य है।

आगम-साहित्य बहुत ही विराट् और व्यापक है। समय-समय पर उसके वर्गीकरण किये गए हैं। प्रथम वर्गीकरण पूर्व और अंग के रूप में हुआ।[७] *द्वितीय वर्गीकरण अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के रूप में किया गया।*[८] *तृतीय*

वर्गीकरण आर्यरक्षित ने अनुयोगों के आधार पर किया है। उन्होंने सम्पूर्ण आगम-साहित्य को चार अनुयोगों में बाँटा है।[९]

अनुयोग शब्द पर चिन्तन करते हुए प्राचीन साहित्य में लिखा है–"अणुओयणमणुयोगो।"–अनुयोजन को अनुयोग कहा है।[१०] 'अनुयोजन' यहाँ पर जोड़ने व संयुक्त करने के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। जिससे एक-दूसरे को सम्बन्धित किया जा सके।[११] इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है–जो भगवत् कथन से संयोजित करता है, वह 'अनुयोग' है। अभिधानराजेन्द्रकोष में लिखा है–लघु सूत्र के साथ महान् अर्थ का योग करना अनुयोग है।[१२]

अनुयोग शब्द : एक चिन्तन

अनुयोग शब्द 'अनु' और 'योग' के संयोग से निर्मित हुआ है। अनु उपसर्ग है। यह अनुकूल अर्थवाचक है। सूत्र के साथ अनुकूल, अनुरूप या सुसंगत संयोग अनुयोग है। बृहत्कल्प[१३] में लिखा है कि अनु का अर्थ पश्चाद्भाव या स्तोक है। उस दृष्टि से अर्थ के पश्चात् जायमान या स्तोक सूत्र के साथ जो योग है, वह अनुयोग है। आचार्य मलयगिरि[१४] के अनुसार अर्थ के साथ सूत्र की जो अनुकूल योजना की जाती है, उसका नाम अनुयोग है। अथवा सूत्र का अपने अभिधेय में जो योग होता है, वह अनुयोग है। यही बात आचार्य हरिभद्र,[१५] आचार्य अभयदेव,[१६] आचार्य शान्तिचन्द[१७] ने लिखी है। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का भी यही अभिमत है।[१८]

जैन आगम-साहित्य में अनुयोग के विविध भेद-प्रभेद हैं। नन्दी में आचार्य देववाचक ने अनुयोग के दो विभाग किये हैं। वहाँ पर दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका ये पाँच भेद किये गये हैं।[१९] उसमें 'अनुयोग' चतुर्थ है। अनुयोग के 'मूल प्रथमानुयोग' और 'गण्डिकानुयोग' ये दो भेद किए गए हैं।[२०]

मूल प्रथमानुयोग क्या है? इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए आचार्य ने कहा–"मूल प्रथमानुयोग में अर्हत् भगवान को सम्यक्त्व-प्राप्ति के भव से पूर्वभव, *देवलोकगमन, आयुष्य, च्यवन, जन्म, अभिषेक, राज्यश्री, प्रव्रज्या, तप,* केवलज्ञान की उत्पत्ति, तीर्थ-प्रवर्तन, शिष्य-समुदाय, गण-गणधर, आर्यिकाएँ, प्रवर्तिनी, चतुर्विध संघ का परिमाण, सामान्य केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, सम्यक् श्रुतज्ञानी, वादी, अनुत्तर विमान में गये हुए मुनि,

उत्तरवैक्रियधारी मुनि, सिद्ध अवस्था प्राप्त मुनि, पादपोपगमन अनशन को प्राप्त कर जो जिस स्थान पर जितने भक्त का अनशन कर अन्तकृत् हुए। अज्ञान-रज से विप्रमुक्त हो जो मुनिवर अनुत्तर सिद्धि मार्ग को प्राप्त हुए उनका वर्णन है। इसके अतिरिक्त इन्हीं प्रकार के अन्य भाव, जो अनुयोग में कथित हैं, वह 'प्रथमानुयोग' है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं–"प्रथमानुयोग में सम्यक्त्व-प्राप्ति से लेकर तीर्थ-प्रवर्तन और मोक्षगमन तक का वर्णन है।"[२१]

दूसरा गण्डिकानुयोग है। गण्डिका का अर्थ है–समान वक्तव्यता से अर्थाधिकार का अनुसरण करने वाली वाक्य-पद्धति; और अनुयोग अर्थात् अर्थ प्रकट करने की विधि। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है–इक्षु के मध्य भाग की गण्डिका सदृश एकार्थ का अधिकार यानि ग्रन्थ-पद्धति। गण्डिकानुयोग के अनेक प्रकार हैं–[२२]

(१) कुलकर गण्डिकानुयोग–विमलवाहन आदि कुलकरों की जीवनियाँ।

(२) तीर्थंकर गण्डिकानुयोग–तीर्थंकर प्रभु की जीवनियाँ।

(३) गणधर गण्डिकानुयोग–गणधरों की जीवनियाँ।

(४) चक्रवर्ती गण्डिकानुयोग–भरतादि चक्रवर्ती राजाओं की जीवनियाँ।

(५) दशार्ह गण्डिकानुयोग–समुद्रविजय आदि दशार्हों की जीवनियाँ।

(६) बलदेव गण्डिकानुयोग–राम आदि बलदेवों की जीवनियाँ।

(७) वासुदेव गण्डिकानुयोग–कृष्ण आदि वासुदेवों की जीवनियाँ।

(८) हरिवंश गण्डिकानुयोग–हरिवंश में उत्पन्न महापुरुषों की जीवनियाँ।

(९) भद्रबाहु गण्डिकानुयोग–भद्रबाहु स्वामी की जीवनी।

(१०) तपःकर्म गण्डिकानुयोग–तपस्या के विविध रूपों का वर्णन।

(११) चित्रान्तर गण्डिकानुयोग–भगवान ऋषभ तथा अजित के अन्तर समय में उनके वंश के सिद्ध या सर्वार्थसिद्ध में गये हैं, उनका वर्णन।

(१२) उत्सर्पिणी गण्डिकानुयोग–उत्सर्पिणी काल का विस्तृत वर्णन।

(१३) अवसर्पिणी गण्डिकानुयोग–अवसर्पिणी काल का विस्तृत वर्णन।

देव, मानव, तिर्यंच और नरक गति में गमन करना, विविध प्रकार से पर्यटन करना आदि का अनुयोग 'गण्डिकानुयोग' में है। जैसे–वैदिक परम्परा में विशिष्ट व्यक्तियों का वर्णन पुराण-साहित्य में हुआ है, वैसे ही जैन परम्परा

में महापुरुषों का वर्णन गण्डिकानुयोग में हुआ है। गण्डिकानुयोग की रचना समय-समय पर मूर्धन्य मनीषी तथा आचार्यों ने की। पंचकल्पचूर्णि[२३] के अनुसार कालकाचार्य ने गण्डिकाएँ रची थीं, पर उन गण्डिकाओं को संघ ने स्वीकार नहीं किया। आचार्य ने संघ से निवेदन किया–मेरी गण्डिकाएँ क्यों स्वीकृत नहीं की गई हैं? उन गण्डिकाओं में रही हुई त्रुटियाँ बतायी जायें, जिससे उनका परिष्कार किया जा सके। संघ के बहुश्रुत आचार्यों ने उन गण्डिकाओं का गहराई से अध्ययन किया और उन्होंने उन पर प्रामाणिकता की मुद्रा लगा दी। इससे यह स्पष्ट है–कालकाचार्य-जैसे प्रकृष्ट प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य की गण्डिकाएँ भी संघ द्वारा स्वीकृत होने पर ही मान्य की जाती थीं। इससे गण्डिकाओं की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

अनुयोग का अर्थ व्याख्या है। व्याख्येय वस्तु के आधार पर अनुयोग के चार विभाग किये गये हैं–चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग।[२४] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ द्रव्यसंग्रह की टीका[२५] में, पंचास्तिकाय[२६] में, तत्त्वार्थवृत्ति[२७] में इन अनुयोगों के नाम इस प्रकार मिलते हैं–प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग। श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में नाम और कर्म में कुछ अन्तर अवश्य है पर भाव सभी का एक-सा है।

चार भेद

श्वेताम्बर दृष्टि से सर्वप्रथम चरणानुयोग है।[२८] रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र[२९] ने चरणानुयोग की परिभाषा करते हुए लिखा है–गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के विधान करने वाले अनुयोग को चरणानुयोग कहते हैं। द्रव्यसंग्रह की टीका में लिखा है–उपासकाध्ययन आदि में श्रावक का धर्म और मूलाचार, भगवती आराधना आदि में यति का धर्म जहाँ मुख्यता से कहा गया है, वह चरणानुयोग है।[३०] बृहद्द्रव्यसंग्रह, अनगारधर्मामृत[३१] टीका आदि में भी चरणानुयोग की परिभाषा इसी प्रकार मिलती है। आचार-सम्बन्धी साहित्य चरणानुयोग में आता है।

जिनदासगणी महत्तर[३२] ने धर्मकथानुयोग की परिभाषा करते हुए लिखा है–सर्वज्ञोक्त अहिंसा आदि स्वरूप धर्म का जो कथन किया जाता है अथवा अनुयोग के विचार से जो धर्म-सम्बन्धी कथा कही जाती है, वह धर्मकथा है।

आचार्य हरिभद्र[३३] ने भी अनुयोगद्वार की टीका में अहिंसा लक्षणयुक्त धर्म का जो आख्यान है, उसे धर्मकथा कहा है। महाकवि पुष्पदन्त[३४] ने भी लिखा है–जो अभ्युदय, निःश्रेयस् की संसिद्धि करता है और सद्धर्म से जो निबद्ध है, वह सद्धर्मकथा है। धर्मकथानुयोग को ही दिगम्बर परम्परा में प्रथमानुयोग कहा है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार[३५] में लिखा है–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का परमार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान है, जिसमें एक पुरुष या त्रिषष्टि श्लाघनीय पुरुषों के पवित्र चरित्र में रत्नत्रय और ध्यान का निरूपण है, वह प्रथमानुयोग है।

गणितानुयोग गणित के माध्यम से जहाँ विषय को स्पष्ट किया जाता है, दिगम्बर परम्परा में इसके स्थान पर करणानुयोग यह नाम प्रचलित है। करणानुयोग का अर्थ है–लोक-अलोक के विभाग को, युगों के परिवर्तन को तथा चारों गतियों को दर्पण के सदृश प्रकट करने वाले सम्यक् ज्ञान को करणानुयोग कहते हैं।[३६] करण शब्द के दो अर्थ हैं–(१) परिणाम, और (२) गणित के सूत्र।

द्रव्यानुयोग–जो श्रुतज्ञान के प्रकाश में जीव-अजीव, पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष आदि तत्त्वों को दीपक के सदृश प्रकट करता है, वह द्रव्यानुयोग है।[३७] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में लिखा है[३८]–द्रव्य का द्रव्य में, द्रव्य के द्वारा अथवा द्रव्यहेतुक जो अनुयोग होता है, उसका नाम द्रव्यानुयोग है। इसके अतिरिक्त द्रव्य का पर्याय के साथ अथवा द्रव्य का द्रव्य के ही साथ जो योग (सम्बन्ध) होता है, वह भी द्रव्यानुयोग है। इसी तरह बहुवचन–द्रव्यों का द्रव्यों में भी समझना चाहिए।

आगम-साहित्य में कहीं संक्षेप से और कहीं विस्तार से इन अनुयोगों का वर्णन है। आर्य वज्र तक आगमों में अनुयोगात्मक दृष्टि से पृथक्ता नहीं थी। प्रत्येक सूत्र की चारों अनुयोगों द्वारा व्याख्या की जाती थी। आचार्य भद्रबाहु[३९] ने इस सम्बन्ध में लिखा है–कालिकश्रुत अनुयोगात्मक व्याख्या की दृष्टि से अपृथक् थे। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं–उनमें चरणकरणानुयोग प्रभृति अनुयोग चतुष्टय के रूप में अविभक्तता थी। आर्य वज्र के पश्चात् कालिकसूत्र और दृष्टिवाद की अनुयोगात्मक पृथक्ता (विभक्तता) की गई।

आचार्य मलयगिरि[४०] ने प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है–आर्य वज्र तक श्रमण तीक्ष्ण बुद्धि के धनी थे, अतः अनुयोग की दृष्टि से अविभक्त रूप से व्याख्या प्रचलित थी। प्रत्येक सूत्र में चरणकरणानुयोग आदि का

अविभागपूर्वक वर्तन था। मुख्यता की दृष्टि से निर्युक्तिकार ने यहाँ पर कालिकश्रुत को ग्रहण किया है अन्यथा अनुयोगों का कालिक-उत्कालिक आदि सभी में अविभाग था।[४१]

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने इस सम्बन्ध में विश्लेषण करते हुए लिखा है– आर्य वज्र तक जब अनुयोग अपृथक् थे तब एक ही सूत्र की चारों अनुयोगों के रूप में व्याख्या होती थी।

अनुयोगों का विभाग कर दिया जाय, उनकी पृथक्-पृथक् छँटनी कर दी जाय तो वहाँ उस सूत्र में चारों अनुयोग व्यवच्छिन्न हो जायेंगे। इन प्रश्न का समाधान करते हुए भाष्यकार ने लिखा है–जहाँ किसी एक सूत्र की व्याख्या चारों अनुयोगों में होती थी, वहाँ चारों में से अमुक अनुयोग के आधार पर व्याख्या करने का यहाँ पर अभिप्राय है।

आर्य रक्षित से पूर्व अपृथक्त्वानुयोग प्रचलित था, उसमें प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से की जाती थी। यह व्याख्या-पद्धति बहुत ही क्लिष्ट और स्मृति की तीक्ष्णता पर अवलम्बित थी। आर्य रक्षित के (१) दुर्बलिका पुष्यमित्र, (२) फल्गुरक्षित, (३) विन्ध्य, और (४) गोष्ठामाहिल ये चार प्रमुख शिष्य थे। विन्ध्य मुनि महान् प्रतिभा-सम्पन्न शीघ्रग्राही मनीषा के धनी थे। आर्य रक्षित शिष्य-मण्डली को आगम वाचना देते, उसे विन्ध्य मुनि उसी क्षण ग्रहण कर लेते थे। अतः उनके पास अग्रिम अध्ययन के लिए बहुत-सा समय अवशिष्ट रहता। उन्होंने आर्य रक्षित से प्रार्थना की–"मेरे लिए अध्ययन की पृथक् व्यवस्था करें।" आचार्य ने प्रस्तुत महनीय कार्य के लिए महामेधावी दुर्बलिका पुष्यमित्र को नियुक्त किया। अध्यापनरत दुर्बलिका पुष्यमित्र ने कुछ समय के पश्चात् आर्य रक्षित से निवेदन किया– "आर्य विन्ध्य को आगम वाचना देने से मेरे पठित पाठ के पुनरावर्तन में बाधा उपस्थित होती है। इस प्रकार की व्यवस्था से मेरी अधीत पूर्वज्ञान की राशि विस्मृत हो जायेगी।" आर्य रक्षित ने सोचा–'महामेधावी शिष्य की भी यह स्थिति है तो आगम ज्ञान का सुरक्षित रहना बहुत ही कठिन है।' दूरदर्शी आर्य रक्षित ने गम्भीरता से चिन्तन कर जटिल व्यवस्था को सरल बनाने हेतु आगम अध्ययन क्रम को चार अनुयोगों में विभक्त किया।[४२]

यह महत्त्वपूर्ण कार्य दशपुर में वीर निर्माण संवत् ५९२, विक्रम संवत् १२२ के आसपास सम्पन्न हुआ था। यह वर्गीकरण विषय सादृश्य की दृष्टि से

किया गया है। प्रस्तुत वर्गीकरण करने के बावजूद भी यह भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती कि अन्य आगमों में अन्य अनुयोगों का वर्णन नहीं है। उदाहरण के रूप में, उत्तराध्ययनसूत्र में धर्मकथा के अतिरिक्त दार्शनिक तथ्य भी पर्याप्त मात्रा में है। भगवतीसूत्र तो अनेक विषयों का विराट् सागर है। आचारांग आदि में भी अनेक विषयों की चर्चाएँ हैं। कुछ आगमों को छोड़कर अन्य आगमों में चारों अनुयोगों का सम्मिश्रण है। यह जो वर्गीकरण हुआ है वह स्थूल दृष्टि को लेकर हुआ है। व्याख्या-क्रम की दृष्टि से यह वर्गीकरण अपृथक्त्वानुयोग और पृथक्त्वानुयोग के रूप में दो प्रकार का है।

हम यहाँ पर चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग, द्रव्यानुयोग और धर्मकथानुयोग पर चिन्तन न कर केवल अनुयोगद्वारसूत्र पर चिन्तन करेंगे। मूल आगमों में नन्दी के पश्चात् अनुयोगद्वार का नाम आता है। नन्दी और अनुयोगद्वार ये दोनों आगम चूलिका के सूत्र के नाम से पहचाने जाते हैं। चूलिका शब्द का प्रयोग उन अध्ययनों या ग्रन्थों के लिए होता है जिनमें अवशिष्ट विषयों का वर्णन या वर्णित विषयों का स्पष्टीकरण किया गया हो।

दशवैकालिक और महानिशीथ के अन्त में भी चूलिकाए-चूलाए-चूड़ाए प्राप्त होती है। चूलिकाओं को वर्तमान युग की भाषा में ग्रन्थ का परिशिष्ट कह सकते हैं। नन्दी और अनुयोगद्वार भी आगम-साहित्य के अध्ययन के लिए परिशिष्ट का कार्य करते हैं। जैसे पाँच ज्ञानरूप नन्दी मंगलस्वरूप है वैसे ही अनुयोगद्वारसूत्र भी समग्र आगमों को और उसकी व्याख्याओं को समझने में कुंजी सदृश है। ये दोनों आगम एक-दूसरे के परिपूरक हैं। आगमों के वर्गीकरण में इनका स्थान चूलिका में है। जैसे भव्य मन्दिर शिखर से अधिक शोभा पाता है वैसे ही आगम मन्दिर भी नन्दी और अनुयोगद्वार रूप शिखर से अधिक जगमगाता है।

हम पूर्व पंक्तियों में यह बता चुके हैं—अनुयोग का अर्थ व्याख्या या विवेचन है। भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति में अनुयोग के अनुयोग-नियोग, भाषा-विभाषा और वार्तिक ये पर्याय बताये हैं।[४३] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य[४४] में, संघदासगणी ने बृहत्कल्पभाष्य[४५] में इन सभी पर्यायों का विवरण प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि जो पर्याय दिये गये हैं, वे सभी पर्याय पूर्ण रूप से एकार्थक नहीं हैं, किन्तु अनुयोगद्वार के जो विविध प्रकार हैं, उन्हें ही पर्याय लिखने में आया है।[४६]

आगम-प्रभावक श्री पुण्यविजय जी म. ने अपनी अनुयोगद्वार की विस्तृत प्रस्तावना में अंग-साहित्य में अनुयोग की चर्चा कहाँ-कहाँ पर आई है, इस पर प्रमाण पुरस्सर प्रकाश डाला है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि श्रमण भगवान महावीर के समय सूत्र की जो व्याख्या-पद्धति थी उसी व्याख्या-पद्धति का विकसित और परिपक्व रूप हमें अनुयोगद्वारसूत्र में सहज रूप से निहारने को मिलता है। उसके पश्चात् लिखे गये जैन आगमों के व्याख्या-साहित्य में अनुयोगद्वार की शैली अपनाई गई। श्वेताम्बर ग्रन्थों में ही नहीं दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में भी इस शैली के सुन्दर संदर्शन होते हैं।

अनुयोगद्वार में द्रव्यानुयोग की प्रधानता है। उसमें चार द्वार हैं, १,८९९ श्लोक-प्रमाण उपलब्ध मूल पाठ हैं, १५२ गद्य-सूत्र हैं और १४३ पद्य-सूत्र हैं।

आवश्यक वर्णन

अनुयोगद्वार में प्रथम पंचज्ञान से मंगलाचरण किया गया है। उसके पश्चात् आवश्यक-अनुयोग का उल्लेख है। इससे पाठक को सहज ही यह अनुमान होता है कि इसमें आवश्यकसूत्र की व्याख्या होगी, पर ऐसा नहीं है। इसमें अनुयोग के द्वार अर्थात् व्याख्याओं के द्वार उपक्रम आदि का ही विवेचन किया गया है। विवेचन या व्याख्या-पद्धति कैसी होनी चाहिए, यह बताने के लिए आवश्यक को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत सूत्र में केवल आवश्यक, श्रुत, स्कन्ध, अध्ययन नामक ग्रन्थ की व्याख्या, उसके छह अध्ययनों में पिण्डार्थ (अर्थाधिकार का निर्देश), उनके नाम और सामायिक शब्द की व्याख्या दी है। आवश्यकसूत्र के पदों की व्याख्या नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अनुयोगद्वार मुख्य रूप से अनुयोग की व्याख्याओं के द्वारों का निरूपण करने वाला ग्रन्थ है–आवश्यकसूत्र की व्याख्या करने वाला नहीं।

आगम-साहित्य में अंगों के पश्चात् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान आवश्यकसूत्र को दिया गया है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में निरूपित सामायिक से ही श्रमण-जीवन का प्रारम्भ होता है। प्रतिदिन प्रातः सन्ध्या के समय श्रमण-जीवन की जो आवश्यक क्रिया है इसकी शुद्धि और आराधना का निरूपण इसमें है। अतः अंगों के अध्ययन से पूर्व आवश्यक का अध्ययन आवश्यक माना गया है। एतदर्थ ही आवश्यक की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा प्रस्तुत सूत्र में की है। व्याख्या के रूप में भले ही सम्पूर्ण ग्रन्थ की व्याख्या न हो, केवल ग्रन्थ के नाम के पदों की व्याख्या की गई हो, तथापि व्याख्या की

जिस पद्धति को इसमें अपनाया गया है वही पद्धति सम्पूर्ण आगमों की व्याख्या में भी अपनाई गई है। यदि यह कह दिया जाय कि आवश्यक की व्याख्या के बहाने से ग्रन्थकार ने सम्पूर्ण आगमों के रहस्यों को समझाने का प्रयास किया है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आगम के प्रारम्भ में आभिनिबोधिक आदि पाँच ज्ञानों का निर्देश करके श्रुतज्ञान का विस्तार से निरूपण किया है। क्योंकि श्रुतज्ञान का उद्देश (पढ़ने की आज्ञा), समुद्देश (पढ़े हुए का स्थिरीकरण), अनुज्ञा (अन्य को पढ़ाने की आज्ञा) एवं अनुयोग (विस्तार से व्याख्यान) होता है; जबकि शेष चार ज्ञानों का नहीं होता। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के उद्देशादि होते हैं वैसे ही कालिक, उत्कालिक और आवश्यकसूत्र के भी होते हैं।

सर्वप्रथम यह चिन्तन किया गया है कि आवश्यक एक अंगरूप है या अनेक अंगरूप? एक श्रुतस्कन्ध है या अनेक श्रुतस्कन्ध? एक अध्ययनरूप है या अनेक अध्ययनरूप? एक उद्देशनरूप है या अनेक उद्देशनरूप? समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि आवश्यक न एक अंगरूप है, न अनेक अंगरूप, वह एक श्रुतस्कन्ध है और अनेक अध्ययनरूप है। उसमें न एक उद्देश है न अनेक। आवश्यक श्रुतस्कन्धाध्ययन का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आवश्यक, श्रुत, स्कन्ध और अध्ययन इन चारों का पृथक्-पृथक् निक्षेप किया गया है। आवश्यक निक्षेप चार प्रकार का है–नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। किसी का भी आवश्यक यह नाम रख देना नाम-आवश्यक है।

किसी वस्तु की आवश्यक के रूप में स्थापना करने का नाम स्थापना-आवश्यक है। स्थापना-आवश्यक के चालीस प्रकार हैं–काष्ठकर्मजन्य, चित्रकर्मजन्य, वस्त्रकर्मजन्य, लेप्यकर्मजन्य, ग्रंथिकर्मजन्य, वेष्टकर्मजन्य, पूरिकर्मजन्य (धातु आदि को पिघलाकर साँचे में ढालना), संघातिकर्मजन्य (वस्त्रादि के टुकड़े जोड़ना), अक्षकर्मजन्य (पासा) और वराटककर्मजन्य (कौड़ी)। इनसे प्रत्येक के दो भेद हैं–एक रूप और अनेक रूप। पुनः सद्भाव-स्थापना और असद्भाव-स्थापना रूप दो भेद हैं। इस तरह स्थापना-आवश्यक के चालीस भेद होते हैं।

द्रव्य-आवश्यक के आगमतः और नोआगमतः ये दो भेद हैं। आवश्यकपद स्मरण कर लेना और उसका निर्दोष उच्चारणादि करना आगमतः द्रव्य-आवश्यक है। इसका विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए सप्तनय की दृष्टि से

द्रव्यावश्यक पर चिन्तन किया है। नोआगमतः द्रव्यावश्यक का तीन दृष्टियों से चिन्तन किया गया है। वे दृष्टियाँ हैं–ज्ञशरीर, भव्यशरीर और तद्व्यतिरिक्त। आवश्यकपद के अर्थ को जानने वाले व्यक्ति के प्राणरहित शरीर को ज्ञशरीर द्रव्यावश्यक कहते हैं। जैसे मधु या घृत से रिक्त हुए घट को भी मधुपट या घृतघट कहते हैं, क्योंकि पहले उसमें मधु या घृत था। वैसे ही आवश्यकपद का अर्थ जानने वाला चेतन तत्त्व, अभी नहीं है तथापि उसका शरीर है; भूतकालीन सम्बन्ध के कारण वह ज्ञशरीर द्रव्यावश्यक कहलाता है। जो जीव वर्तमान में आवश्यकपद का अर्थ नहीं जानता है, किन्तु आगामी काल में अपने इसी शरीर द्वारा उसे जानेगा वह भव्यशरीर द्रव्यावश्यक है। ज्ञशरीर और भव्यशरीर से अतिरिक्त तद्व्यतिरिक्त है। वह लौकिक, कुप्रावचनिक और लोकोत्तरीय रूप में तीन प्रकार का है। राजा, युवराज, सेठ, सेनापति, सार्थवाह प्रभृति का प्रातः व सायंकालीन आवश्यक कर्त्तव्य वह लौकिक द्रव्यावश्यक है। कुतीर्थिकों की क्रियाएँ कुप्रावचननिक द्रव्यावश्यक है। श्रमण के गुणों से रहित, निरंकुश, जिनेश्वर भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले स्वच्छन्द विहारी की अपने मत की दृष्टि से उभयकालीन क्रियाएँ लोकोत्तर द्रव्यावश्यक हैं।

भाव-आवश्यक आगमतः और नोआगमतः रूप में दो प्रकार का है। आवश्यक के स्वरूप को उपयोगपूर्वक जानना आगमतः भाव-आवश्यक है। नोआगमतः भाव-आवश्यक भी लौकिक, कुप्रावचनिक तथा लोकोत्तरिक रूप में तीन प्रकार का है। प्रातः महाभारत, सायं रामायण प्रभृति का स-उपयोग पठन-पाठन लौकिक आवश्यक है। चर्म आदि धारण करने वाले तापस आदि का अपने इष्टदेव को सांजलि नमस्कारादि करना कुप्रावचनिक भाव-आवश्यक है। शुद्ध उपयोग सहित वीतराग के वचनों पर श्रद्धा रखने वाले चतुर्विध तीर्थ का प्रातः, सायंकाल उपयोगपूर्वक आवश्यक करना लोकोत्तरिक भाव-आवश्यक है।

आवश्यक का निक्षेप करने के पश्चात् सूत्रकार श्रुत, स्कन्ध और अध्ययन का निक्षेपपूर्वक विवेचन करते हैं। श्रुत भी आवश्यक की तरह चार प्रकार का है–नामश्रुत, स्थापनाश्रुत, द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। श्रुत के श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना–प्रवचन एवं आगम, ये एकार्थक नाम हैं।[४७] स्कन्ध के भी नामस्कन्ध, स्थापनास्कन्ध, द्रव्यस्कन्ध और भावस्कन्ध ऐसे चार प्रकार हैं। स्कन्ध के मल, काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग, राशि, पुञ्ज, पिंड, निकर, संघात, आकुल और समूह, ये एकार्थक नाम हैं।[४८]

अध्ययन छह प्रकार का है–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। सामायिक रूप प्रथम अध्ययन के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोगद्वार हैं।

छह प्रकार के उपक्रम

उपक्रम का नामोपक्रम, स्थापनोपक्रम, द्रव्योपक्रम, क्षेत्रोपक्रम, कालोपक्रम और भावोपक्रम रूप छह प्रकार का है। अन्य प्रकार से भी उपक्रम के छह भेद बताये गये हैं–आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार। उपक्रम का प्रयोजन है कि ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रारम्भिक ज्ञातव्य विषय की चर्चा। इस प्रकार की चर्चा होने से ग्रन्थ में आये हुए क्रमरूप से विषयों का निक्षेप करना। इससे वह सरल हो जाता है।

आनुपूर्वी के नामानुपूर्वी, स्थापनानुपूर्वी, द्रव्यानुपूर्वी, क्षेत्रानुपूर्वी, कालानुपूर्वी, उत्कीर्तनानुपूर्वी, गणनानुपूर्वी, संस्थानानुपूर्वी, सामाचार्यानुपूर्वी, भावानुपूर्वी; ये दस प्रकार हैं जिनका सूत्रकार ने अतिविस्तार से निरूपण किया है। प्रस्तुत विवेचन में अनेक जैन मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

नामानुपूर्वी में नाम के एक, दो यावत् दस नाम बताये हैं। संसार के समस्त द्रव्यों के एकार्थवाची अनेक नाम होते हैं किन्तु वे सभी एक नाम के ही अन्तर्गत आते हैं। द्विनाम के एकाक्षरिक नाम और अनेकाक्षरिक नाम ये दो भेद हैं। जिसके उच्चारण करने में एक ही अक्षर का प्रयोग हो वह एकाक्षरिक नाम है। जैसे–धी, स्त्री, ह्री इत्यादि। जिसके उच्चारण में अनेक अक्षर हों, वह अनेकाक्षरिक नाम है। जैसे–कन्या, वीणा, लता, माला इत्यादि। अथवा जीवनाम, अजीवनाम अथवा अविशेषिकनाम, विशेषिकनाम इस तरह दो प्रकार का है। इसका विस्तार से विवेचन किया गया है। त्रिनाम के द्रव्यनाम, गुणनाम और पर्यायनाम ये तीन प्रकार हैं। द्रव्यनाम के धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय (काल) ये छह भेद हैं। गुणनाम के वर्णनाम, गंधनाम, रसनाम, स्पर्शनाम और संस्थाननाम आदि भेद-प्रभेद हैं। पर्यायनाम के एकगुण कृष्ण, द्विगुण कृष्ण, त्रिगुण कृष्ण, यावत् दसगुण, संख्येयगुण, असंख्येयगुण और अनन्तगुण कृष्ण इत्यादि अनेक प्रकार हैं। चतुर्नाम चार प्रकार का है–आगमतः, लोपतः, प्रकृतितः और विकारतः। विभक्त्यन्त पद में वर्ण का आगमन होने से पद्म का पद्मानि। यह

आगमतः पद का उदाहरण है। वर्णों के लोप से जो पद बनता है वह लोपतः पद है, जैसे–पटोऽत्र-पटोत्र। सन्धिकार्य प्राप्त होने पर भी सन्धि का न होना प्रकृतिभाव कहलाता है। जैसे शाले एते माले इमे। विकारतः पद के उदाहरण– दंडाग्रः, नदीह, मधूदकम्। पंचनाम पाँच प्रकार का है–नामिक, नैपातिक, आख्यातिक, औपसर्गिक और मिश्र। षट्नाम औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सन्निपातिक–छह प्रकार का है। इन भावों पर कर्मसिद्धान्त व गुणस्थानों की दृष्टि से विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। इसके पश्चात् सप्तनाम में सप्त स्वर पर, अष्टनाम में अष्ट विभक्ति पर, नवनाम में नवरत्न एवं दसनाम में गुणवाचक दस नाम बताये हैं।

उपक्रम के तृतीय भेद प्रमाण पर चिन्तन करते हुए द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण के रूप में चार भेद किये गये हैं। द्रव्यप्रमाण प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न रूप से दो प्रकार का है। प्रदेशनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण के अन्तर्गत परमाणु द्विप्रदेशी स्कन्ध यावत् दशप्रदेशी स्कन्ध आदि हैं। विभागनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण के मान, उन्मान, अवमान, गणितमान और प्रतिमान, ये पाँच प्रकार हैं। इनमें से मान के दो प्रकार हैं–धान्यमानप्रमाण, रसमानप्रमाण। धान्यमानप्रमाण के प्रसृति, सेधिका, कुडब, प्रस्थ, आढक, द्रोणि जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, कुम्भ आदि भेद हैं। इसी प्रकार रसमान प्रमाण के भी विविध भेद हैं। उन्मान प्रमाण के अर्द्ध-कर्ष, कर्ष, अर्द्ध-पल, पल, अर्द्ध-तुला, तुला, अर्द्ध-भार, भार आदि अनेक भेद हैं। इस प्रमाण से अगर, कुमकुम, खाँड़, गुड़ आदि वस्तुओं का प्रमाण मापा जा सकता है। जिस प्रमाण से भूमि आदि का माप किया जाय वह अवमान है। इसके हाथ, दंड, धनुष्य आदि अनेक प्रकार हैं। गणितमान प्रमाण में संख्या से प्रमाण निकाला जाता है। जैसे– एक, दो से लेकर हजार, लाख, करोड़ आदि जिससे द्रव्य के आय-व्यय का हिसाब लगाया जाय। प्रतिमान–जिससे स्वर्ण आदि मापा जाय। इसके गुञ्जा, कांगणी, निष्पाव, कर्ममाशक, मण्डलक, सोनैया आदि अनेक भेद हैं। इस प्रकार द्रव्य प्रमाण की चर्चा है।

क्षेत्रप्रमाण प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न दो प्रकार का है। एकप्रदेशावगाही, द्विप्रदेशावगाही आदि पुद्गलों से व्याप्त क्षेत्र को प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण कहा गया है। विभागनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण के अंगुल, वितस्ति, हस्त, कुक्षि, दंड, कोश, योजन आदि नाना प्रकार हैं। अंगुल–आत्मांगुल, उत्सेधांगुल

और प्रमाणांगुल के रूप में तीन प्रकार का है। जिस काल में जो मानव होते हैं उनके अपने अंगुल से १२ अंगुल प्रमाण मुख होता है। १०८ अंगुल प्रमाण पूरा शरीर होता है। वे पुरुष उत्तम, मध्यम और जघन्य रूप से तीन प्रकार के हैं। जिन पुरुषों में पूर्ण लक्षण हैं और १०८ अंगुल प्रमाण जिनका शरीर है वे उत्तम पुरुष हैं। जिन पुरुषों का शरीर १०४ अंगुल प्रमाण है वे मध्यम पुरुष हैं और जिनका शरीर ९६ अंगुल प्रमाण है वे जघन्य पुरुष हैं। इन अंगुलों के प्रमाण से ६ अंगुल का १ पाद, २ पाद की १ वितस्ति, २ वितस्ति का १ हाथ, २ हाथ की १ कुक्षि, २ कुक्षि का १ धनुष्य, २००० धनुष्य का १ कोश, ४ कोश का १ योजन होता है। प्रस्तुत प्रमाण से आराम, उद्यान, कानन, वन, वनखण्ड, कुआँ, वापिका, नदी, खाई, प्राकार, स्तूप आदि नापे जाते हैं।

उत्सेधांगुल का प्रमाण बताते हुए परमाणु त्रसरेणु, रथरेणु का वर्णन विविध प्रकार से किया है। प्रकाश में जो धूलिकण आँखों से दिखाई देते हैं वे त्रसरेणु हैं। रथ के चलने से जे धूलि उड़ती है वह रथरेणु है। परमाणु का दो दृष्टियों से प्रतिपादन है–सूक्ष्म परमाणु और व्यावहारिक परमाणु। अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के मिलने से एक व्यावहारिक परमाणु बनता है। व्यावहारिक परमाणुओं की क्रमशः वृद्धि होते-होते मानवों का बालाग्र, लीख, जूँ, यव और अंगुल बनता है, जो क्रमशः आठ गुने अधिक होते हैं। प्रस्तुत अंगुल के प्रमाण से ६ अंगुल का १ अर्द्ध-पाद, १२ अंगुल का १ पाद, २४ अंगुल का १ हस्त, ४८ अंगुल की १ कुक्षि, ९६ अंगुल का १ धनुष्य होता है। इसी धनुष्य के प्रमाण से २,००० धनुष्य का १ कोश और ४ कोश का १ योजन होता है। उत्सेधांगुल का प्रयोजन चार गतियों के प्राणियों की अवगाहना नापना है। यह अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट रूप से दो प्रकार की होती है। जैसे नरक में जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है और उत्कृष्ट अवगाहना ५०० धनुष्य प्रमाण है और उत्तर विक्रिया करने पर जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट १,००० धनुष्य होती है। इस तरह उत्सेधांगुल का प्रमाण स्थायी, निश्चित और स्थिर है। उत्सेधांगुल से १,००० गुना अधिक प्रमाणांगुल होता है। वह भी उत्सेधांगुल के समान निश्चित है। अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत के अंगुल को प्रमाणांगुल माना गया है। अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर के एक अंगुल के प्रमाण में दो उत्सेधांगुल होते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो उनके ५०० अंगुल के बराबर

१,००० उत्सेधांगुल अर्थात् १ प्रमाणांगुल होता है। इस प्रमाणांगुल से अनादि पदार्थों का नाप ज्ञात किया जाता है। इससे बड़ा अन्य कोई अंगुल नहीं है।

कालप्रमाण प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न रूप से दो प्रकार का है। एक समय की स्थिति वाले परमाणु या स्कन्ध आदि का काल प्रदेशनिष्पन्न कालप्रमाण कहलाता है। समय, आवलिका, मुहूर्त्त, दिन, अहोरात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पल्य, सागर, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, परावर्तन आदि को विभागनिष्पन्न कालप्रमाण कहा गया है। समय बहुत ही सूक्ष्म कालप्रमाण है। इसका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए वस्त्र-विदारण का उदाहरण दिया है। असंख्यात समय की १ आवलिका, संख्यात आवलिका का १ उच्छ्वास-निश्वास; प्रसन्न मन, पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति के १ श्वासोच्छ्वास को प्राण कहते हैं। ७ प्राणों का १ स्तोक, ७ स्तोकों का १ लव, उसके पश्चात् शीर्षप्रहेलिका, पल्योपम, सागरोपम की संख्या तक प्रकाश डाला है जिसका हम अन्य आगमों के विवेचन में उल्लेख कर चुके हैं। इस कालप्रमाण से चार गतियों के जीवों के आयुष्य पर विचार किया गया है।

भावप्रमाण तीन प्रकार का है–गुणप्रमाण, नयप्रमाण और संख्याप्रमाण। गुणप्रमाण–जीवगुणप्रमाण और अजीवगुणप्रमाण इस तरह से दो प्रकार का है। जीवगुणप्रमाण के तीन भेद–ज्ञानगुणप्रमाण, दर्शनगुणप्रमाण और चारित्रगुणप्रमाण हैं। इसमें से ज्ञानगुणप्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार भेद हैं। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञानप्रत्यक्ष–ये तीन भेद हैं।[४९]

अनुमान–पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत् तीन प्रकार का है। पूर्ववत् अनुमान को समझाने के लिए एक रूपक दिया है। जैसे–किसी माता का कोई पुत्र लघुवय में अन्यत्र चला गया और युवक होकर पुनः अपने नगर में आया। उसे देखकर उसकी माता पूर्व लक्षणों से अनुमान करती है कि यह पुत्र मेरा ही है। इसे पूर्ववत् अनुमान कहा है।

शेषवत् अनुमान कार्यतः, कारणतः, गुणतः, अवयवतः और आश्रयतः इस तरह पाँच प्रकार का है। कार्य से कारण का ज्ञान होना कार्यतः अनुमान कहा जाता है; जैसे–शंख, भेरी आदि के शब्दों से उनके कारणभूत पदार्थों का ज्ञान होना; यह एक प्रकार का अनुमान है। कारणतः अनुमान वह है जिसमें कारणों

से कार्य का ज्ञान होता है; जैसे–तन्तुओं से पट बनता है, मिट्टी के पिण्ड से घट बनता है। गुणतः अनुमान वह है जिससे गुण के ज्ञान से गुणी का ज्ञान किया जाय; जैसे–कसौटी से स्वर्ण की परीक्षा, गंध से फूलों की परीक्षा। अवयवतः अनुमान है अवयवों से अवयवी का ज्ञान होना; जैसे–सींगों से महिष का, शिखा से कुक्कुट का, दाँतों से हाथी का। आश्रयतः अनुमान वह है जिसमें आश्रय से आश्रयी का ज्ञान होता है। इसमें साधन से साध्य पहचाना जाता है; जैसे–धुएँ से अग्नि, बादलों से जल, सदाचरण से कुलीन पुत्र का ज्ञान होता है।

दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान के सामान्यदृष्ट और विशेषदृष्ट–ये दो भेद हैं। किसी एक व्यक्ति को देखकर तद्देशीय या तज्जातीय अन्य व्यक्तियों की आकृति आदि का अनुमान करना सामान्यदृष्ट अनुमान है। इसी प्रकार अनेक व्यक्तियों की आकृति आदि से एक व्यक्ति की आकृति का अनुमान भी किया जा सकता है। किसी व्यक्ति को पहले एक बार देखा हो, पुनः उसको दूसरे स्थान पर देखकर अच्छी तरह पहचान लेना विशेषदृष्ट अनुमान है।

उपमानप्रमाण के साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत, ये दो भेद हैं। साधर्म्योपनीत के किंचित्साधर्म्योपनीत, प्रायःसाधर्म्योपनीत और सर्वसाधर्म्योपनीत, ये तीन प्रकार हैं। जिसमें कुछ साधर्म्य हो वह किंचित् साधर्म्योपनीत है। उदाहरण के लिए जैसा आदित्य है वैसा खद्योत है, क्योंकि दोनों ही प्रकाशित हैं। जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है, क्योंकि दोनों में शीतलता है। जिसमें लगभग समानता हो वह प्रायःसाधर्म्योपनीत है; जैसे–गाय है वैसी नील-गाय है। जिसमें सब प्रकार की समानता हो वह सर्वधार्म्योपनीत है। यह उपमा देश, काल आदि की भिन्नता के कारण अन्य में नहीं प्राप्त होती। अतः उसकी उसी से उपमा देना सर्वसाधर्म्योपनीत उपमान है। इसमें उपमेय और उपमान भिन्न नहीं होते। जैसे–सागर सागर के सदृश है। तीर्थंकर तीर्थंकर के समान हैं।

वैधर्म्योपनीत के किंचित्वैधर्म्योपनीत, प्रायःवैधर्म्योपनीत और सर्ववैधर्म्योपनीत, ये तीन प्रकार हैं।

आगम दो प्रकार के हैं–लौकिक और लोकोत्तर। मिथ्यादृष्टियों के बनाये हुए ग्रन्थ लौकिक आगम हैं। जिन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी द्वारा प्रतिपादित द्वादशांग गणिपिटक–यह लोकोत्तर आगम है अथवा

आगम के सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम अथवा आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम, इस प्रकार तीन भेद हैं। तीर्थंकर द्वारा कथित अर्थ उनके लिए आत्मागम है। गणधररचित सूत्र गणधर के लिए आत्मागम है और अर्थ उनके लिए परम्परागम है। उसके पश्चात् सूत्र, अर्थ दोनों परम्परागम हैं। यह ज्ञानगुणप्रमाण का वर्णन है।

दर्शनगुणप्रमाण के चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन गुणप्रमाण, ये चार भेद हैं।

चारित्रगुणप्रमाण पाँच प्रकार का है–सामायिकचारित्र, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्ध, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातचारित्र गुणप्रमाण।

सामायिकचारित्र इत्वरिक और यावत्कथित रूप से दो प्रकार है। छेदोपस्थापनीयचारित्र भी सातिचार और निरतिचार (सदोष और निर्दोष) ऐसे दो प्रकार का है। इसी प्रकार परिहारविशुद्ध, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातचारित्र भी क्रमशः निर्विश्यमान और निर्निष्टकायिक, प्रतिपाती और अप्रतिपाती, छाद्मस्थिक और कैवलिक इस प्रकार दो-दो तरह के हैं। चारित्रगुणप्रमाण के अवान्तर भेद-प्रभेदों पर प्रस्तुत आगम में प्रकाश नहीं डाला गया है।

अजीवगुणप्रमाण के पाँच प्रकार हैं–वर्णगुणप्रमाण, गंधगुणप्रमाण, रसगुणप्रमाण, स्पर्शगुणप्रमाण और संस्थानगुणप्रमाण। इनके क्रमशः ५, २, ५, ८ और ५ भेद प्रतिपादित किये गये हैं। यह गुणप्रमाण का वर्णन हुआ।

भावप्रमाण का दूसरा भेद नयप्रमाण है। नय के नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत; ये सात प्रकार हैं। प्रस्थक, वसति एवं प्रदेश के दृष्टान्त से इन नयों का स्वरूप समझाया है।

भावप्रमाण का तृतीय भेद संख्याप्रमाण है। वह नामसंख्या, स्थापनासंख्या, द्रव्यसंख्या, उपमानसंख्या, परिमाणसंख्या, ज्ञानसंख्या, गणनासंख्या और भावसंख्या–इस तरह आठ प्रकार का है।

गणनासंख्या विशेष महत्त्वपूर्ण होने से उसका विस्तार से विवेचन किया है। जिसके द्वारा गणना की जाय वह गणनासंख्या कहलाती है। एक का अंक गिनने में नहीं आता अतः दो से गणना की संख्या का प्रारम्भ होता है। संख्या के संख्येयक, असंख्येयक और अनन्त–ये तीन भेद हैं। संख्येयक के जघन्य,

मध्यम और उत्कृष्ट, ये तीन भेद हैं। असंख्येयक के परीतासंख्येयक, युक्तासंख्येयक और असंख्येयासंख्येयक तथा इन तीनों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ये तीन-तीन भेद हैं। इस प्रकार असंख्येयक के नौ भेद हुए। अनन्तक के परीतान्तक, युक्तानन्तक और अनन्तानन्तक, ये तीन भेद हैं। इनमें से परीतान्तक और युक्तानन्तक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ये तीन-तीन भेद हैं और अनन्तानन्तक के जघन्य और मध्यम, ये दो भेद हैं। इस प्रकार कुल आठ भेद होते हैं।

संख्येयक के ३, असंख्येयक के ९ और अनन्तक के ८, कुल २० भेद हुए। यह भावप्रमाण का वर्णन हुआ।

हमने पूर्व पृष्ठों में सामायिक के चार अनुयोगद्वारों में से प्रथम अनुयोगद्वार उपक्रम के आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार, ये छह भेद किये थे। उनमें आनुपूर्वी, नाम और प्रमाण पर चिन्तन किया जा चुका है। अवशेष तीन पर चिन्तन करना है।

वक्तव्यता के स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और उभयसमयवक्तव्यता, ये तीन प्रकार हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि स्व-सिद्धान्तों का वर्णन करना स्वसमयवक्तव्यता है। अन्य मतों के सिद्धान्तों की व्याख्या करना परसमयवक्तव्यता है। स्वपर–उभय मतों की व्याख्या करना उभयसमयवक्तव्यता है।

जो जिस अध्ययन का अर्थ है अर्थात् विषय है वही उस अध्ययन का अर्थाधिकार है। उदाहरण के रूप में, जैसे आवश्यक सूत्र के छह अध्ययनों का सावद्ययोग से निवृत्त होना ही उसका विषयाधिकार है वही अर्थाधिकार कहलाता है।

समवतार का तात्पर्य यह है कि आनुपूर्वी आदि जो द्वार हैं उनमें उन-उन विषयों का समवतार करना अर्थात् सामायिक आदि अध्ययनों की आनुपूर्वी आदि पाँच बातें विचार कर योजना करना। समवतारनाम के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसमवतार इस प्रकार छह भेद हैं। द्रव्यों का स्वगुण की अपेक्षा से आत्मभाव में अवतीर्ण होना–व्यवहारनय की अपेक्षा से पररूप में अवतीर्ण होना आदि द्रव्यसमवतार हैं। क्षेत्र का भी स्वरूप, पररूप और उभयरूप से समवतार होता है। कालसमवतार श्वासोच्छ्वास से संख्यात,

असंख्यात और अनन्तकाल (जिसका विस्तार पूर्व में दे चुके हैं) तक का होता है। भावसमवतार के भी दो भेद हैं–आत्मभावसमवतार और तदुभयसमवतार। भाव का अपने ही स्वरूप में समवतीर्ण होना आत्मभावसमवतार कहलाता है। जैसे–क्रोध का क्रोध के रूप में समवतीर्ण होना। भाव का स्वरूप और पररूप दोनों में समवतार होना तदुभयभावसमवतार है। जैसे–क्रोध का क्रोध के रूप में समवतार होने के साथ ही मान के रूप में समवतार होना तदुभयभावसमवतार है।

अनुयोगद्वारसूत्र का अधिक भाग उपक्रम की चर्चा ने रोक रखा है। शेष तीन निक्षेप संक्षेप में हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना ऐसी है कि ज्ञातव्य विषयों का प्रतिपादन उपक्रम में ही कर दिया है जिससे बाद के विषयों को समझना अत्यन्त सरल हो जाता है।

उपक्रम में जिन विषयों की चर्चा की गई है उन सभी विषयों पर हम तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करना चाहते थे जिससे कि प्रबुद्ध पाठकों को यह परिज्ञात हो सके कि आगम-साहित्य में अन्य स्थलों पर इन विषयों की चर्चा किस रूप में है और परवर्ती-साहित्य में इन विषयों का विकास किस रूप में हुआ है। पर समयाभाव के कारण हम चाहते हुए भी यहाँ नहीं कर पा रहे हैं। 'प्रमाण : एक अध्ययन' शीर्षक लेख में हमने प्रमाण की चर्चा विस्तार से की है, अतः जिज्ञासु पाठक उस ग्रन्थ का अवलोकन कर सकते हैं।[५०]

निक्षेप : द्वितीय द्वार

निक्षेप–यह अनुयोगद्वार का दूसरा द्वार है। निक्षेप जैनदर्शन का एक पारिभाषिक और लाक्षणिक शब्द है। पदार्थबोध के लिए निक्षेप का परिज्ञान बहुत ही आवश्यक है। निक्षेप की अनेक व्याख्याएँ विभिन्न ग्रन्थों में मिलती हैं। जीतकल्पभाष्य में आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने लिखा है–'नि' शब्द के तीन अर्थ हैं–ग्रहण, आदान और आधिक्य। 'क्षेप' का अर्थ है–प्रेरित करना। जिस वचन-पद्धति में नि/अधिक क्षेप/विकल्प है, वह निक्षेप है।[५१]

सूत्रकृतांगचूर्णि जिनदासगणी महत्तर ने निक्षेप की परिभाषा इस प्रकार की है–जिसका क्षेप/स्थापन नियत और निश्चित होता है, वह निक्षेप है।[५२] बृहद् द्रव्यसंग्रह में आचार्य नेमिचन्द ने लिखा है–युक्तिमार्ग से प्रयोजनवशात्, जो वस्तु को नाम आदि चार भेदों में क्षेपण स्थापन करे वह निक्षेप है।[५३] नयचक्र

में आचार्य मल्लिसेन मल्लधारी ने निक्षेप की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है– वस्तु का नाम आदि में क्षेप करने या धरोहर रखना निक्षेप है।[५४] षट्खण्डागम की धवला टीका में आचार्य वीरसेन ने निक्षेप की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है–संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में अवस्थित वस्तु को उनसे निकालकर जो निश्चय में क्षेपण करता है, वह निक्षेप है।[५५] दूसरे शब्दों में यूँ कह सकते हैं, जो अनिर्णीत वस्तु का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव द्वारा निर्णय कराये वह निक्षेप है। इसे यों भी कह सकते हैं–अप्रकृत का निराकरण करके प्रकृत का निरूपण करना निक्षेप है। अर्थात् शब्द का अर्थ में और अर्थ का शब्द में आरोप करना यानि शब्द और अर्थ को किसी एक निश्चित अर्थ में स्थापित करना निक्षेप है।[५६]

संक्षिप्त सार यह है कि जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान या उपचार से वस्तु में जिन प्रकारों से आक्षेप किया जाय वह निक्षेप है। क्षेपणक्रिया के भी दो प्रकार हैं, प्रस्तुत अर्थ का बोध कराने वाली शब्द-रचना और दूसरा प्रकार है अर्थ का शब्द में आरोप करना। क्षेपणक्रिया वक्ता के भावविशेष पर आधृत है।

आचार्य उमास्वाति ने निक्षेप का पर्यायवाची शब्द न्यास दिया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में 'न्यासो निक्षेपः'[५७] के द्वारा स्पष्टीकरण किया है। नाम आदि के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं।[५८]

निक्षेप के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार प्रकार हैं। प्रस्तुत द्वार में निक्षेप के ओघनिष्पन्ननिक्षेप, नामनिष्पन्ननिक्षेप और सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेप– इस प्रकार तीन भेद किये हैं। ओघनिष्पन्ननिक्षेप अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा के रूप में चार प्रकार का है। अध्ययन के नामाध्ययन, स्थापनाध्ययन, द्रव्याध्ययन और भावाध्ययन, ये चार भेद हैं। अक्षीण के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, ये चार भेद हैं। इन चार में भावाक्षीणता के आगमतःभावाक्षीणता और नोआगमतःभावाक्षीणता कहलाती है। जो व्यय करने पर भी किंचिन्मात्र भी क्षीण न हो वह नोआगमतःभावाक्षीणता कहलाती है। जैसे–एक जगमगाते दीपक से शताधिक दीपक प्रज्वलित किये जा सकते हैं, किन्तु उससे दीपक की ज्योति क्षीण नहीं होती वैसे ही आचार्य श्रुत का दान देते हैं। वे स्वयं भी श्रुतज्ञान से दीप्त रहते हैं और दूसरों को भी प्रदीप्त करते हैं। सारांश यह है कि श्रुत का क्षीण न होना भावाक्षीणता है।

आय के नाम, स्थापनादि चार भेद हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का लाभ, प्रशस्त आय है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की प्राप्ति अप्रशस्त आय है।

क्षपणा के नाम, स्थापनादि चार भेद हैं। क्षपणा का अर्थ निर्जरा, क्षय है। क्रोधादि का क्षय होना प्रशस्त क्षपणा है। ज्ञानादि का नष्ट होना अप्रशस्त क्षपणा है।

ओघनिष्पन्ननिक्षेप के विवेचन के पश्चात् नामनिष्पन्ननिक्षेप का विवेचन करते हुए कहा है–जिस वस्तु का नामनिक्षेपनिष्पन्न हो चुका है उसे नामनिष्पन्ननिक्षेप कहते हैं, जैसे–सामायिक। इसके भी नामादि चार भेद हैं। भावसामायिक का विवेचन विस्तार से किया है और भावसामायिक करने वाले श्रमण का आदर्श प्रस्तुत करते हुए बताया है–जिसकी आत्मा सभी प्रकार से सावद्य व्यापार से निवृत्त होकर मूलगुणरूप संयम, उत्तरगुणरूप नियम तथा तप आदि में लीन है उसी को भावसामायिक का अनुपम लाभ प्राप्त होता है। जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों को आत्मवत् देखता है, उनके प्रति समभाव रखता है वही सामायिक का सच्चा अधिकारी है। जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी दुःख प्रिय नहीं है, ऐसा जानकर जो न किसी अन्य प्राणी का हनन करता है, न करवाता है और न करते हुए की अनुमोदना ही करता है वह श्रमण है, आदि।

सूत्रालापक निक्षेप वह है जिसमें **'करेमि भंते सामाइयं'** आदि पदों का नामादि भेदपूर्वक व्याख्यान किया जाता है। इसमें सूत्र का शुद्ध और स्पष्ट रूप से उच्चारण करने की सूचना दी है।

अनुगम

अनुयोगद्वार का तृतीय द्वार अनुगम है। उत्तराध्ययनचूर्णि में अनुगम की व्याख्या इस प्रकार की गई है–जिसके द्वारा सूत्र का अनुसरण अथवा सूत्र के अर्थ का स्पष्टीकरण किया जाता है, वह अनुगम/व्याख्या है।[५९] अनुयोगद्वारचूर्णि में अनुगम की व्याख्या इस प्रकार मिलती है–अर्थ से सूत्र अणु अर्थात् लघु होता है, उसके अनुरूप गमन करना अनुगम है।[६०] दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि सूत्र और अर्थ के अनुकूल गमन करना अनुगम है।[६१] अनुयोगद्वार मलधारीय टीका में अनुगम की परिभाषा इस रूप में मिलती है–सूत्र पढ़ने के पश्चात् गमन/व्याख्यान करना अनुगम है। जिसके द्वारा सूत्रानुसारी ज्ञान होता है, वह अनुगम है।[६२] अनुगम के सूत्रानुगम और

निर्युक्त्यनुगम, ये दो भेद हैं। निर्युक्त्यनुगम के तीन भेद हैं–निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम और सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम। इसमें निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम का विवेचन किया जा चुका है। उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम के उद्देश, निर्देश, निर्गम आदि छब्बीस भेद बताये हैं। सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम का अर्थ है–अस्खलित, अमिलित, अन्य सूत्रों के पाठों से असंयुक्त, प्रतिपूर्ण घोषयुक्त, कण्ठ–ओष्ठ से विप्रमुक्त तथा गुरुमुख से ग्रहण किये हुए उच्चारण से युक्त सूत्रों के पदों का स्वसिद्धान्त के अनुरूप विवेचन करना।

नय-स्वरूप

अनुयोगद्वार का चौथा द्वार नय है। नय जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जो वस्तु का बोध कराते हैं वे नय हैं।[६३] वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु के उन सम्पूर्ण धर्मों का यथार्थ और प्रत्यक्ष ज्ञान केवल सर्वज्ञ–सर्वदर्शी को ही हो सकता है। पर सामान्य मानव में वह सामर्थ्य नहीं है। सामान्य मानव एक समय में कुछ धर्मों का ही ज्ञान कर पाता है। यही कारण है कि उसका ज्ञान आंशिक है, आंशिक ज्ञान को नय कहते हैं। यह स्मरण रखना होगा, प्रमाण और नय ये दोनों ज्ञानात्मक हैं। किन्तु दोनों में अन्तर यही है कि प्रमाण सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान कराता है तो नय वस्तु के एक अंश का ज्ञान कराता है। प्रमाण को सकलादेश और नय को विकलादेश कहा है। सकलादेश में वस्तु के समस्त धर्मों की विवक्षा होती है पर विकलादेश में एक धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों की विवक्षा नहीं होती। विकलादेश को सम्यक् इसीलिए माना जाता है कि वह जिस धर्म की विवक्षा करता है उसके अतिरिक्त अन्य धर्मों का प्रतिषेध नहीं करता किन्तु उन धर्मों की उपेक्षा करता है।

वक्ता के अभिप्राय की दृष्टि से नय का लक्षण इस प्रकार है–विरोधी धर्मों का निषेध न करते हुए वस्तु के एक अंश या धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है।[६४] दूसरे शब्दों में अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ शब्दप्रयोग नय है।[६५] जितने वचन के प्रकार हैं, उतने ही नय भी हैं।[६६] इस तरह नय के अनन्त भेद हो सकते हैं। तथापि उनका समाहार करते हुए और समझने की सरलता की दृष्टि से उन सब वचन-पक्षों को अधिक से अधिक सात भेदों में विभाजित कर दिया है। अनुयोगद्वार में सात नयों का वर्णन है–

(१) नैगमनय, (२) संग्रहनय, (३) व्यवहारनय, (४) ऋजुसूत्रनय, (५) शब्दनय, (६) समभिरूढ़नय, एवं (७) भूतनय। ठाणांग[६७] और प्रज्ञापना[६८] में भी सात नयों का वर्णन है। सात नयों में शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये तीन शब्दनय हैं[६९] और नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थनय हैं। तीन शब्द को विषय कहते हैं, अतः शब्दनय है और शेष चार अर्थ को अपना विषय बनाते हैं इसलिये अर्थनय हैं।

सामान्य और विशेष आदि अनेक धर्मों को ग्रहण करने वाला अभिप्राय नैगमनय है।[७०] प्रस्तुत नय सत्तारूप सामान्य को द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व रूप अवान्तर सामान्य को असाधारण रूप विशेष तथा पररूप से व्यावृत्त और सामान्य से भिन्न अवान्तर विशेषों को जानता है अथवा दो द्रव्यों में से, दो पर्यायों में से तथा द्रव्य और पर्याय में से किसी एक को मुख्य और दूसरे को गौण करके जानना नैगमनय है।[७१] विशेषों की अपेक्षा न करके वस्तु को सामान्य रूप से जानना संग्रहनय है।[७२] जैसे–जीव कहने से त्रस, स्थावर प्रभृति सभी प्रकार के जीवों का परिज्ञान होता है, भेद सहित सभी पर्यायों या विशेषों को अपनी जाति के विरोध के बिना एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करने वाला संग्रहनय है।[७३] दूसरे शब्दों में समस्त पदार्थों का सम्यक् प्रकार से एकीकरण करके जो अभेद रूप से ग्रहण करता है, वह संग्रहनय है।[७४] अथवा यों भी कह सकते हैं कि व्यवहार की अपेक्षा न करके सत्तादि रूप से सकल पदार्थों का संग्रह करना संग्रहनय है।[७५] संग्रहनय से जाने हुए पदार्थों का योग्य रीति से विभाग करने वाला अभिप्राय व्यवहारनय है।[७६]

संग्रहनय जिस अर्थ को ग्रहण करता है, उस अर्थ का विशेष रूप से बोध करने के लिए उसका पृथक्करण आवश्यक होता है। यह सत्य है, संग्रहनय में सामान्य मात्र का ही ग्रहण होता है तथापि उस सामान्य का रूप क्या है? इसका विश्लेषण करने के लिए व्यवहार की जरूरत होती है। इसलिए सामान्य को भेदपूर्वक ग्रहण करना व्यवहारनय है।[७७] वर्तमानकालवर्ती पयार्य को मान्य करने वाले ग्रहण करने वाले–अभिप्राय को ऋजुसूत्रनय कहते हैं।[७८] भूतकाल विनष्ट और भविष्यकाल अनुत्पन्न होने से वह केवल वर्तमानकालवर्ती पर्याय को ही ग्रहण करता है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान क्षण की पर्याय को ही प्रधानता देता है। जैसे–मैं इस समय सुख भोग रहा हूँ। यहाँ पर क्षणस्थायी सुखपर्याय को सुख मानकर उस सुखपर्याय का आधार जो आत्मद्रव्य है, उसको गौण कर

दिया गया है। पर्यायवाची शब्दों में भी काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग के भेद से अर्थभेद मानना शब्दनय है।[७९] विभिन्न संयोगों के आधार पर जो शब्दों में अर्थभेदी कल्पना की जाती है, वह शब्दनय है। पर्यायवाची शब्दों में भिन्न अर्थ को द्योतित करना निर्युक्ति यानि व्युत्पत्ति के भेद से पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में भेद स्वीकार करने वाला समभिरूढ़नय है। इन्द्र, शक्र, पुरन्दर प्रभृति शब्द पर्यायवाची हैं। तथापि भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति से भिन्न-भिन्न अर्थ को द्योतित करते हैं।

शब्दनय तो समान काल, कारक, लिंग आदि युक्त पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ मानता है। किन्तु कारक आदि का भेद होने पर ही पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद स्वीकार करता है। पर कारक आदि का भेद न होने पर पर्यायवाची शब्दों में अभिन्न अर्थ मानता है पर समभिरूढ़नय तो पर्यायभेद होने से ही उन शब्दों में अर्थभेद मानता है।[८०] जिस समय पदार्थों में जो क्रिया होती है, उस समय क्रिया के अनुकूल शब्दों से अर्थ के प्रतिपादन करने को एवंभूतनय कहते हैं।[८१] जैसे–ऐश्वर्य का अनुभव करते समय इन्द्र, समर्थ होने के समय शक्र और नगरों का नाश करते समय पुरन्दर कहना। एवंभूतनय निश्चय प्रधान है, शब्दों की जो व्युत्पत्ति है उस व्युत्पत्ति की निमित्तभूतक्रिया जब पदार्थ में होती है तब वह पदार्थ को उस शब्द का वाच्य मानता है। इस प्रकार सातों नय पूर्व-पूर्व नय से उत्तर-उत्तर नयों का विषय सूक्ष्म होता चला गया।

नैगमनय सामान्य और विशेष भेद-अभेद दोनों को ग्रहण करता है। जबकि संग्रहनय की दृष्टि उससे संकीर्ण है, वह सामान्य और अभेद को विषय करता है। संग्रहनय से भी व्यवहारनय का विषय कम है। संग्रहनय जहाँ समस्त सामान्य पदार्थों को जानता है और व्यवहारनय संग्रह से जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से ग्रहण करता है।

ऋजुसूत्रनय का विषय व्यवहारनय से कम है, चूँकि व्यवहारनय त्रैकालिक विषय की सत्ता को मानता है। जबकि ऋजुसूत्रनय से वर्तमान पदार्थ का ही परिज्ञान होता है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा शब्दनय का विषय कम है। क्योंकि शब्दनय काल आदि के भेद से वर्तमान पर्याय में भी भेद स्वीकार करता है। शब्दनय वर्तमान पर्याय के वाचक विविध पर्यायवाची शब्दों में से काल, लिंग, संख्या, पुरुष आदि व्याकरण सम्बन्धी विषमताओं का निराकरण करके केवल

समान काल, लिंग आदि शब्दों को एकार्थवाची मानता है जबकि ऋजुसूत्रनय में काल आदि का भेद नहीं होता। शब्दनय से भी समभिरूढ़ का विषय कम है। वह पर्याय और व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद मानता है। जबकि शब्दनय पर्यायवाची शब्दों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं मानता। समभिरूढ़नय इन्द्र, शक्र आदि एकार्थवाची शब्दों को भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से भिन्न अर्थवाची मानता है। वह किसी एक ही शब्द को वाचक रूप में रूढ़ करता है। पर वह सूक्ष्मता शब्दनय में नहीं है। एवंभूतनय का विषय समभिरूढ़नय से भी न्यून है। वह अर्थ को भी उस शब्द का वाच्य तभी मानता है, जब अर्थ अपनी व्युत्पत्ति मूलक्रिया में लगा हो। सारांश यह है, पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय सूक्ष्म और सूक्ष्मतर विषय वाला होता है; और उत्तर-उत्तर नय का विषय पूर्व-पूर्व नय के विषय पर ही आधृत है; और प्रत्येक का विषय क्षेत्र उत्तरोत्तर न्यून होने से इनका परस्पर में पौर्वापर्य सम्बन्ध है। नयद्वार के विवेचन के साथ ही चारों प्रकार के अनुयोगद्वार का वर्णन पूर्ण होता है।

इस प्रकार अनुयोद्वारसूत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण जैन पारिभाषिक शब्द-सिद्धान्तों का विवेचन है। उपक्रम-निक्षेप शैली की प्रधानता और साथ ही भेद-प्रभेद की प्रचुरता होने से यह आगम अन्य आगमों से क्लिष्ट है तथापि जैनदर्शन के रहस्य को समझाने के लिए यह अतीव उपयोगी है। जैन आगम की प्राचीन चूर्णि-टीकाओं के प्रारम्भ के भाग को देखते हुए ज्ञात होता है कि समग्र निरूपण में वही पद्धति अपनाई गई है जो अनुयोगद्वार में है। यह सिर्फ श्वेताम्बर-सम्मत जैन आगमों की टीकाओं पर ही नहीं लागू होता वरन् दिगम्बरों ने भी यह पद्धति अपनाई है। इसका प्रमाण दिगम्बर-सम्मत षट्खण्डागम आदि प्राचीन शास्त्रों की टीका से मिलता है। इससे इसकी प्राचीनता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। अनुयोगद्वार में सांस्कृतिक सामग्री भी प्रचुर मात्रा में है। संगीत के सात स्वर, स्वरस्थान, गायक के लक्षण, ग्राम, मूर्च्छनाएँ, संगीत के गुण और दोष, नवरस, सामुद्रिक लक्षण, १०८ अंगुल के माप वाले, शंखादि चिह्न वाले, मस, तिल आदि व्यंजन वाले उत्तम पुरुष आदि बताये गये हैं। निमित्त के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला है, जैसे-आकाशदर्शन और नक्षत्रादि के प्रशस्त होने पर सुवृष्टि और अप्रशस्त होने पर दुर्भिक्ष आदि। इस तरह इसमें सांस्कृतिक व सामाजिक वर्णन भी किया गया है।[८२]

अनुयोगद्वार के रचयिता या संकलनकर्त्ता आर्य रक्षित माने जाते हैं। आर्य रक्षित से पहले यह पद्धति थी कि आचार्य अपने मेधावी शिष्यों को छोटे-बड़े सभी सूत्रों की वाचना देते समय चारों अनुयोगों का बोध करा देते थे। उस वाचना का क्या रूप था? वह आज हमारे समक्ष नहीं है, तथापि इतना कहा जा सकता है कि वे वाचना देते समय प्रत्येक सूत्र पर आचारधर्म, उसके पालनकर्त्ता, उनके साधन-क्षेत्र का विस्तार और नियम-ग्रहण की कोटि एवं भंग आदि का वर्णन कर सभी अनुयोगों का एक साथ बोध कराते थे। इसी वाचना को अपृथक्त्वानुयोग कहा गया है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि जब चरणकरणानुयोग आदि चारों अनुयोगों का प्रत्येक सूत्र पर विचार किया जाय तो वह अपृथक्त्वानुयोग है। अपृथक्त्वानुयोग में विभिन्न नयदृष्टियों का अवतरण किया जाता है और उसमें प्रत्येक सूत्र पर विस्तार से चर्चा की जाती है।[८३]

आर्य वज्रस्वामी तक कालिक आगमों के अनुयोग (वाचना) में अनुयोगों का अपृथक्त्व रूप रहा। उसके पश्चात् आर्य रक्षित ने कालिक श्रुत और दृष्टिवाद के पृथक् अनुयोग की व्यवस्था की।[८४] कारण कि आर्य रक्षित के धर्मशासन में ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी और वादी सभी प्रकार के सन्त थे। उन शिष्यों में पुष्यमित्र के तीन विशिष्ट महामेधावी शिष्य थे। उनमें से एक का नाम दुर्बलिकापुष्यमित्र, दूसरे का घृतपुष्यमित्र और तीसरे का वस्त्रपुष्यमित्र था। घृतपुष्यमित्र और वस्त्रपुष्यमित्र की लब्धि का यह प्रभाव था कि प्रत्येक गृहस्थ के घर से श्रमणों को घृत और वस्त्र सहर्ष उपलब्ध होते थे। दुर्बलिकापुष्यमित्र निरन्तर स्वाध्याय में तल्लीन रहते थे। आर्य रक्षित के अन्य मुनि, विन्ध्य, फल्गुरक्षित, गोष्ठामाहिल प्रतिभासम्पन्न शिष्य थे। उन्हें जितना सूत्रपाठ आचार्य से प्राप्त होता था उससे उन्हें सन्तोष नहीं होता था, अतः उन्होंने एक पृथक् वाचनाचार्य की व्यवस्था के लिए प्रार्थना की। आचार्य ने दुर्बलिकापुष्यमित्र को इसके लिए नियुक्त किया। कुछ दिनों के पश्चात् दुर्बलिकापुष्यमित्र ने आचार्यों से निवेदन किया कि वाचना देने में समय लग जाने के कारण मैं पठित ज्ञान का पुनरावर्तन नहीं कर पाता, अतः विस्मरण हो रहा है। आचार्य को आश्चर्य हुआ कि इतने मेधावी शिष्य की भी यह स्थिति है। अतः उन्होंने प्रत्येक सूत्र के अनुयोग पृथक्-पृथक् कर दिये। अपरिणामी और अतिपरिणामी शिष्य नय दृष्टि का मूलभाव नहीं समझकर कहीं कभी एकान्त ज्ञान, एकान्त क्रिया, एकान्त निश्चय अथवा एकान्त व्यवहार को ही उपादेय न मान लें तथा सूक्ष्म विषय में मिथ्याभाव नहीं ग्रहण करें, एतदर्थ नयों का विभाग नहीं किया।[८५]

अनुयोगद्वार का रचना समय वीर निर्वाण संवत् ८२७ से पूर्व माना गया है और कितने विद्वान् उसे दूसरी शताब्दी की रचना मानते हैं। आगमप्रभावक पुण्यविजय जी म. आदि का यह मन्तव्य है कि अनुयोग का पृथक्करण तो आचार्य आर्य रक्षित ने किया किन्तु अनुयोगद्वारसूत्र की रचना उन्होंने ही की हो तो निश्चित रूप से नहीं कह सकते।

व्याख्या-साहित्य

मूल ग्रन्थ के रहस्य का समुद्घाटन करने हेतु अतीतकाल से उस पर व्याख्यात्मक साहित्य लिखा जाता रहा है। व्याख्यात्मक लेखक मूल ग्रन्थ के अभीष्ट अर्थ का विश्लेषण तो करता ही है, साथ ही उस सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र चिन्तन भी प्रस्तुत करता है। प्राचीनतम जैन व्याख्यात्मक साहित्य में आगमिक व्याख्याओं का गौरवपूर्ण स्थान है। उस व्याख्यात्मक साहित्य को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है–(१) निर्युक्तियाँ (निज्जुत्ति), (२) भाष्य (भास), (३) चूर्णियाँ (चुण्णि), (४) संस्कृत टीकाएँ, और (५) लोकभाषाओं में रचित व्याख्याएँ।

निर्युक्तियाँ और भाष्य ये जैन आगमों की प्राकृत पद्यबद्ध टीकाएँ हैं जिनमें विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्याएँ की गई हैं। इस व्याख्या-शैली का दर्शन हमें अनुयोगद्वारसूत्र में होता है। पर अनुयोगद्वार पर न निर्युक्ति लिखी गई है और न कोई भाष्य ही लिखा गया है। अनुयोगद्वार पर सबसे प्राचीन व्याख्याचूर्णि है। चूर्णियाँ प्राकृत अथवा संस्कृत-मिश्रित प्राकृत में लिखी गई व्याख्याएँ हैं। गद्यात्मक होने के कारण चूर्णियों में भावनाभिव्यक्ति निर्बाध गति से हो पाई है। वह भाष्य और निर्युक्ति की अपेक्षा अधिक विस्तृत पर चतुर्मुखी ज्ञान का स्रोत है। अनुयोगद्वार पर दो चूर्णियाँ उपलब्ध हैं। एक चूर्णि के रचयिता जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं, जो केवल अंगुल पद पर है। दूसरी अनुयोगद्वारचूर्णि के रचयिता जिनदासगणी महत्तर हैं वे संस्कृत और प्राकृत के अधिकारी विज्ञ थे। इनके गुरु का नाम गोपालगणी था, जो वाणिज्यकुलकोटिक गण और वज्रशाखा के विद्वान् थे[८६] और उनके विद्यागुरु प्रद्युम्न क्षमाश्रमण थे।[८७] उनके पिता का नाम नाग था[८८] और माता का नाम गोपा था।[८९]

जिनदासमहत्तर के जीवन के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। नन्दीचूर्णि के अन्त में उन्होंने जो अपना परिचय दिया है, वह बहुत ही अस्पष्ट

है।[९०] उत्तराध्ययनचूर्णि में उन्होंने अपने गुरु का नाम एवं कुल, गण और शाखा का उल्लेख किया है, पर स्वयं के नाम का उल्लेख नहीं किया।[९१] निशीथचूर्णि के प्रारम्भ में उन्होंने प्रद्युम्न क्षमाश्रमण का विद्यागुरु के रूप में उल्लेख किया है। निशीथचूर्णि के अन्त में उन्होंने अपना परिचय रहस्य शैली में दिया है। वे लिखते हैं–अकारादि स्वरप्रधान वर्णमाला को एक वर्ग मानने पर अवर्ग से सवर्ग तक आठ वर्ग बनते हैं। प्रस्तुत क्रम से तृतीय 'च' वर्ग का तृतीय अक्षर 'ज', चतुर्थ 'ट' वर्ग का पंचम अक्षर 'ण', पंचम 'त' वर्ग का तृतीय अक्षर 'द', अष्टम वर्ग का तृतीय अक्षर 'स' तथा प्रथम 'अ' वर्ग की मात्रा 'इकार' द्वितीय मात्रा 'आकार' को क्रमशः 'ज' और 'द' के साथ मिला देने पर जो नाम होता है, उसी नाम को धारण करने वाले व्यक्ति ने प्रस्तुत चूर्णि का निर्माण किया है।[९२]

चूर्णि

अनुयोगद्वारचूर्णि के रचयिता जिनदासगणी महत्तर ही हैं। उनका समय विक्रम संवत् ६५० से ७५० के मध्य है। क्योंकि नन्दीचूर्णि की रचना विक्रम संवत् ७३३ में हुई है।

अनुयोगद्वारचूर्णि मूलसूत्र का अनुसरण करते हुए लिखी गई है। इस चूर्णि में प्राकृत भाषा का ही मुख्य रूप से प्रयोग हुआ है। संस्कृत भाषा का प्रयोग अतिअल्प मात्रा में हुआ है। इसमें आराम, उद्यान, शिविका प्रभृति शब्दों की व्याख्या है। प्रारम्भ में मंगल के सम्बन्ध में भावनन्दी का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए ज्ञान के पाँच भेदों पर चिन्तन न कर यह लिखा है कि इस पर हम नन्दीचूर्णि में व्याख्या कर चुके हैं। अतः उसका अवलोकन करने हेतु प्रबुद्ध पाठकों को सूचन किया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि अनुयोगद्वारचूर्णि नन्दीचूर्णि के पश्चात् लिखी गई। अनुयोगविधि और अनुयोगार्थ पर चिन्तन करते हुए आवश्यक पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। आनुपूर्वी पर विवेचन करते हुए कालानुपूर्वी का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए उन्होंने पूर्वांगों का परिचय दिया है। सप्त स्वरों का संगीत की दृष्टि से गहराई से चिन्तन किया है। वीर, शृंगार, अद्भुत, रौद्र, ब्रीडनक, वीभत्स, हास्य, करुण और प्रशान्त इन नौ रसों का सोदाहरण निरूपण है। आत्मांगुल, उत्सेधांगुल, प्रामाणांगुल, कालप्रमाण, मनुष्य आदि प्राणियों का प्रमाण गर्भज आदि मानवों की संख्या आदि पर

विवेचन किया गया है। ज्ञान और प्रमाण, संख्यात-असंख्यात, अनन्त आदि विषयों पर भी चूर्णिकार ने प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, जो सुप्रसिद्ध भाष्यकार रहे हैं, जिन्होंने अनुयोगद्वार के अंगुल पद पर एक चूर्णि लिखी थी, उस चूर्णि को जिनदासगणी महत्तर ने अक्षरशः उद्धृत किया है।[९३] प्रस्तुत चूर्णि में आचार्य ने अपना नाम भी दिया है।[९४]

टीका-साहित्य

चूर्णि के पश्चात् जैन मनीषियों ने आगम-साहित्य पर संस्कृत में अनेक टीकाएँ लिखी हैं। टीकाकारों में आचार्य हरिभद्रसूरि का नाम सर्वप्रथम है। वे प्राचीन टीकाकार हैं। हरिभद्रसूरि प्रतापपूर्ण प्रतिभा के धनी आचार्य थे। उन्होंने अनेक आगमों की टीकाएँ लिखी हैं। अनुयोगद्वार पर भी उनकी एक महत्त्वपूर्ण टीका है, जो अनुयोगद्वारचूर्णि की शैली पर लिखी गई है। टीका के प्रारम्भ में उन्होंने सर्वप्रथम श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार कर अनुयोगद्वार पर विवृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है।[९५] अनुयोगवृत्ति का नाम उन्होंने शिष्यहिता दिया है। इस वृत्ति की रचना नन्दी विवरण के पश्चात् हुई है।[९६] मंगल आदि शब्दों का विवेचन नन्दीवृत्ति में हो जाने के कारण इसमें विवेचन नहीं किया है, ऐसा टीकाकार का मत है। आवश्यक शब्द पर निक्षेपपद्धति से चिन्तन किया है। श्रुत पर निक्षेपपद्धति से विचार कर टीकाकार ने चतुर्विध श्रुत के स्वरूप को आवश्यक विवरण से समझाने का सूचन किया है। स्कन्ध, उपक्रम आदि को भी निक्षेप की दृष्टि से समझाने के पश्चात् विस्तार के साथ आनुपूर्वी का प्रतिपादन किया है। आनुपूर्वी के अनुक्रम, अनुपरिपाटी, ये पर्यायवाची बताये हैं। आनुपूर्वी के पश्चात् द्विनाम से लेकर दशनाम तक का व्याख्यान किया गया है। प्रमाण पर चिन्तन करते हुए विविध अंगुलों के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है और समय से लेकर पल्योपम-सागरोपम तक का वर्णन किया गया है। भावप्रमाण के वर्णन में प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य, आगम, दर्शन, चारित्रनय और संख्या पर विचार किया है। ज्ञाननय और क्रियानय के समन्वय की उपयोगिता सिद्ध की गई है।[९७]

अनुयोगद्वार पर दूसरी वृत्ति मलधारी आचार्य हेमचन्द्र की है। आचार्य हेमचन्द्र महान् प्रतिभा-सम्पन्न और आगमों के समर्थ ज्ञाता थे। यह वृत्ति

सूत्रस्पर्शी है। सूत्र के गुरु गम्भीर रहस्यों को इसमें प्रकट किया गया है। वृत्ति के प्रारम्भ में श्रमण भगवान महावीर को, गणधर गौतम प्रभृति आचार्यवर्ग को एवं श्रुत देवता को नमस्कार किया गया है।

वृत्तिकार ने इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि प्राचीन मेधावी आचार्यों ने चूर्णि व टीकाओं का निर्माण किया है। उनमें उन आचार्यों का प्रकाण्ड पाण्डित्य झलक रहा है। तथापि मैंने मन्दबुद्धि व्यक्तियों के लिए इस पर वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति ग्रन्थकार की प्रौढ़ रचना है। कृति के अध्ययन से ग्रन्थकार की गहन अध्ययनशीलता का अनुभव होता है। आगम के मर्मस्पर्शी विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्य आगम के एक मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनकी प्रस्तुत वृत्ति अनुयोगद्वार की गहनता को समझाने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। आचार्य हरिभद्र की टीका अत्यन्त संक्षिप्त थी और वह मुख्य रूप से प्राकृत चूर्णि का ही अनुवाद थी। आचार्य हेमचन्द्र ने सुविस्तृत टीका लिखकर पाठकों के लिए अनुयोगद्वार को सरल और सुग्राह्य बना दिया है। वृत्ति में यत्र-तत्र अन्य ग्रन्थों के श्लोक उद्धृत किए गये हैं। वृत्ति का ग्रन्थमान ५,९०० श्लोक प्रमाण है। पर वृत्ति में रचना के समय का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।

संस्कृत टीका युग के पश्चात् लोक भाषाओं में बालावबोध की रचनाएँ प्रारम्भ हुईं, क्योंकि टीकाओं में दार्शनिक विषयों की चर्चाएँ चरम सीमा पर पहुँच गई थीं। जनसाधारण उन विषयों को सहज रूप से नहीं समझ सकता था, अतः जनहित की दृष्टि से आगमों के शब्दार्थ करने वाले संक्षिप्त लोकभाषाओं में टब्बाओं का निर्माण किया। स्थानकवासी आचार्य मुनि धरमसिंह जी ने विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में सत्ताईस आगमों पर बालावबोध टब्बे लिखे। टब्बे मूलस्पर्शी अर्थ को स्पर्श करते हैं। सामान्य व्यक्तियों के लिए ये बहुत ही उपयोगी हैं। अनुयोगद्वार पर भी एक टब्बा लिखा हुआ है।

टब्बा के पश्चात् आगमों का अनुवाद-युग प्रारम्भ हुआ। आचार्य अमोलक ऋषि जी म. ने स्थानकवासी परम्परामान्य बत्तीस आगमों का हिन्दी अनुवाद किया। उसमें अनुयोगद्वार भी एक है। यह अनुवाद सामान्य पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य श्री आत्माराम जी म. ने आगमों के रहस्यों को समुद्घाटित करने हेतु अनेक आगमों पर हिन्दी में व्याख्याएँ लिखीं। वे व्याख्याएँ सरल, सरस और सुगम हैं। उन्होंने अनुयोगद्वार पर भी संक्षिप्त विवेचन लिखा।

स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्री घासीलाल जी म. ने संस्कृत में विस्तृत टीकाएँ लिखीं। उन टीकाओं का हिन्दी और गुजराती में अनुवाद भी किया। प्रायः उनके रचित बत्तीस आगमों की टीकाएँ मुद्रित हो चुकी हैं। लेखक ने अनेक ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये हैं।

इस प्रकार अनुयोगद्वारसूत्र पर अनेक मूर्धन्य मनीषियों ने कार्य किया है। जब प्रकाशन युग प्रारम्भ हुआ तब सर्वप्रथम सन् १८८० में अनुयोगद्वारसूत्र मलधारी हेमचन्द्रकृत वृत्ति सहित रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। उसके पश्चात् सन् १९१५-१९१६ में वही आगम देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई से प्रकाशित हुआ है। पुनः सन् १९२४ में आगमोदय समिति, बम्बई से वह वृत्ति प्रकाशित हुई और सन् १९३९-१९४० में केसरबाई ज्ञान मन्दिर, पाटन से यह वृत्ति प्रकाशित हुई।

सन् १९२८ में अनुयोगद्वार हरिभद्रकृत वृत्ति सहित ऋषभदेव जी केशरीमल जी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम से प्रकाशित हुआ।

वीर संवत् २४४६ में सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद ने अनुयोगद्वार आचार्य अमोलक ऋषि जी द्वारा किये गये हिन्दी अनुवाद को प्रकाशित किया।

सन् १९३१ में श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस, बम्बई ने उपाध्याय श्री आत्माराम जी म. कृत हिन्दी अनुवाद का पूर्वार्ध प्रकाशित किया और उसका उत्तरार्ध मुरारीलाल चरणदास जैन, पटियाला ने प्रकाशित किया।

अनुयोगद्वारसूत्र का मूल पाठ अनेक स्थलों से प्रकाशित हुआ है, पर महावीर विद्यालय, बम्बई का संस्करण अपनी शानी का है। शुद्ध मूल पाठ के साथ ही प्राचीनतम प्रतियों के आधार से महत्त्वपूर्ण टिप्पण भी दिये हैं और आगमप्रभावक श्री पुण्यविजय जी म. की महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना भी है।

प्रस्तुत आगम

स्वर्गीय सन्तरत्न युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म. ने आगम बत्तीसी के प्रकाशन का दायित्त्व वहन किया और उनकी प्रबल प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर अनेक मूर्धन्य मनीषियों ने आगम सम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया। विविध मनीषियों के पुरुषार्थ से स्वल्प समय में अनेक आगम प्रकाशित होकर प्रबुद्ध पाठकों के हाथों में पहुँचे। प्रायः शुद्ध मूल पाठ, अर्थ और संक्षिप्त विवेचन के कारण यह संस्करण अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है।

प्रस्तुत जिनागम ग्रन्थमाला के अन्तर्गत अनुयोगद्वारसूत्र का शानदार प्रकाशन होने जा रहा है। पूर्व परम्परा की तरह इसमें भी शुद्ध मूल पाठ, हिन्दी अनुवाद और विवेचन किया गया है। इस आगम के सम्पादक और विवेचक हैं उपाध्याय श्री केवल मुनि जी म.। आप ज्योतिपुरुष जैनदिवाकर श्री चौथमल जी म. के शिष्यरत्न हैं। आप प्रसिद्ध प्रवचनकार, संगीतकार, कहानीकार, उपन्यासकार और निबन्धकार हैं। आपकी तीन दर्जन से अधिक पुस्तकें विविध विधाओं में प्रकाशित हुई हैं और वे अत्यधिक लोकप्रिय भी हुई हैं। आपश्री जीवन के उषाकाल में गीतकार रहे, शताधिक सरस-सरल भजनों का निर्माण कर जन-जन के प्रिय बने। उसके पश्चात् विविध विषयों पर कहानियाँ लिखीं, कहानियों के माध्यम से उन्होंने जन-जीवन में सुख और शान्ति का सरसब्ज बाग किस प्रकार लहलहा सकता है, इस पर प्रकाश डाला। उसके पश्चात् उनकी लेखनी उपन्यास की विधा की ओर मुड़ी। पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक कथाओं को उन्होंने उपन्यास विधा में प्रस्तुत कर जनमानस का ध्यान जैन-साहित्य को पढ़ने के लिए उत्प्रेरित किया। साथ ही उन्होंने ललित शैली में निबन्ध लिखकर अपनी उत्कृष्ट साहित्यिक रुचि का परिचय दिया।

अनुयोगद्वार जैन आगम-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है जैसा कि हम पूर्व पंक्तियों में बता चुके हैं। अनुयोगद्वार का सम्पादन करना बहुत ही कठिन है। किन्तु उपाध्यायश्री जी ने सुन्दर सम्पादन कर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। यह सम्पादन अपने आप में अनूठा है। जिज्ञासु पाठकों के लिए अनुयोगद्वार का यह सुन्दर संस्करण अति उपयोगी सिद्ध होगा। सम्पादनकला विशारद पं. शोभाचन्द जी भारिल्ल ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से परिमार्जन कर सोने में सुगन्ध का कार्य किया है।

मैं प्रस्तुत आगम पर बहुत ही विस्तार से प्रस्तावना लिखना चाहता था, पर पूना सन्त-सम्मेलन होने के कारण पाली से पूना पहुँचना बहुत ही आवश्यक था। निरन्तर विहार-यात्रा चलने के कारण तथा सम्मेलन के भीड़-भरे वातावरण में भी लिखना सम्भव नहीं था। सम्मेलन में महामहिम राष्ट्रसंत आचार्यसम्राट् श्री आनन्द ऋषि जी म. ने मुझे संघ का उत्तरदायित्व प्रदान किया, इसलिए समयाभाव रहना स्वाभाविक था। उधर प्रस्तावना के लिए निरन्तर आग्रह आता रहा कि लघु प्रस्तावना ही लिखकर भेज दें। समयाभाव के कारण संक्षेप में ही कुछ लिख गया हूँ। यदि कभी समय मिल गया तो विस्तार

से अनुयोगद्वार पर लिखने की भावना रखता हूँ। परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. का मैं किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ। उनकी अपार कृपा मुझ पर रही है। प्रस्तुत प्रस्तावना लिखने में भी उनका पथ-प्रदर्शन मेरे लिए सम्बल रूप में रहा है।

अन्त में मैं आशा करता हूँ कि प्रबुद्ध पाठकगण प्रस्तुत आगम का स्वाध्याय कर अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करेंगे और जीवन को पावन-पवित्र बनायेंगे। ●●

उद्धृत संदर्भ-स्थल सूची

१. "ऋषिदर्शनात्।" —निरुक्त २/११

२. "साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बुभूवुः।" —वही १/२०

३. "सासिज्जए तेण तहिं वा नेयमावावतो सत्थं।"
टीका—"शासु अनुशिष्टौ शास्यते ज्ञेयमात्मा वाऽनेनास्मादस्मिन्निति वा शास्त्रम्।"
—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १३८४

४. "सुत्तं गणधरकधिदं, तहेव पत्तेयबुद्धकधिदं च।
सुदकेवलिणा कधिदं, अभिण्णदसपुव्वि कधिदं च॥" —मूलाचार ५/८०

५. "अप्पग्गंथ महत्थं, बत्तीसा दोसविरहियं जं च।
लक्खणजुत्तं सुत्तं, अट्ठेहि गुणेहि उववेयं॥
अप्पक्खरमसंदिद्धं च, सारवं विस्सओ मुहं।
अत्थोभमणवज्जं च, सुत्तं सव्वण्णुभासियं॥" —आवश्यकनिर्युक्ति ८८०, ८८६

६. "मलिनस्य यथात्यन्तं, जलं वस्त्रस्य शोधनम्।
अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः॥" —योगबिन्दु प्रकरण २/९

७. समवायांग १४/१३६

८. "अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं तं जहा—अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च।"
—नन्दीसूत्र ४३

९. (क) आवश्यकनिर्युक्ति ३६३-३७७
(ख) विशेषावश्यकभाष्य २२८४-२२९५
(ग) दशवैकालिकनिर्युक्ति, ३ टीका

१०. "युज्यते संबध्यते भगवदुक्तार्थेन सहेति योगः।"

११. "अणुसूत्रं महानर्थस्ततो महतोर्थस्याणुना सूत्रेण योगो अनुयोगः।"

१२. देखो—'अणुओग' शब्द, पृष्ठ ३४०

१३. ''अणुणा जोगो अणुजोगो, अणुपच्छाभावओ य थेवे य।
जम्हा पच्छाऽभिहियं, सुत्तं थोवं च तेणाणु॥'' –बृहत्कल्प १, गाथा १९०

१४. ''सूत्रस्यार्थेन सहानुकूलं योजनमनुयोगः।
अथवा अभिधेये व्यापारः सूत्रस्य योगः॥
अनुकूलोऽनुरूपो वा योगो अनुयोगः।
यथा घटशब्देन घटस्य प्रतिपादनमिति॥''
–आवश्यकनिर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति नि. १२७

१५. आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीया वृत्ति १३०

१६. (क) समवायांग, अभयदेव वृत्ति १४७
(ख) स्थानांग ४/१/२६२, पृष्ठ २००

१७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–प्रमेयरत्नमंजूषा वृत्ति, पृष्ठ ४-५

१८. ''अणुजोयणमणुजोगो सुयस्स, नियएण जमाभिधेयेणं।
वावारो वा जोगो जो, अणुरूवोऽणुकूलो वा॥''
–विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १३८३

१९. ''परिक्कमे, सुत्ताइं, पुव्वगए, अणुयोगे, चूलिया।''
–श्रीमलयगिरीयानंदीवृत्ति, पृष्ठ २३५

२०. ''पढमाणुओगे, गंडियाणुओगे।'' –श्रीनन्दीचूर्णि मूल, पृष्ठ ५८

२१. ''इह मूलभावस्तु तीर्थंकरः तस्य प्रथमं पूर्वभवादि अथवा मूलस्स पढमाणुओगे एत्थतित्वगरस्स अतीतभवपरियाय परिसत्तई भाणियव्वा।''
–श्रीनंदीवृत्तिचूर्णि, पृष्ठ ५८

२२. ''से किं तं गंडियाणुयोगे ? गंडियाणुयोगे अणेगविहे पण्णत्ते···· ।''
–श्रीसमवायांगवृत्ति, पृष्ठ १२०

२३. ''पञ्चकल्पचूर्णि।'' –कालकाचार्य प्रकरण, पृष्ठ २३-२४

२४. ''चत्तारिउ अणुओगा, चरणे धम्म गणियाणुओगे य।
दवियाऽणुओगे य तहा, जहकम्मं ते महड्ढीया॥''
–अभिधानराजेन्द्रकोष, प्रथम भाग, पृष्ठ २५६

२५. ''प्रथमानुयोगो-चरणानुयोगो-करणानुयोगो-द्रव्यानुयोगो इत्युक्तलक्षणानुयोग चतुष्टयरूपे चतुर्विधं श्रुतज्ञानं ज्ञातव्यम्।'' –द्रव्यसंग्रह टीका ४२/१८२

२६. पंचास्तिकाय १७३

२७. तत्त्वार्थवृत्ति २५४/१५

२८. (क) आवश्यकनिर्युक्ति ३६३-७७७
(ख) विशेषावश्यकभाष्य २२८४-२२९५

२९. "गृहमेध्यनगाराणां, चारित्रोत्पत्ति-वृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥" —रत्नकरण्ड श्रावकाचार ४५

३०. द्रव्यसंग्रह टीका ४२/१८२/९

३१. "सकलेतरचारित्र-जन्म रक्षा विवृद्धिकृत्।
विचारणीयश्चरणानुयोगश्चरणादृतैः॥" —अनगारधर्मामृत ३/११, पं. आशाधर जी

३२. "धम्मकहा नाम जो, अहिंसादिलक्खणं सव्वण्णुपणीयं।
धम्मं अणुयोगं वा, कहेइ एसा धम्मकहा॥" —दशवैकालिकचूर्णि, पृष्ठ २९

३३. "अहिंसालक्षणधर्मान्वाख्यानं धर्मकथा।" —अनुयोगद्वार टीका, पृष्ठ १०

३४. "यतोऽभ्युदयनिः, श्रेयसार्थ-संसिद्धिरंजसा।
सद्धर्मस्तन्निबद्धा या, सा सद्धर्मकथा स्मृता॥"
—महापुराण, महाकवि पुष्पदंत १/१२०

३५. "प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं, चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं, बोधति बोधः समीचीनः॥" —रत्नकरण्ड श्रावकाचार ४३

३६. "लोकालोक-विभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथा मतिरवैति करणानुयोगं च॥" —वही ४४

३७. "जीवाजीवसुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोग-दीपः, श्रुतविद्या लोकमातनुते॥" —वही ४६

३८. "दव्वस्स जोऽणुओगो, दव्वे दव्वेण दव्वहेऊ वा।
दव्वस्स पज्जवेण व, जोगो दव्वेण वा जोगो॥
बहुवयणओऽवि एवं नेओ, जो वा कहे अणुवउत्तो।
दव्वाणुओग एसो.....॥" —विशेषावश्यकभाष्य १३९८-१३९९

३९. "जावंतं अज्जवइरा, अपुहुत्तं कालिआणुओगस्स।
तेणारेण पुहुत्तं, कालिअसुइ दिट्ठिवाए अ॥"
—आवश्यकनिर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति, गाथा १६३, पृष्ठ ३८३

४०. "यावदार्यवज्रा—आर्यवज्रस्वामिनो मुखो महामतयपस्तावत्कालिकानुयोगस्य कालिकश्रुतव्याख्यानस्यापृथक्त्वं-प्रतिसूत्रं चरणकरणानुयोगादीनामविभागेन वर्तनमासीत्, तदासाधूनां तीक्ष्णप्रज्ञत्वात्। कालिकग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यथा सर्वानुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्।"
—वही, पृष्ठ ३८३, प्रकाशन—आगमोदय समिति

४१. "अपुहुत्ते अणिओगो, चत्तारि दुवार भासए एगो।
पुहुत्ताणुओग करणे, ते अत्थ तओवि वोच्छिन्ना॥

किं वइरेहिं पुहुत्तं, कयमह तदणंतरेहिं भणियम्मि।
तदणंतरेहिं तदभिहिय, गहिय सुत्तत्थ सारेहि॥''

—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २२८६-२२८७

४२. (क) ''देविंदवंदिएहि, महाणुभावोहि रक्खियज्जेहिं।
जुगुमासज्ज विभत्तो, अणुयोगो तो कओ चउहा॥
चत्तारि अणुयोग, चरणधम्मगणियाणुयोग य।
दव्वियणुयोगे तहा, जहक्कमं महिड्ढिया॥'' —अभिधानराजेन्द्रकोष

(ख) ''कालिय सुयं च इसिभासिआइं, तइओ अ सूरपन्नत्ती।
सव्वोअ दिट्ठिवाओ, चउत्थओ होइ अणुओगो॥'' —आवश्यकनिर्युक्ति १२४

४३. ''अणुयोगो अणियोगो, भास विभासा य वत्तियं चेव।
एते अणुओगस्स तु, णामा एगट्ठिया पंच॥''

—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२६, विशेषावश्यक १३८२, बृहत्कल्पभाष्य १८७

४४. विशेषावश्यकभाष्य १४१८-१४२०

४५. बृहत्कल्पभाष्य, गाथा १९५-१९६, १९८-१९९

४६. नंदिसुत्तं–अणुओगद्दाराइं–प्रस्तावना, पुण्यविजय जी म., पृष्ठ ३७–३९

४७. ''सुयं सुत्तं गंथं सिद्धन्त, सासणं आण त्ति वयण उवएसो।
पण्णवणे आगमे वि य, एगट्ठा पज्जवा सुत्ते॥'' —सूत्र ४२, गाथा १

४८. ''गण काय निकाए चिए, खंधे वग्गे तहेव रासी य।
पुंजे य पिण्डे निगरे, संघाए आउल समूहे॥'' —सूत्र १२, गाथा १ (स्कन्धाधिकार)

४९. प्रत्यक्षप्रमाण का विस्तृत विवरण नन्दीसूत्र के विवेचन में दिया गया है। इसके अतिरिक्त देखिए–लेखक का 'जैन आगम साहित्य : मनन मीमांसा' ग्रन्थ

५०. जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण (लेखक–देवेन्द्र मुनि शास्त्री), पृष्ठ ३७६-४०५

५१. ''गहणं आदाणं ति होति, णिसद्दो तहाहियत्थम्मि।
खिव पेरणे व भणितो, अहिउक्खेवो तु णिक्खेवो।।''

—जीतकल्पभाष्य ८०९ (बबलचन्द्र केशवलाल मोदी, अहमदाबाद)

५२. ''निक्षिप्यतेऽनेनेति निक्षेपः।
नियतो निश्चितो क्षेपो निक्षेपः॥'' —सूत्रकृतांगचूर्णि १, पृष्ठ १७

५३. ''जुत्ती सुजुत्तमग्गे जं, चउभेयेण होइ खलु ठवणं।
वज्जे सदि णामादिसु, तं णिक्खेवं हवे समये॥'' —बृहद्नयचक्र २६९

५४. ''वस्तु नामादिषु क्षिपतीति निक्षेपः।'' —नयचक्र ४८

५५. "संशयविपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितस्तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः।" —धवला ४/१, ३, १/२/६

५६. "णिच्छए णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेओ।" —वही, पु. १, पृष्ठ १०

५७. "नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः।" —तत्त्वार्थसूत्र १/५

५८. "उपायो न्यास उच्यते।" —धवला १/१/१/१, गाथा ११/१७

५९. "अनुगम्यतेऽनेनास्मिश्चेति अनुगमः।" —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ९

६०. "अत्थातो सुत्तं अणु, तस्स अणुरूवगमणत्ताओ अनुगमो।" —अनुयोगद्वारचूर्णि, पृष्ठ १८

६१. "सूत्रार्थानुकूलगमनं वा अनुगमः।" —वही, पृष्ठ २३

६२. "सूत्रपठनादनु पश्चाद् गमनं-व्याख्यानमनुगमः।
अनुसूत्रमर्थो गम्यते-ज्ञायते अनेनेत्यनुगमः॥" —अनुयोगद्वार, मलधारी टीका, पृष्ठ ५४

६३. "नयंति गमयंति प्राप्नुवंति वस्तु ये ते नयाः।" —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ २३४

६४. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ ६७६

६५. सर्वार्थसिद्धि १/३३

६६. "जावइया वयणपहा तावइया चेव होन्ति णयवाया।" —सन्मतितर्क, गाथा ४७

६७. "सत्त मूलनया पं. तं.–नेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुते, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूते।" —स्थानांग ७/५५२

६८. "से किं तं णयगती? जण्णं णेगमसंगहववहारउज्जुसुयसद्दसमभिरूढएवंभूयाणं नयाणं जा गती, अथवा सव्वणया वि जं इच्छति।" —प्रज्ञापना, पृष्ठ १६

६९. "तिहं सद्दनयाणं।" —अनुयोगद्वार १४८

७०. "सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगमः।" —जैनतर्कभाषा

७१. "णेगेहिं माणेहिं मिय इत्ति णेगमस्स य निरुत्ती।" —अनुयोगद्वारसूत्र

७२. "सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः।" —जैनतर्कभाषा

७३. "स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदान् विशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः।" —सर्वार्थसिद्धि १/३३

७४. "सममेकीभावसम्यक्त्वे, वर्तमानो हि गृह्यते।
निरुक्त्या लक्षणं तस्य, तथासति विभाव्यते॥" —श्लोकवार्तिक १/३३

७५. "व्यवहारमनपेक्ष्य सत्तादिरूपेण सकलवस्तुसंग्राहकः संग्रहनयः।" —धवलाखण्ड १३

७६. "संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसंधिना क्रियते स व्यवहारः।" —जैनतर्कभाषा

७७. ''संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु येन व्यवहियते इति व्यवहारः।''
—आप्तपरीक्षा ९

७८. (क) ''ऋजु वर्तमानक्षणस्थायिपर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः।''
(ख) ''पच्चुप्पन्नगाही उज्जुसुओ णयविही मुणेअव्वो।'' —जैनतर्कभाषा

७९. ''कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः। कालकारकलिंगसंख्या-पुरुषोपसर्गाः कालादयः।'' —वही

८०. ''पर्यायशब्देषु निर्युक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः।'' —वही

८१. ''येनात्मनाभूतस्तेनैवाध्यवसायतीति एवंभूतः। —सर्वार्थसिद्धि १/३३

८२. 'नन्दीसुत्तं अनुयोगदाराइं' की प्रस्तावना, पृष्ठ ५२-७०

८३. ''अपुहुत्तमेगभावो सुत्ते, सुत्ते सुवित्थरं जत्थ।
भन्नंतणुओगा, चरणधम्मसंखाणदव्वाण॥'' —आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, पृष्ठ ३८३

८४. ''जावंति अज्जवइरा, अपुहुत्तं कालियाणुओगे य।
तेणारेण पुहुत्तं, कालियसुय दिट्ठिवाये य॥'' —वही

८५. (क) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, पृष्ठ ३९९
(ख) प्रभावकचरित्र २४०-२४३, पृष्ठ १७
(ग) ऋषिमण्डल स्तोत्र २१०

८६. ''वाणिजकुलसंभूतो, कोडियगणितो य वज्जसाहीतो।
गोवालियमहत्तरओ, विक्खातो आसि लोगम्मि॥
ससमय-परसमयविऊ, ओयस्सी देहिगं सुगंभीरो।
सीसगणसंपरिवुडो, वक्खाणरतिप्पियो आसी॥
तेसिं सीसेण इमं, उत्तज्झयणाण चुण्णिरखंडं तु।
रइयं अणुग्गहत्थं, सीसाणं मंदबुद्धीणं॥'' —उत्तराध्ययनचूर्णि, गाथा १-३

८७. ''सविसेसायरजुत्तं, काउ पणामं च अत्थदायिस्स।
पज्जुण्णखमासमणस्स, चरण-करणाणुपालस्स॥'' —निशीथविशेषचूर्णि पीठिका २

८८. ''संकरजडमउडविभूसणस्स, तण्णामसरिसणामस्स।
तस्स सुतेणेस कता, विसेसचुण्णी णिसीहस्स॥'' —वही, उद्देशक १३

८९. ''रविकरमभिधाणक्खरसत्तमवग्गंत-अक्खरजुएणं।
णामं जस्सित्थिए, सुतेण तिसे कया चुण्णी॥'' —वही, उद्देशक १५

९०. ''णिरेणगमत्तणहसदाजिया पसुपतिसंखगजट्ठिताकुला।
कमट्ठिता धीमतचिंतियक्खरा फुडं, कहेयंतऽभिधाण कत्तुणो॥'' —नन्दीचूर्णि १

९१. उत्तराध्ययनचूर्णि १-३

९२. "ति चउ पण अट्ठमवग्गे, ति तिग अक्खरा व तेंसि।
पढमततिएही तिदुसरजुएही णामं कयं जस्स॥" —निशीथचूर्णि

९३. गणधरवाद पं. दलसुख मालवणिया, पृष्ठ २११

९४. "श्री श्वेताम्बराचार्य श्री जिनदासगणिमहत्तर-पूज्यपादानामनुयोगद्वाराणां चूर्णिः।" —अनुयोगद्वारचूर्णि

९५. "प्रणिपत्य जिनवरेन्द्रं, त्रिदशेन्द्रनरेन्द्रपूजितं वीरम्।
अनुयोगद्वाराणां प्रकटार्थां, विवृत्तिमभिधारये॥" —अनुयोगद्वार वृत्ति १

९६. "नन्वध्ययनव्याख्यानसमनन्तरमेवानुयोगद्वाराध्ययनावकाशः।" —वही, पृष्ठ १

९७. "विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता।
मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात्॥
क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत्॥" —वही, पृष्ठ १२६-१२७

卐

नन्दीसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वास्तविक आनन्द कहाँ, किसमें और कब ?

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख की शोध में भटक रहा है। सुख-प्राप्ति के लिए वह नाना प्रकार के उपाय करता है, अनेक पदार्थों और पाँचों इन्द्रियों को सुख-प्राप्ति का उपाय समझकर आसक्तिवश अपनाता है। परन्तु जिन पदार्थों, विषयभोगों अथवा व्यक्तियों को उसने आसक्तिवश अपनाया या अपनाकर सुख का स्वप्न देखा, भौतिक समृद्धि के सरोवर में नहाकर आनन्द की कल्पना की, उतना ही वह वास्तविक सुख से, परम आनन्द से, आत्मिक समृद्धि से दूरातिदूर होता गया। संसार का प्रायः प्रत्येक प्राणी दुःख, कष्ट, पीड़ा, अशान्ति और विपत्ति आदि की भीषण ज्वाला से परित्राण पाने के लिए यद्यपि इधर-उधर भाग-दौड़ कर रहा है; फिर भी उस अव्याबाध अजस्र सुख की अनन्त धारा से बहुत दूर होता जा रहा है। उसे आत्मिक सुख या परम आनन्द तथा सर्वकर्मक्षय होने से निर्वाणरूप अनन्त शान्ति की प्राप्ति न होने में मूलभूत कारण है–अज्ञान, मिथ्यात्व एवं मिथ्या ज्ञान। अज्ञान ही उसे संसाररूपी भयंकर अटवी में भटकाने वाला है। जब मनुष्य के अन्तःकरण में अज्ञान, मिथ्या ज्ञान, मिथ्यात्व एवं मोह की अन्धकारमयी भीषण आँधी चलती है, तब वह भ्रान्त होकर अपने लक्ष्य की दिशा तथा आत्मानन्द के पथ से भटक जाता है। ऐसे अज्ञानान्धकार में भटकते हुए प्राणी की आत्मा में ज्यों ही ज्ञानालोक की अनन्त रश्मियाँ प्रस्फुटित होती हैं, त्यों ही उसे निज स्वरूप का भान एवं परिज्ञान हो जाता है। ऐसी स्थिति में जब वह परभावों और विभावों से हटकर आत्म-भावों में रमण करने लगता है, तब उसे अपनी आत्मा में ही विद्यमान परम आनन्द, निजानन्द या अनन्त अव्याबाध आत्मिक सुख तथा विकल्प शून्य निराकुलता-निर्विकल्पता से युक्त आत्मानन्द की अनुभूति होने लगती है। श्रमण भगवान महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में इसी तथ्य की ओर निर्देश किया है–

"नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स उ संखएण, एगंत-सोक्खं समुवेइ मोक्खं॥"[1]

इसका भावार्थ यह है कि समग्र ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह से रहित हो जाने पर तथा राग और द्वेष के क्षय हो जाने से आत्मा एकान्त सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेती है। तात्पर्य यह है कि एक मात्र शुद्ध सम्यक् ज्ञान ही अव्याबाध सुख का, परम आनन्द का मूल स्रोत है।

ज्ञान आत्मा का निजी गुण : किन्तु आवृत होने से प्रकट नहीं हो पाता

ज्ञान आत्मा का निजी गुण भी है, वह आत्मा में ही विद्यमान है, पृथक् नहीं है, किन्तु राग, द्वेष, मोहादिवश कर्मों से आवृत, कुण्ठित, सुषुप्त एवं भ्रान्त होने के कारण आत्मा अपने पास सम्यक् ज्ञान होते हुए भी अविद्या, मिथ्यात्व एवं अज्ञान के कारण दुःख पाता रहता है। वह दुःखबीज भौतिक या वैषयिक सुख को ही सुख समझ लेता है और इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग में दुःख की एवं इष्ट-संयोग और अनिष्ट-वियोग में सुख की कल्पना करता रहता है और राग, द्वेष, मोह के कारण कर्मबन्ध करके जन्म-मरणादि रूप दुःख पाता रहता है।

एकान्त आत्मिक सुख की प्राप्ति सम्यक् ज्ञान में स्व-पुरुषार्थ से ही

निष्कर्ष यह है कि एकान्त अव्याबाध रूप आत्मिक सुख या परम आनन्द की प्राप्ति उसे तभी हो सकेगी, जब वह मिथ्या ज्ञान, मिथ्यात्व, अज्ञान एवं मोहादि के शिलाखण्डों को स्वकीय पुरुषार्थ से हटायेगा। चूँकि जैनदर्शन ऐसी ज्ञात या अज्ञात किसी अन्य शक्ति को स्वीकार नहीं करता, जो उसके अज्ञान को दूर कर दे और उसमें सम्यक् ज्ञान का प्रकाश भर दे। यदि ऐसा होता तो कोई भी मनुष्य अज्ञानान्धकार में न भटकता, सभी प्राणी सम्यक् ज्ञान के प्रकाश को पाकर सुखी, शान्त, सन्तुष्ट एवं आनन्दमग्न हो जाते; किन्तु ऐसा नहीं है। जितने भी पूर्ण ज्ञानी या सम्यक् ज्ञानवान् आत्म-ज्ञानी या आत्मवान् हुए हैं, उन्होंने जिज्ञासु, मुमुक्षु, आत्मार्थी या श्रेयार्थी भव्य जीवों को अपने यथार्थ अनुभव के आधार पर सत्य-ज्ञान का मार्गदर्शन अवश्य किया है। यही कारण है कि तीर्थंकरोक्त सम्यक् ज्ञान के लिए जो स्वयं सत्पुरुषार्थ नहीं करते, उनके लिए कहा है–

"जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुंपंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए॥"[२]

"जितने भी अविद्यावान् (अज्ञानी, मिथ्या ज्ञानी) पुरुष हैं, वे सब अपने लिए दुःखों को उत्पन्न करते हैं, वे मूढ़ इस जन्म-मरणादि दुःखबहुल अनन्त संसार में बार-बार भटकते हैं।" भगवद् गीता में भी कहा गया है–(आत्मा का) "सम्यक् ज्ञान अज्ञान से आवृत है, इसी कारण प्राणी मूर्च्छित–मोहित हो जाते हैं।"[३]

आत्म-ज्ञान से क्या उपलब्ध होता है ?

आशय यह है कि मनुष्य के अन्तःकरण में जब अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्व का भीषण अन्धकारमय अंधड़ चलता है, तब वह भ्रान्त होकर अपने पुरुषार्थ की यथार्थ दिशा और आत्मा के निजी गुणों के पथ से भटक जाता है। परन्तु ज्यों ही वह पर-परिणति से हटकर आत्मा के स्व-भावों-स्व-गुणों में रमण करता है तो उसे अपने निज स्वरूप का, निजानन्द का, स्व-शक्ति का, ज्ञान–भान हो जाता है, जो उसे आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आत्मिक-सुख और आत्म-शक्ति की ओर सतत आगे बढ़ने और मोक्ष रूप अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने की ओर इंगित करता रहता है। अगर किसी मनुष्य को आत्म-ज्ञान (सम्यक् ज्ञान) हो जाता है तो उसे जीवन की विभिन्न समस्याओं का तथा विभिन्न रूपों का समाधान हो जाता है। सांसारिक प्राणी, खासतौर से मानव के जीवन में केवल सुख या आनन्द ही नहीं है और न केवल दुःख है। यदि केवल भौतिक या वैषयिक सुख ही सुख जीवन में होता तो मनुष्य ऊब जाता; वह सुख भी उसे दुःखरूप प्रतीत होता। मानव और मानवेतर प्राणियों का अस्तित्त्व पृथक्-पृथक् होते हुए भी आत्म-ज्ञान उनमें परस्पर आत्मौपम्य सम्बन्ध का प्रतिपादन तथा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ भावनाओं के व्यवहार का कथन करता है।

जैनदर्शन मोक्षवादी दर्शन है। साथ ही अनेकान्तवादी होने से व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से वस्तुतत्त्व का ज्ञान कराता है। यही कारण है कि जैनधर्म के तीर्थंकरों ने तथा गणधरों, आचार्यों तथा पूर्वधरों ने आगमों में यत्र-तत्र शरीर और आत्मा का, आत्मा और अनात्मा का, यानी चेतन (जीव) और अचेतन का, साधु और असाधु का, धर्म और अधर्म का, पुण्य और पाप का, आस्रव और संवर का, बन्ध और निर्जरा तथा मोक्ष का, कर्मों से मुक्त और अमुक्त का तथैव स्वभाव और विभाव (कषाय, राग, द्वेषादि) का स्पष्ट परिज्ञान बताया है। साथ ही ज्ञपरिज्ञा से हेय–उपादेय को भलीभाँति जानकर

प्रत्याख्यान-परिज्ञा से हेय को छोड़ने और उपादेय को ग्रहण करने का विधान भी किया है, आचरण भी बताया है।

ज्ञान और आत्मा पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हुए भी निश्चय दृष्टि से अभिन्न

निष्कर्ष यह है कि ज्ञान और आत्मा व्यवहार दृष्टि से पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हुए भी आचारांगसूत्र में निश्चय दृष्टि से दोनों को अभिन्न बताया गया है– "**जो आत्मा है, वह विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) है, जो विज्ञान (ज्ञान) है, वह आत्मा है।**" आत्मा या जीव का लक्षण भी उपयोग (ज्ञान-दर्शन रूप) अथवा 'चेतना लक्षण' कहा गया है।[४] तैत्तिरीयोपनिषद् में भी कहा गया है–"**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**" अर्थात् सत्य ज्ञान अनन्त है, ब्रह्म रूप है।

मोक्षवादी दार्शनिकों की दृष्टि में मुक्ति के लिए ज्ञान की प्राथमिकता

इसीलिए ज्ञानवाद के प्ररूपक मोक्षवादी समस्त दार्शनिकों ने कहा–"**ऋते ज्ञानान्न मुक्ति।**"[५] अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती। जैनदर्शन का भी यही अभिमत है कि केवलज्ञान (पूर्ण सम्यक् ज्ञान) प्राप्त हुए बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है–"सम्यक् दर्शन (सम्यक् दृष्टि) के बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता और सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र गुण सम्यक् नहीं होता और सम्यक्चारित्र से रहित को मोक्ष (सर्वकर्ममुक्ति) नहीं होता और मोक्ष-प्राप्ति से रहित को निर्वाण नहीं होता।"[६] इससे स्पष्ट है, मोक्षोपाय के सन्दर्भ में सम्यक् ज्ञान को प्राथमिकता दी गई है। संसारी जीवों की आत्मा का ज्ञान तो सिद्धों के समान अनन्त है, परन्तु अभी वह कर्मों से आवृत है, कुण्ठित है, सुषुप्त है अथवा भ्रान्तरूप में है, ज्ञान-साधना में सम्यक् पुरुषार्थ करने पर जब वह अनावृत, जागृत, प्रखर एवं परिपूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है, तब आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध रूप में पहुँचकर अनन्त ज्ञान–अनन्त दर्शनमय (केवलज्ञानी–केवलदर्शनी) हो जाता है। ज्ञान की परिपूर्णता ही आत्मा का–विशेषतः साधक आत्मा का चरम लक्ष्य है। ज्ञान के परिपूर्ण हो जाने पर आत्मा यथाशीघ्र कर्म, देह और जन्म-मरणादि के दुःखों से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

नन्दीसूत्र में ज्ञान से सम्बन्धित समग्र सांगोपांग वर्णन

यही कारण है कि 'नन्दीसूत्र' में आत्मा को परमात्म-पद या मोक्ष प्राप्त करने हेतु विविध पहलुओं से ज्ञान का वर्णन किया गया है। अर्थात् ज्ञान क्या है? वह कितने प्रकार का है? उसके भेद-प्रभेद कितने हैं? उनमें परोक्ष और

प्रत्यक्ष ज्ञान कितने हैं? ज्ञान के विविध प्रकारों के लक्षण क्या-क्या हैं? वे किस-किस प्रकार से प्राप्त होते हैं? सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान (अज्ञान) कितने हैं? उनके क्या-क्या लक्षण हैं? ज्ञान के मुख्य स्रोत रूप आगम कितने हैं? आगमों तथा ज्ञान के, श्रुत के प्ररूपक, उपदेश, रचयिता कौन-कौन हैं या हुए हैं? आप्त और आगम का लक्षण क्या-क्या है? इत्यादि ज्ञान से सम्बन्धित सांगोपांग वर्णन नन्दीसूत्र के माध्यम से किया गया है।

दो प्रकार से निर्वचन करने पर नन्दी का ज्ञान के साथ सम्बन्ध स्पष्ट

यद्यपि ज्ञान-प्राप्ति के प्रमुख स्रोत आगम, शास्त्र या सूत्र होते हैं और जिस-जिस आगम का जैसा-जैसा नाम है, तदनुसार उस आगम में उस-उस विषय से सम्बन्धित वर्णन प्रायः किया गया है। परन्तु जब हम प्रस्तुत आगम का नाम 'नन्दीसूत्र' पढ़ते-सुनते हैं, तब बुद्धि सहसा निर्णय नहीं कर पाती कि 'नन्दी' के साथ ज्ञान का क्या सम्बन्ध है? इस आगम को ज्ञान का प्ररूपक क्यों कहा गया? इसमें मुख्यतया पंचविध ज्ञान का ही वर्णन क्यों किया गया? नन्दीसूत्र नामकरण करने के पीछे आचार्यों का क्या आशय रहा हुआ है? ज्ञान-प्ररूपक इस शास्त्र का नाम 'नन्दी' क्यों रखा है? आचार्यों ने इसका समाधान दो दृष्टियों से किया है-(१) आनन्द की दृष्टि से, (२) समृद्धि की दृष्टि से। चूर्णि का मत है-नन्दी शब्द 'टुनदि समृद्धौ' धातु से निष्पन्न होता है। समृद्धि आनन्ददायिनी होने से नन्दी शब्द का निर्वचन किया गया है-**"नन्दनं नन्दी"** अथवा **"नन्द्यते वाऽनेनेति नन्दी।"**

अर्थात् प्रमोद, हर्ष, आनन्द या कन्दर्प का नाम नन्दी है। अथवा जिससे प्रमोद, हर्ष या आनन्द प्राप्त हो, उसे नन्दी कहते हैं। जिसे प्राप्त करके आत्मा को आनन्द, हर्ष या प्रमोद (प्रसन्नता) हो वह नन्दी कहलाता है।[७] ज्ञान आत्मा का निजी गुण है, वह आत्मा की वास्तविक भाव-सम्पदा है। जैसे चिरकाल से खोई हुई निजी द्रव्य-सम्पदा प्राप्त हो जाने पर मानव को अपूर्व प्रसन्नता होती है, आनन्द की अनुभूति होती है; इसी प्रकार अज्ञान एवं मिथ्यात्व के कारण आत्मा की सघन रूप से आवृत, सुषुप्त, कुण्ठित या लुप्त ज्ञानरूपी भाव-सम्पदा जब प्राप्त या प्रकट हो जाती है, तब मानव को अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। इसी दृष्टि से ज्ञान को अथवा पंचविध ज्ञान के प्ररूपक आगम को 'नन्दी' शब्द से व्यवहृत किया गया है।[८]

नन्दी शब्द : प्रस्तुत में भाव-समृद्धि का सूचक

'टुनदि क्रिया' समृद्धि अर्थ की सूचक होने से नन्दी का निर्वचन होना–"जो स्वयं समृद्धि रूप हो अथवा जिससे समृद्धि प्राप्त हो, वह नन्दी है।" लौकिक और लोकोत्तर दोनों क्षेत्रों में समृद्धि सबको आनन्द एवं प्रमोद देने वाली होती है। समृद्धि पाकर मनुष्य ही क्या देव भी प्रसन्न होते हैं।

वह समृद्धि दो प्रकार की होती है–द्रव्य-समृद्धि और भाव-समृद्धि। चल-अचल सम्पत्ति, रत्न, मणि, मुक्ता तथा बहुमूल्य वस्त्र एवं अन्य सुखोपभोग के साधन तथा विनयी एवं आज्ञाकारी स्त्री, पुत्र, पौत्रादि परिवार इत्यादि सब द्रव्य-समृद्धि में परिगणित होते हैं। ऐसी द्रव्य-समृद्धि की प्राप्ति सांसारिक प्राणियों के लिए आनन्ददायिनी एवं आमोद-प्रमोदकारिणी होती है। परन्तु सांसारिक विषय सुखोपभोगों तथा पर-पदार्थों से विरक्त, निःस्पृह एवं उदासीन साधक वर्ग को भाव-समृद्धि ही आनन्दप्रदायिनी होती है। **भाव-समृद्धि** वह है, जिसे पाकर आत्मा आनन्द का अनुभव करे, आत्मा में क्षमा, दया, सन्तोष, मृदुता, ऋजुता आदि या ज्ञानादि रत्नत्रयगुण प्रकट हों। आत्मा के निजी गुण चार हैं–अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख (आनन्द) और अनन्त बलवीर्य (आत्मिक शक्ति)। इन चारों गुणों का सघन रूप से, सम्यक् रूप से प्राप्त होना भी भाव-समृद्धि की प्राप्ति है।

सम्यक् ज्ञान में ही आत्म-गुणरूप भाव-समृद्धि चतुष्टय निहित

मनुष्य की अन्तरात्मा में ये ज्ञानादि चारों भाव-सम्पदाएँ निहित हैं। एक दृष्टि से देखा जाय तो ये चारों भाव-सम्पदाएँ आत्मा की भाव-समृद्धि हैं। सम्यक् ज्ञान[९] में ही ये चारों भाव-समृद्धियाँ निहित हैं, इसी तथ्य को दृष्टिगत रखकर इस शास्त्र का नाम 'नन्दीसूत्र' रखा गया है। एक मात्र ज्ञान (अनन्त सम्यक् ज्ञान) में ही ये चारों प्रकार की आत्म-गुण समृद्धियाँ समाविष्ट हो जाने से इसका अन्वर्थक नाम नन्दीसूत्र रखा गया है। इस दृष्टि से नन्दीसूत्र का तात्पर्यार्थ होगा–चारों प्रकार की आत्म-गुण समृद्धियों के सूचक ज्ञान का जिस आगम में सर्वतोमुखी सांगोपांग वर्णन हो। इसी आशय से नन्दीसूत्र में आत्मा की मूलभूत समृद्धियों के सूचक ज्ञान का विस्तृत वर्णन किया गया है।

ज्ञान में चारों प्रकार की आत्म-गुण समृद्धियाँ समाविष्ट

प्रश्न होता है–ज्ञान में चारों प्रकार की आत्म-गुण समृद्धियाँ निहित हैं, यह कैसे जाना जाये?

ज्ञान आत्मा का स्व-पर-प्रकाशक है

ज्ञान आत्मा का प्रकाश है। इसे किसी दूसरे प्रकाश की जरूरत नहीं। यह स्वयं भी प्रकाशमान है और पर-पदार्थों, विभावों आदि का भी प्रकाशक है।[१०] एक विचारक के 'ज्ञान को बहुमूल्य रत्नों से अधिक प्रकाशकर' माना है। सिद्ध परमात्मा में अनन्त शुद्ध सम्यक् ज्ञान होता है, उनकी स्तुति करते हुए आचार्य भद्रबाहु ने 'चतुर्विंशतिस्तव' में कहा है–"**आइच्चेसु अहियं पयासयरा।**"–आप (अपने अनन्त ज्ञान द्वारा) सैकड़ों सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले हैं। तीर्थंकर आदिनाथ (ऋषभदेव) की स्तुति करते हुए मानतुंगाचार्य ने भी कहा है–"**दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः।**"[११]–हे भगवन् ! आप (निर्धूम, तेलबत्ती से रहित तथा कभी न बुझने वाले) समग्र जगत् के प्रकाशक (उस मिट्टी के दीपक से भिन्न) शाश्वत दीपक हैं। प्रकट करने वाले हैं। इसीलिए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है–"**नाणस्स सव्वस्स पगासणाए।**"[१२] अर्थात् (स्व-पर-पदार्थों के) अपने समग्र ज्ञान के प्रकाशन (प्रकटन) न होने से। अतएव एक पाश्चात्य विचारक ने कहा–**"Knowledge is Light."**–ज्ञान आत्मा का निजी प्रकाश है, भावात्मक प्रकाश है। ज्ञान सूर्य का प्रकाश हो जाने पर मनुष्य अपने जीवन में आने वाले अज्ञान, मिथ्यात्व, मिथ्या ज्ञान, बहम, अन्ध-श्रद्धा, मिथ्या मान्यता, अन्ध-विश्वास, पूर्वाग्रह, द्वन्द्व, उलझन एवं बौद्धिक अन्धता आदि सबको नष्ट कर देता है।

छहों भारतीय दर्शनों पर प्रखर टीका लिखने वाले वाचस्पति मिश्र १२ वर्ष तक ज्ञान की आराधना में इतने गहरे डूब गये कि उन्हें बाहरी दुनियाँ का बिल्कुल ही भान नहीं रहा। न ही मैं स्वयं 'भामतीदेवी' के साथ विवाहित हूँ, इसका स्मरण रहा। ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखने में इतने एकाग्र हो गये कि आत्म-ज्ञान का प्रकाश ही उन्हें इस बाह्य दुनियाँ की मोह, माया, आसक्ति आदि के अन्धकार से बचाने में सक्षम हो सका।[१३] वास्तव में ज्ञान के द्वारा साधक के अन्तर में हेय, ज्ञेय और उपादेय का यथार्थ प्रकाश हो जाता है। जब ज्ञान का प्रकाश अन्तर में व्याप्त हो जाता है तो मनुष्य को स्व-पर का, जड़ और चेतन का तथा आत्मा और अनात्मा का भेदविज्ञान, दोनों की पृथकता का प्रति क्षण स्मरण अनायास ही हो जाता है। पवित्र ज्ञान का प्रकाश जिसके अन्तर में हो जाता है, वह व्यक्ति ज्ञाता-द्रष्टा बनकर अभावों या अल्प साधनों में सन्तुष्ट एवं सुख-शान्तिमय जीवन बिताता है। अतः ज्ञान आत्मा का प्रकाश है, जो सदा एकरस और शाश्वत है, बन्धनों से मुक्त रखने में सक्षम है। इसी तरह

ज्ञान जीवन का सर्वोपरि तत्त्व है, वह जीवन का बहुमूल्य धन है। सभी प्रकार की भौतिक सम्पत्तियाँ तो यहीं समय पर नष्ट हो जाती हैं, किन्तु ज्ञानरूपी आध्यात्मिक सम्पत्ति इस भव में, दोनों भवों में, हर स्थिति में साथ रहती है। ज्ञान जीवन का वह प्रकाश है, जो सभी द्वन्द्वों, उलझनों और अन्धकारों की कारा से मनुष्य को निकालकर शाश्वत पथ पर अग्रसर करता है। ज्ञान स्वयं ही शाश्वत धन है। इसीलिए **सर डब्ल्यू. टेम्पिल** ने लिखा है–"ज्ञान ही मनुष्य का परम (अभिन्न) मित्र है और अज्ञान ही उसका परम शत्रु है।" **शेक्सपियर** ने भी कहा है–"ज्ञान ही प्रकाश है और अज्ञान ही अन्धकार है।" प्रसिद्ध दार्शनिक **प्लेटो** ने कहा है–"अज्ञान ही समस्त बुराइयों/विपत्तियों की जड़ है।"[१४] जीवन की समस्त विकृतियों और विपदाओं का कारण अज्ञान है। यह जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है जबकि ज्ञान जीवन का सर्वोत्तम वरदान है। भगवद् गीता में कहा है–"ज्ञान के सदृश संसार में कोई पवित्र तत्त्व नहीं है।"[१५] ज्ञान ही जीवन का सारभूत तत्त्व है।

देखा गया है कि कई मनुष्यों के पास सुख-सुविधापूर्ण जीवन बिताने के पर्याप्त साधनों के होते हुए भी वे अपने अज्ञान, अविद्या और मिथ्या ज्ञान (मिथ्यात्व) के कारण अशान्त, संतप्त और उद्विग्न रहते हैं, तनाव से ग्रस्त रहते हैं। इसलिए अज्ञान और अविद्या के कारण ही समाज में समस्त विकृतियाँ, बुराइयाँ एवं शारीरिक–मानसिक अस्वस्थताएँ पैदा होती हैं। अतः उनके निवारण के लिए सम्यक् ज्ञान ही एक मात्र स्व-पर-प्रकाशक होने से अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान और दर्शन दोनों का प्रकाश साधनामय जीवन के लिए अत्यावश्यक समझने हेतु नन्दीसूत्र में इसी की चर्चा की गई है।[१६]

ज्ञान आनन्दमय है, अव्याबाध सुखरूप है

ज्ञान आनन्दमय है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का निजी गुण है और अव्याबाध आत्मिक सुख (आनन्द) भी आत्मा का गुण है। किन्तु वह ज्ञान के अन्तर्गत ही आ जाता है। जब मनुष्य को सद्ज्ञान प्राप्त होता है तो उसे अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है। उपाध्याय यशोविजय जी और विनयविजय जी वाराणसी में एक ब्राह्मण पण्डित के पास अध्ययन करते थे। दोनों की बुद्धि अत्यन्त प्रखर थी। इन पण्डित जी के पास नव्य-न्याय का एक महामूल्य ग्रन्थ था। इन दोनों अध्ययनार्थियों के बार-बार आग्रह करने पर भी १,२०० श्लोकों का वह अद्भुत ग्रन्थ पण्डित जी बताते नहीं थे। एक बार पण्डित जी किसी कार्यवश

निकटवर्ती किसी ग्राम में गये थे। दूसरे दिन प्रातःकाल वे आने वाले थे। इस एक रात का लाभ उठाने के लिए यशोविजय जी और विनयविजय जी ने गुरु-पत्नी के पास आकर अतिनम्र भाव से उस ग्रन्थ को देखने देने की विनती की। गुरु-पत्नी इन दोनों पर प्रसन्न थी। अत्याग्रह करने पर उसने वह ग्रन्थ इन्हें दे दिया। उस एक ही रात में यशोविजय जी ने उसके ७०० और विनयविजय जी ने ५०० श्लोक कण्ठस्थ कर लिये। पण्डित जी के आने से पहले ही वह ग्रन्थ पण्डितानी को सौंपकर पेटी में रखवा दिया गया। दोपहर में पण्डित जी से इन दोनों अध्ययनार्थियों ने इस अपराध के लिए क्षमा माँगी। पण्डित जी ने उन्हें श्लोक बोलने को कहा। दोनों ने बारी-बारी से सारा ग्रन्थ धड़ाधड़ बोलकर सुना दिया। सुनकर पण्डित जी की आँखों में हर्षाश्रु उमड़ पड़े। उपाध्याय यशोविजय जी और विनयविजय जी को एक रात में १,२०० श्लोक कण्ठस्थ करने में बहुत ही आनन्द आया, उन्हें बिल्कुल थकान महसूस न हुई।[१७]

इसीलिए अन्धी, गूँगी और बहरी हेलन केलर ने कहा–**"Knowledge is Happiness."** अर्थात् ज्ञान आनन्दरूप है। हेलन केलर की स्थिति ऐसी थी, मानो उसे कोयले की गाढ़ अन्धकारपूर्ण खान में पूर दी गई हो। परन्तु उस अन्धकार भरी स्थिति में जब उसे ज्ञान मिला तो अपूर्व आनन्द का, आत्मिक सुख का अनुभव हुआ। वह ज्ञान के कारण एक क्षण भी जड़वत् नहीं रही। प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलाल जी ने बातचीत के दौरान कहा–"मृत्यु के तट पर ला देने वाले बाह्य और अन्तरंग विक्षेपों के बीच भी मैं ऐहिक आनन्दलोक में प्रविष्ट हुआ हूँ। ज्ञान में इस प्रकार के आत्मिक सुख या आनन्द के सर्जन का अद्‌भुत सामर्थ्य है। ऐसा आत्मिक सुख सहज है, आन्तरिक है और स्वतन्त्र है। दुनियाँदारी के सुखों से उच्चतर है।" व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि से देखें तो भी उसे प्राप्त करने पर जिज्ञासु मनुष्य को सुख और आनन्द प्राप्त होता है। एक धनिक की पत्नी मर गई। उसे इसका सख्त आघात लगा। अब वह पत्नी के वियोग में शोकमग्न होकर रात-दिन सोफे पर बैठा रहता। उसके मित्र और सगे-सम्बन्धी उसका शोक मिटाने का जी-तोड़ प्रयत्न करने लगे, परन्तु सब व्यर्थ ! एक दिन उसका नौकर सुबह-सुबह चाय की ट्रे में स्थित कप, रकाबी में चाय-नाश्ता लेकर आया। हताश धनिक की नजर एकाएक चाय की ट्रे, कप और रकाबी पर लिखे हुए चित्र-विचित्र चीनी अक्षरों पर पड़ी। फलतः उसमें चीनी भाषा जानने–सीखने की उत्कण्ठा जागी। उसने नौकर को बाजार से 'चायनीज-फ्रेंच डिक्सनरी' खरीद लाने का आदेश दिया। डिक्सनरी आते ही

उसने चीनी भाषा का अध्ययन शुरू किया। ज्ञान के तीव्र रस में निमग्न होने से वह मृत पत्नी की मृत्यु का आघात भी चीनी भाषा का ज्ञान होने पर भूल गया।

यह है, ज्ञान को आनन्दरूप मानने का रहस्य; जिससे अनेक विद्वानों, मनीषियों और विचारकों ने ज्ञानानन्द को अपूर्व आनन्द का स्रोत माना है।[१८] योगी श्री आनन्दघन जी ने कहा है–**"ज्ञानानन्दे हो पूरण पावनो।"** अर्थात् ज्ञानानन्द से मनुष्य पूर्णतः पावन बनता है। इसीलिए नन्दीसूत्र में आनन्दरूप ज्ञान का सांगोपांग वर्णन है। इसीलिए पंचाध्यायी में ज्ञान को सुखादि से अभिन्न माना है।[१९]

ज्ञान आत्म-शक्तिरूप है

जो बल हजार हाथियों में नहीं होता, ऐसा बल ज्ञान में होता है। जिसके पास सम्यक् ज्ञान की प्रचण्ड शक्ति होती है, वह बड़ी से बड़ी विपत्ति आने पर नहीं घबराता, प्राणों का संकट आने पर या प्रतिकूल परिस्थिति होने पर जरा-सा भी विचलित नहीं होता। ज्ञान-बल से वह बड़ी से बड़ी विपत्ति से पार हो जाता है। अज्ञानी मनुष्य जरा-सी विपत्ति, प्रतिकूल संयोग या परिस्थिति आ पड़ने पर घबरा जाता है, सिद्धान्त से विचलित हो जाता है, वहाँ ज्ञान-बली अपने सिद्धान्त पर डटा रहता है। वह आर्त्त-रौद्रध्यान के वशवर्ती न होकर धर्म-शुक्लध्यान के प्रवाह में संलीन रहता है। सहन शक्ति के प्रभाव से वह राग, द्वेष, द्रोह, मोह, आसक्ति, घृणा आदि द्वन्द्वों से दूर-दूर रहकर ज्ञाता-द्रष्टा बना रहता है। भरत चक्रवर्ती ने शीशमहल में कौन-से व्रत-महाव्रत का आचरण किया था? उन्होंने स्व-पर के भेदविज्ञान की उज्ज्वल व दृढ़ शक्ति के आधार पर ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था। यह ज्ञान-शक्ति का प्रभाव था कि मरुदेवी माता ने परभावों और मोहादि विभावों का ज्ञान-शक्ति के बल पर उच्छेद करके केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त कर लिया था। गजसुकुमार मुनि ने ध्यानावस्था में सोमिल ब्राह्मण द्वारा मस्तक पर धधकते हुए खैर के अंगारे रख दिये जाने पर भी शरीरादि पर राग और सोमिल पर द्वेष न करके आत्म-ज्ञान-शक्ति के बल पर मोक्ष प्राप्त कर लिया था। ध्यानस्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने ज्ञान-शक्ति का आश्रय लेकर कुछ ही देर पहले कषायावेश से बद्ध कर्मों को काटकर आत्मा को परम उज्ज्वल बना लिया था। अर्जुन मुनि ने ज्ञान-शक्ति के आश्रय से ही परम समभाव रखकर सिर्फ ६ महीने में अपने पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त

कर लिया था। इसीलिए जैनदर्शन ने और तीर्थंकरों ने ज्ञान को आत्मिक शक्ति रूप माना है।

भौतिक ज्ञान-शक्ति से आध्यात्मिक ज्ञान-शक्ति का चमत्कार बढ़कर है

वैसे ही अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध निबन्धकार 'बेकन' ने लिखा है– **"Knowledge is Power."**–ज्ञान ही शक्ति है। आज वैज्ञानिकों द्वारा किये गये रेडियो, टी. वी., वायरलेस, कम्प्यूटर, टेलीफोन, टेलीपैथी, वायुयान, जलयान, रोबोट आदि एक से एक बढ़कर आविष्कारों, भौतिक ज्ञान-शक्ति का ही चमत्कार है। भौतिकविज्ञान की शक्ति के प्रसिद्ध आविष्कारक ने कहा था– पानी की बूँद को ध्वनि तरंग द्वारा तोड़कर इतनी शक्ति उत्पन्न व संचित हो सकती है कि उसके द्वारा सारे न्यूयार्क शहर को सालभर तक बिजली सप्लाई की जा सकती है। एक ग्लास पानी के द्वारा इतनी ऊर्जा शक्ति पैदा की जा सकती है कि उससे 'क्वीन मेरी' नाम की चार पाँखों वाली २५ हजार टन की स्टीमर छह महीने तक लगातार चलाई जा सकती है। यह है भौतिक ज्ञान-शक्ति का चमत्कार ! आध्यात्मिक ज्ञान-शक्ति का चमत्कार तो इससे भी कई गुना बढ़कर है। केवलज्ञान की अगाध अपरिमेय एवं अनन्त शक्ति इतनी प्रबल है कि उससे तीनों लोकों की, तीनों काल की, चराचर जगत् की प्रत्येक बात युगपत् जानी जा सकती है। जानी क्या जा सकती है, उनके केवलज्ञानरूपी दर्पण में प्रति समय झलकती रहती है। अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान भी अतीन्द्रिय (मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना जाने जा सकने वाले) ज्ञान हैं, जिनसे भी काफी सीमा तक का त्रैकालिक ज्ञान हो जाता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान यद्यपि मन और इन्द्रियों की सहायता से होते हैं, तथापि इनसे भी पूर्व-जन्म का ज्ञान, समस्त शास्त्रीय ज्ञान, प्रातिभ ज्ञान, चौदह पूर्वों तक का ज्ञान हो सकता है। आध्यात्मिक ज्ञान की शक्ति भी इतनी जबर्दस्त है कि जिन पूर्वों का पारायण करने में सामान्य व्यक्ति को कई वर्ष लग सकते हैं, उनका पारायण श्रुतकेवली अथवा कतिपय पूर्वधर एक मुहूर्त्त में कर सकते हैं। यह ज्ञान-शक्ति का ही चमत्कार है कि उच्चतम देवलोकों के देव तथा अनुत्तर विमानवासी देव अपने मन की शंका का समाधान तीर्थंकर या केवलज्ञानी के पास गये बिना ही उनसे मन ही मन से प्राप्त कर लेते हैं। इस युग में भी ऐसे कई ब्रह्मचर्यनिष्ठ ज्ञानी हुए हैं, जिनकी स्मरण-शक्ति, अवधान-शक्ति बड़ी तीव्र थी और है। पदानुसारिणी

लब्धि वाले श्रुतज्ञानी को एक पद को सुनकर या पढ़कर उससे सम्बन्धित समस्त पदों का ज्ञान हो जाता था। किसी-किसी के ज्ञान का क्षयोपशम इतना प्रबल होता है कि वे एक या दो मिनट में ग्रन्थ या पुस्तक का पूरा का पूरा पेज पढ़ जाते हैं और हृदयंगम कर लेते हैं। स्वामी विवेकानन्द की पढ़ने की स्पीड ऐसी ही थी। एक बार रुग्णावस्था में उनके पास विश्वकोष के बड़े-बड़े छह-सात भाग रखे थे, उन्हें कुछ ही दिनों में उन्होंने पढ़ डाले। उनके एक शिष्य ने शंका प्रकट की–"गुरुदेव ! इन बड़े-बड़े ग्रन्थों को शायद ही कोई जिंदगीभर में पढ़ सकता होगा।" इस पर स्वामी जी ने कहा–"मैं इनमें से कई भाग तो पढ़ चुका हूँ, बाकी के भाग भी दो-चार दिनों में पढ़ सकूँगा। तू इनमें से कोई भी स्थल मुझे पूछ सकता है।" शिष्य ने विश्वकोश के कई कठिन स्थलों के विषय में पूछा तो स्वामी जी ने कोश में लिखित वाक्य-रचना ज्यों की त्यों सुना दी; बल्कि अपनी ओर से विशेष प्रकाश भी डाला। यह देखकर शिष्य चकित रह गया। यह है ज्ञान की प्रचण्ड शक्ति का प्रमाण ![२०]

ज्ञान ही चारित्रगुणरूप है

ज्ञान-बल का आचरणात्मक पहलू भी है, जिसके द्वारा व्यक्ति में ज्ञान की ऐसी शक्ति आ जाती है कि वह अपने आध्यात्मिक तत्त्व या सिद्धान्त पर अन्त तक टिका रहता है, वह आत्म-ज्ञान से–स्वरूप-ज्ञान से विचलित नहीं होता, न ही उस पर शंका, कांक्षा और विचिकित्सा करके अपने सत्य (सिद्धान्त) से हटता है। भगवान महावीर पर कितने ही भयंकर उपसर्ग (संकट या कष्ट) आए, पर वे आत्मा की नित्यता के सिद्धान्त से विचलित न होकर इसी ज्ञान-बल के आधार पर समभाव से सहते रहे। सुदर्शन श्रमणोपासक को आत्मा के अविनाशित्व, नित्यत्व का ज्ञान हृदयंगम हो चुका था, इसी ज्ञान-बल के कारण वह अर्जुन मालाकर भयंकर प्राणघातक आतंक और मँडराती हुई साक्षात् मौत को देखकर भी नहीं घबराया, समभावपूर्वक अपने आत्म-ज्ञान में स्थिर रहा। अर्हन्नक श्रावक पर परीक्षक देव ने परीक्षा लेने हेतु भयंकर उपसर्ग किये, डराया, धमकाया, प्रलोभन भी दिया, साथियों को भी बहकाया, फिर भी अर्हन्नक श्रावक आत्मा के अविनाशित्व एवं नित्यत्व धर्मज्ञान पर अडिग रहा। ऐसे कई शास्त्रीय उदाहरण हैं कि बड़े से बड़े संकट, भय और आतंक के समय भी आत्म-ज्ञान के बल पर अविचलित रहे, आराधक हुए। इसीलिए शास्त्रों में इस अध्यात्म ज्ञान को **'ज्ञानाचार'** कहा है।[२१]

"ज्ञानस्य फलं विरतिः।" सम्यक् ज्ञान जब अन्तर में स्थिर हो जाता है, सुदृढ़ हो जाता है, व्यक्ति उक्त ज्ञान को आत्मा-अनात्मा के भेदविज्ञान को हृदयंगम कर लेता है, तब उसके कारण पर-पदार्थों के प्रति, विभावों के प्रति उसकी स्वभावतः विरति हो जाती है। उसकी आत्मा प्रत्येक सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ को जरूरत पड़ने पर अपनाता है, किन्तु उसके प्रति राग, द्वेष, मोह, आसक्ति या घृणा नहीं रखकर ज्ञाता-द्रष्टा बना रहता है। ज्ञान-बल के कारण उसका कषायभाव अत्यन्त मन्द या क्षीण हो जाता है।

प्रसिद्ध सत्योपदेष्टा ज्ञानी सुकरात को उस समय की सरकार के द्वारा जनता और खासकर युवकों को सत्य बात कहने-सिखाने के कारण मृत्यु-दण्ड दिया जाना था। विष का प्याला उनके सामने रखा गया। उनके कुछ हितैषी मित्रों व शिष्यों ने उनको विषपान न करने के लिए बहुत समझाया। परन्तु सुकरात ने कहा-"मैं मानता हूँ कि आत्मा कभी नष्ट नहीं होती, वह अविनाशी है तो विषपान करने में क्या हर्ज है? यदि कहें कि आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है, केवल यह शरीर है, तो यह शरीर नाशवान् है, एक न एक दिन नष्ट होने वाला है, फिर अपने सत्य (सिद्धान्त) पर दृढ़ रहने के लिए मुझे नाशवान् शरीर को छोड़ना पड़े तो क्या आपत्ति है? यों कहकर सुकरात ने विष का प्याला पी लिया। यह था ज्ञान-बल के कारण सिद्धान्त पर दृढ़ता। इसलिए सुकरात कहता था—**"Knowledge is Virtue."**-ज्ञान अपने आप में चारित्रगुण है-आचरणात्मक है। उपाध्याय यशोविजय जी कहते थे-**ज्ञान की तीव्र दशा ही चारित्र है।** अर्थात् ज्ञान पर जब दृढ़ निष्ठा होती है, तब व्यक्ति बड़े से बड़े संकट, राग, द्वेष, मोह आदि के प्रसंग पर ज्ञानगुण को आचरण में लाता है।[२२] ज्ञानगुण में श्रद्धा-भक्ति विनयपूर्वक स्थिर रहता है, ज्ञाता-द्रष्टा भाव (ज्ञायक भाव) से विचलित नहीं होता।

इस प्रकार का भेदविज्ञानरूप दृश्य ही चारित्र है। तथागत बुद्ध ने जेतवन में एक लकड़हारे को लकड़ी काटते हुए देखा, तो उसी समय उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर पूछा-"यह लकड़हारा कुल्हाड़ी से जो चोट कर रहा है क्या उसकी वेदना तुम्हें होती है?" शिष्यों ने मुस्कराते हुए कहा-"नहीं, भन्ते!" गौतम बुद्ध ने कहा-"हे शिष्यो! इसी प्रकार इस शरीर को भी कोई काटे या चोट पहुँचाए तो वृक्ष की तरह इस शरीर को भी पराया समझे। अर्थात् शरीर पर भी कुल्हाड़ी से कोई चोट मारे तो पराये वृक्ष पर होने वाली चोट के समान समझो, क्योंकि पंच महास्कन्ध से तुम (आत्मा) अलग हो। आत्मा-अनात्मा का

इस प्रकार का भेदविज्ञानरूप आचरण करना–दूसरे शब्दों में कहें तो–अपने आत्म-भाव–स्व-भाव में ही–ज्ञान-भाव में रमण करना ही चारित्र है। स्कन्धक अनगार के शिष्यों को जब घाणी में पिलाया जा रहा था, उस समय देहाध्यास से ऊपर उठकर उन्होंने देहात्म भेदविज्ञान जीवन में उतार लिया था। गजसुकुमार अनगार के मस्तक पर जब खैर के धधकते अंगारे सोमिल ब्राह्मण द्वारा रखे गये थे, तब देहात्म-बुद्धि छोड़कर वे भी एक मात्र आत्म-भाव में तल्लीन हो गये थे। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार अपनी पत्नी को पत्र लिखा–"आज मुझे एक जहरीले बिच्छू ने काटा, उसकी तीव्र वेदना है, फिर भी पास में खड़े तीसरे व्यक्ति–डॉक्टर की तरह इस वेदना को मैं अपने से अलग निकालकर देखता/सोचता हूँ कि यह वेदना मेरी नहीं है। इस प्रकार देहदशा में से निकलकर मैंने देहात्म-बुद्धि के त्याग का अनुभव किया।' सचमुच, इस प्रकार भेदविज्ञान की तीव्र दशा का नाम ही चारित्र है, जो ज्ञान की तीव्र दशारूप है।[२३]

आत्मिक समृद्धि चतुष्टयरूप ज्ञान के प्ररूपक नन्दीसूत्र नाम सार्थक है

इस प्रकार ज्ञान प्रकाश, आनन्द (अव्याबाध सुख), आत्मिक शक्ति और भाव-चारित्ररूप होने से ज्ञान में ही आत्मा की भाव-समृद्धिरूप चारों गुणों का समावेश हो जाता है। इसी दृष्टि से नन्दीसूत्र में आत्मा की गरिमामय भाव-समृद्धिरूप पंचविध ज्ञान का सांगोपांग वर्णन किया गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो 'नन्दी' शब्द पाँच ज्ञान का सूचक है। कारण में कार्य का उपचार करके ज्ञान को आत्मिक समृद्धि–चतुष्टयरूप अनुभव करके प्रस्तुत शास्त्र का नाम **'नन्दीसूत्र'** रखा गया है।

नन्दीसूत्र : पंचविध ज्ञान प्ररूपणा से भावानन्द का कारण

प्रकारान्तर से देखा जाये तो **'आनन्द'** शब्द भी **'टुनदि क्रिया'** से निष्पन्न हुआ है। इस अपेक्षा से पंचविध ज्ञान प्ररूपक जो आगम परम आनन्द का कारण हो, उसे 'नन्दी' कहना अनुपयुक्त नहीं है। आनन्द दो प्रकार का होता है–द्रव्य-आनन्द और भाव-आनन्द। इन्हीं को दूसरे शब्दों में लौकिक और लोकोत्तर, व्यावहारिक और पारमार्थिक अथवा भौतिक और आध्यात्मिक आनन्द भी कहा जा सकता है। इन दोनों में दो प्रथम कोटि का आनन्द कर्मोदयजन्य है, जबकि दूसरी कोटि का आनन्द कर्मजन्य या उदयजन्य नहीं है; वह वस्तुतः आत्मा का निज गुण है। इनमें द्रव्य-आनन्द अल्पकालिक और

बहुकालिक दो प्रकार का है। अल्पकालिक द्रव्यानन्द क्षण मात्र से लेकर उत्कृष्टतः करोड़ पूर्व तक रह सकता है और बहुकालिक द्रव्यानन्द उत्कृष्टतः ३३ सागरोपम तक रह सकता है। द्रव्यानन्द का आधार बाह्य द्रव्य है, जोकि निमित्त है, उसका उपादान तो औदयिक भाव है। इस कारण वह सादि-सान्त आनन्द कहलाता है। भावानन्द में औदयिक भाव की मुख्यता नहीं होती। इस कारण वह दो प्रकार का होता है-सादि-सान्त और सादि-अनन्त। सम्यक् दृष्टि जीव जब तक आर्त्त-रौद्रध्यान से रहित होता है, तब तक भावानन्द चालू रहता है। औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव में सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र का जब लाभ होता है, तब अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। वह आनन्द सादि-सान्त कहलाता है। किन्तु जब आत्मा पूर्णतया क्षायिक भाव में पहुँचता है, तब वही आनन्द सादि-अनन्त बन जाता है। स्कन्द में अनन्त गुण आत्मा में सदैव एकरस रहता है।[२४]

नन्दीसूत्र : द्रव्यानन्द और भावानन्द का असाधारण निमित्त

नन्दीसूत्र मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान, इन पाँच प्रकार के ज्ञान का परिबोधक है। श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक होता है, अतः तज्जन्य आनन्द भी क्षायोपशमिक होने से सादि-सान्त है। किन्तु केवलज्ञान क्षायिक होने से इसके द्वारा सादि-अनन्त आनन्द की ओर जब गति-प्रगति होती है, तब वह सादि-सान्त आनन्द असीम हो जाता है। सादि-अनन्त हो जाने का अर्थ है-अपूर्ण आनन्द का पूर्णता को प्राप्त हो जाना। इसी पूर्ण आनन्द को अनुपम, अविनाशी, सदाकाल स्थायी, एक मात्र ज्ञान ही ज्ञान का शाश्वत आनन्द-नित्यानन्द भी कहा जाता है। अतः नन्दीसूत्र द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के आनन्द का असाधारण निमित्त कारण है।

नन्दीसूत्र द्वारा अज्ञात ज्ञाननिधि को पाने से असीम आनन्द की प्राप्ति

नन्दीसूत्र एक प्रकार से समग्र ज्ञान का विश्वकोश है; ज्ञान की अपार निधि है। किन्तु संसारस्थ एवं छद्मस्थ व्यक्तियों को आत्मा में निहित अनन्त शुद्ध ज्ञान के खजाने का पता नहीं है। ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म के बन्ध तथा मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण संसारी छद्मस्थ जीव को अपनी आत्मा में दबे, छिपे, सुषुप्त अनन्त ज्ञान की निधि का भान नहीं होता। जैसे चिरकाल से खोई हुई या भूली हुई निजी अमूल्य निधि के मिल जाने या ज्ञात हो जाने पर व्यक्ति

को असीम आनन्द का अनुभव होता है, वैसे ही आत्मा में निहित ज्ञान के अक्षय भण्डार का नन्दीसूत्र के द्वारा यानि नन्दीसूत्र के श्रवण, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन एवं पुनः-पुनः अध्ययन (स्वाध्याय) के द्वारा पता लगने से भी असीम आनन्द की अनुभूति होती है।

आचार्य ने इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है–

एक श्रेष्ठी ने अपनी बहुमूल्य रत्नमंजूषा किसी अज्ञात स्थान में निधान (गाढ़) करके रख दी। अपनी बही में उसका उल्लेख कर दिया। उसने बही में रत्नमंजूषा में रखे उन रत्नों की संख्या, नाम, गुण, लक्षण और मूल्य आदि की बाकायदा सूची बनाकर लिख दिया। सेठ की अकस्मात् हृदयगति अवरुद्ध हो जाने से उसका देहान्त हो गया। मरते समय या मृत्यु से पूर्व सेठ ने पुत्रों के समक्ष न तो उस रत्नमंजूषा का जिक्र किया, न ही बही उनको सौंपी। फलतः वे पुत्र धन के अभाव में दरिद्र हो गये। कालान्तर में उनके प्रबल पुण्य-योग से उन्हें वह बही मिल गई, जिसमें रत्नों की बाकायदा सूची तथा रत्नमंजूषा कहाँ रखी हुई है, उसका अता-पता लिखा था। उसे पढ़कर पुत्रों ने रत्नमंजूषा खोज निकाली। रत्नमंजूषा मिल जाने पर उनके आनन्द का पार न रहा। इसी प्रकार नन्दीसूत्र भी आत्म-गुणरूप विविध ज्ञान-रत्नों की बही है। इस नन्दीरूप बही के प्राप्त हो जाने पर आत्मा में निहित विविध ज्ञान-रत्नों के अक्षय भण्डार का इसमें उल्लेख पढ़ने पर तथा उन ज्ञान-रत्नों को स्वाध्यायादि द्वारा पाने से असीम आनन्द की अनुभूति किसे और क्यों नहीं होगी?

नन्दीसूत्र का पंचांगयुक्त स्वाध्याय द्रव्यानन्द एवं भावानन्द का कारण

ऐसे चिन्तामणिरत्न सम नन्दीसूत्र का स्वाध्याय करने से शुभ भाव उत्पन्न होते हैं। शुभ भावों से देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के प्रति श्रद्धा दृढ़ होती है, आत्म-बल बढ़ता है। शुभ भावों से पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है, जोकि द्रव्य-आनन्द का कारण है। पंचविध अंगों के साथ स्वाध्याय करने से भावों की विशुद्धि हो रही हो तो उससे सकाम निर्जरा होने की सम्भावना है। निर्जरा से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता है। साथ ही स्वाध्याय से आते हुए कर्मों का निरोध करने से संवर भी होता है। इस प्रकार कर्मों का भार ज्यों-ज्यों हल्का होता है, त्यों-त्यों अपूर्ण आनन्द पूर्णता की ओर बढ़ता जाता है।[२५]

आत्मा में निहित शुद्ध ज्ञान की प्रतीति नन्दीसूत्र से

आत्मा का निजी मुख्य गुण ज्ञान है। आत्मा में ज्ञान का कितना अक्षय भण्डार है ? उस ज्ञान को प्रगट करने के कौन-कौन से माध्यम हैं ? तथा यह भी प्रश्न उद्‌भूत होता है कि जब ज्ञान आत्मा में है ही, तब उसे बताने या प्रगट करने की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार ज्ञान तो भावात्मक है, वह द्रव्यात्मक नहीं है, छद्मस्थ (अल्पज्ञ) व्यक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष दृश्य नहीं है, ऐसी स्थिति में आत्मा में निहित ज्ञान की प्रतीति, उसे प्रगट करने की रुचि, उक्त ज्ञान के प्रति श्रद्धा और भक्ति (बहुमान), विनय और निष्ठा कैसे हो? इसका समाधान है--'नन्दीसूत्र'। नन्दीसूत्र के अध्ययन या श्रवण, मनन, निदिध्यासन, वाचना, पृच्छा, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथा, इन पंचांग रूपों से स्वाध्याय करने से आत्मा में निहित ज्ञान भण्डार का पूर्णतया परिचय हो जाता है। नन्दीसूत्र में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान, इन मुख्य पाँच प्रकार के ज्ञानों का विस्तृत वर्णन है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान किस-किस प्रकार से, किस-किस इन्द्रिय या मन के माध्यम से प्रगट होता है। सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान में क्या अन्तर है ? इन पाँच ज्ञानों में प्रथम के चार ज्ञान कम से कम कितने हो सकते हैं ? इन चारों की उत्कृष्टता कितनी है ? इन पाँचों में सर्वोत्कृष्ट एवं पूर्ण ज्ञान कौन-सा है ? इत्यादि समस्त उल्लेख नन्दीसूत्र में पाया जाता है। आत्मा की चारों प्रकार की गुण-सम्पदा या समृद्धि नन्दीसूत्र के द्वारा भलीभाँति मालूम हो सकती है। इस शास्त्र का अध्ययन-मनन करके कोई भी व्यक्ति ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से आत्मा पर आये हुए अज्ञान के सघन आवरण को दूर कर सकता है। अमुक-अमुक ज्ञान का अमुक-अमुक मात्रा में आवरण दूर होने पर व्यक्ति को 'स्व' और 'पर' का भेदविज्ञान हो जाने से वह आत्मा के निज गुणों व आत्म-भावों में रमण कर सकता है। फिर पर-भावों और कषायादि विभावों से होने वाले संक्लेश, संघर्ष, राग, द्वेष, आसक्ति, घृणा, द्रोह, मोह इत्यादि विकारों से वह दूर रह सकता है। इस आत्मिक ज्ञान का उद्देश्य और महत्त्व समझाने हेतु नन्दीसूत्र की रचना की गई है।

नन्दीसूत्र आगम है इसलिए निर्दोष और प्रामाणिक है

अब प्रश्न होता है--सभी धर्मों ने और धर्म-प्रवर्त्तकों ने अपने-अपने धर्मग्रन्थ, शास्त्र या श्रुत की रचना की है और उस-उस शास्त्र के माध्यम से ज्ञान दिया है या ज्ञान का निरूपण किया है, फिर नन्दीसूत्र में ऐसी क्या

विशेषता है, जिससे इसमें प्ररूपित या प्रतिपादित ज्ञान के वर्णन को प्रामाणिक या विश्वस्त माना जाए? जैनधर्म के गणधरों तथा महामनीषी आचार्यों ने समस्त धर्मशास्त्रों को आगम कहा है। आगम के दो लक्षणात्मक अर्थ प्राचीन आचार्यों ने किये हैं–(१) अर्थ रूप से तीर्थंकर के वीतरागता प्रेरक प्रवचन हैं, (२) सूत्र रूप से गणधर और श्रुतकेवली-प्रणीत साहित्य को आगम कहते हैं। जिस ज्ञान का मूल स्रोत तीर्थंकर भगवान हैं, सूत्र रूप से गणधर हैं तथा आचार्य परम्परानुसार जो श्रुतज्ञान आया है, आ रहा है, वह आगम कहलाता है। अथवा आप्त-वचन को आगम कहते हैं। अनुयोगद्वार वृत्ति के अनुसार आगम का अर्थ है–जो गुरु-परम्परा से अविच्छिन्न गति से आ रहा है, वह आगम कहलाता है तथा जिसके द्वारा सब ओर से जीवादि पदार्थों को जाना जाता है।[२६] आचारांग टीका में आप्त द्वारा प्रणीत को आगम कहा है।

जैनधर्ममान्य सभी शास्त्र आगम क्यों कहलाते हैं ?

कोई यों भी कह सकता है कि यों तो प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय वाले अपने-अपने शास्त्रों को आप्त-रचित कह सकते हैं। फिर नन्दीसूत्र आदि को जो आप्त-प्रणीत कहा जाता है, उसमें क्या विशेषता है? प्रथम समाधान तो यह है कि अन्य धर्मों ने अपने धर्मग्रन्थों या शास्त्रों को आगम नहीं कहा है जबकि जितने भी जैनधर्मशास्त्र हैं, वे आगम कहलाते हैं, क्योंकि वे आप्त-प्रणीत हैं।

आप्त का स्वरूप

तत्त्वार्थ सिद्धसेनीया वृत्ति के अनुसार आप्त का अर्थ है–जो राग-द्वेषादि विभावों से रहित हो। अथवा जो यथार्थ वक्ता हो। प्रमाणनयतत्त्वालोक के अनुसार–आप्त वह है, जो अभिधेय वस्तु को यथावस्थित जानता हो, और उस ज्ञान के अनुसार यथार्थ कहता हो। जिसका किसी के प्रति पक्षपात न हो और जो १८ दोषों से रहित हो उसे भी आप्त कहा जाता है।[२७] आप्त के उपर्युक्त लक्षणों की कसौटी पर जब अन्यान्य धर्मों को कसते हैं, वे प्रायः खरे नहीं उतरते। तथाकथित कतिपय धर्मशास्त्रों के रचयिता स्वयं राग, द्वेष, काम, मोह आदि से युक्त होने से उन्होंने हिंसादिपरक विधान अपने ग्रन्थों में किया है, अतः राग, द्वेषादि १८ दोषों से रहित न हों, पूर्ण वीतरागता से युक्त न हों, और तो और वे सम्यक् दृष्टि सम्पन्न न हों, अनेकान्त दृष्टि से सापेक्ष वचन न होकर जिनके वचन एकान्तवाद पोषक हों, उन्हें आप्त कैसे कहा जा सकता है? जैनधर्ममान्य आप्त केवल भाषणवान नहीं होता, उसके जीवन में निश्चय और

व्यवहार दोनों दृष्टियों से सम्यक् दर्शन, ज्ञानादि मोक्षमार्ग की साधना में अहर्निश तत्पर होता है, अथवा वीतरागता-सम्पन्न जीवन होता है। आप्त-पुरुष का जीवन सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय बन जाता है।

नन्दीसूत्रादि को आगम की कोटि में क्यों माना जाए ?

कोई कह सकता है कि नन्दीसूत्र को आगम की कोटि में कैसे माना जा सकता है? क्योंकि यह तो स्पष्ट ही देववाचकगणी द्वारा संकलित या रचित है और देववाचक जी स्वयं वीतराग और १८ दोषों से रहित नहीं थे। इसका समाधान यह है कि आवश्यकसूत्र में आगम के तीन प्रकार बताये गये हैं– (१) सूत्रागम, (२) अर्थागम, और (३) तदुभयरूप आगम।[२८] इनमें से अर्थागम यानी अर्थरूप आगम मुख्य है, जो मूल जिनोक्त वचन होता है, जिसका आयात सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान से हुआ है। उसी से सूत्र रूप में आगम रचना गणधर करते हैं।[२९] और तदुभयागम उक्त दोनों द्वारा निर्मित है। अर्थात् श्रुतकेवली तथा स्थविरों द्वारा निर्मित है। इनमें चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर एवं नवपूर्वधर भी हैं।

अतः नन्दीसूत्र भले ही देववाचकगणी की रचना है, किन्तु अर्थरूप से यह आगमों का स्रोत सर्वज्ञ तीर्थंकर की अर्थरूप से आगत आगमिक वाणी ही है। इसलिए परम्परा से यह आप्त-वचन और वीतराग-प्रणीत ही माना जाएगा। द्वादशांगी वाणी सीधी अर्थरूप से भगवदुक्त मानी जाती है, उसे अंगप्रविष्ट आगम या गणिपिटक कहा जाता है। शेष आगम अंग-बाह्य या अनंग-प्रविष्ट या उपांग कहलाते हैं, किन्तु उनका अर्थरूप में परम्परागत सम्बन्धी तीर्थंकर वचनों से माना गया है। उनमें जो भी ज्ञान है, वह तीर्थंकर वचनानुसारी है, वह सब आप्त-वचनानुगत होने से आगम माना गया है।

अतः जिन धर्मग्रन्थों का ज्ञान राग-द्वेष, पक्षपात या एकान्तवाद से मलिन हो रहा है, वह निर्दोष और आप्त-प्रणीत या आप्त-प्ररूपित नहीं माना जाता, उसमें कई हिंसा, असत्य आदि के समर्थन-वाचक वचन होने से वह निर्दोष, प्रामाणिक एवं वीतराग-प्रणीत नहीं माना जा सकता। जैन परम्परा के वर्तमान में जितने भी अंग-प्रविष्ट रूप आगम हैं, उनके रचयिता गणधर सुधर्मा स्वामी हैं तथा अंग-बाह्य शास्त्रों के रचयिता श्रुतकेवली, पूर्णधर या अन्य स्थविर हैं, जिनके नाम-निर्देश मिलते हैं। अतः नन्दीसूत्र भी आगम की कोटि में आता है।

अन्य अपेक्षा से आगम के तीन प्रकार और वे भी आप्त से सम्बद्ध

दूसरी दृष्टि से भी आगमों का निरूपण किया गया है–आगम तीन प्रकार के होते हैं–"**अत्तागमे, अनन्तरागमे, परंपरागमे।**"[३०] आत्म और आप्त इन दोनों का प्राकृत भाषा में 'अत्त' शब्द बनता है। जो अर्थ तीर्थंकर भगवान प्ररूपित एवं प्रज्ञप्त करते हैं, वह आत्मागम या आप्तागम कहलाता है। जो अर्थ तीर्थंकर भगवान के मुखारविन्द से गणधरों ने सुना और सूत्र-रचना की, इसलिए गणधरों के लिए तीर्थंकर-वचन अनन्तरागम होते हैं। गणधर-शिष्यों के लिए वे ही आगम (सूत्र) अनन्तरागम हैं, अर्थरूप से वे शास्त्र परम्परागत हैं। तथैव गणधर के अनुगामी साधुवर्ग के लिए वे आगम अर्थरूप में न तो आप्तागम हैं, न ही अनन्तरागम हैं, किन्तु वे परम्परागम हैं।

जैनधर्ममान्य 'आगम' के अतिरिक्त अन्य पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग

जैनधर्ममान्य धर्मग्रन्थों के आगम के अतिरिक्त शास्त्र, सूत्र, सुप्त, सूक्त एवं श्रुत आदि नाम भी प्रचलित हैं। विविध लौकिक प्रयोजनों के लिए भी संसार में अन्य विद्याओं के लिए भी शास्त्र शब्द का प्रयोग होता है। जैसे–कोकशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विधिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि।

शास्त्र–परन्तु यहाँ लोकोत्तर प्रयोजन के लिए धर्मशास्त्र के सन्दर्भ में जैनागमों को जैनशास्त्र कहा जाता है, पूर्वोक्त लौकिक शास्त्रों से भी यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है और न ही पूर्वापर विरोधी, अहिंसा आदि के विपरीत हिंसादि का प्ररूपण करने वाले ग्रन्थ चाहे धर्मग्रन्थ कहलाते हैं, वे भी जैनशास्त्र की परिभाषा में या परिधि में नहीं आते। आचार्य उमास्वाति ने 'प्रशमरति' ग्रन्थ में शास्त्र की बहुत ही युक्तिसंगत एवं सिद्धान्तसंगत व्याख्या प्रस्तुत की है–

"शास्विति वाग्विधिवद्भिर्धातुः पापट्यतेऽनुशिष्टार्थः।
त्रैडिति पालनार्थे विपश्चितः सर्वशब्दविदाम्॥
यस्माद् राग-द्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे।
संत्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः॥"[३१]

अर्थात् संस्कृत भाषा की विधि के ज्ञाता शब्दशास्त्रियों ने "शासु अनुशिष्टौ।" अर्थात् अनुशासनार्थक शास् धातु (क्रिया) से शास्त्र शब्द का

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया–"**शास्यते–अनुशिष्यतेऽनेनेति शास्त्रम्।**" यानी जिसके द्वारा प्राणियों को भलीभाँति धर्ममार्ग में सुशिक्षित किया जाय अथवा देव, गुरु और धर्म के अनुसार (मर्यादा में) जो रखता है या अनुशासन में रहने की हित शिक्षा देता है, वह शास्त्र है। अथवा जिनका चित्त राग-द्वेष से उद्धत, मलिन एवं कलुषित हो रहा है, उन्हें सद्धर्म में अनुशासित करता है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा आदि आत्म-धर्म से जिनका चित्त विमुख है, उन्हें शिक्षित-प्रेरित करके सद्धर्म में लाता है, वह शास्त्र है। शास् धातु के साथ '**त्रैङ्पालने**' धातु का 'त्र' शब्द पालनार्थक है जिसका अर्थ है–जो सभी प्रकार हिंसादि जनित दुःखों से त्राण = रक्षण करता है, वह शास्त्र है। नन्दीसूत्र भी इसी प्रकार का शास्त्र है, जो आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आनन्द और आत्म-बल रूप धर्म में जीव को शिक्षित–अनुशासित करता है तथा अज्ञान-मिथ्यात्वादि जनित दुःखों से बचाता है। अज्ञान-मोहादि के अन्धकार से बचाकर सम्यक् ज्ञानादि आत्म-धर्म में स्थिर करता है।

आचार्य समन्तभद्र ने भी '**रत्नकरण्डक श्रावकाचार**' में शास्त्र शब्द को छह लक्षणों से निरूपित किया है–

"आप्तोपज्ञमनुलंघ्यमदृष्टेष्टविरुद्धकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथ-घट्टनम्॥"[३२]

अर्थात् जो आप्त द्वारा कथित-प्रज्ञप्त हो, जिसका उल्लंघन कोई न कर सकता हो, अर्थात् जिसका प्रतिपादन तर्कों से अकाट्य हो, जो प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से विरुद्ध न हो, जो तत्त्व का उपदेश करता हो, जो सर्व जीवों के लिए हितकर हो और कुमार्ग का निषेध (खण्डन) करता हो, ऐसे छह लक्षणों से युक्त हो, वह शास्त्र है। नन्दीसूत्र में शास्त्र के ये छह लक्षण घटित होते हैं, इसलिए शास्त्र है।

सूत्र शब्द की विविध पहलुओं से मीमांसा

सूत्र–"**सूत्रयति सूचयति यथार्थमर्थमिति सूत्रम्।**" इस निर्वचन के अनुसार सूत्र उसे कहते हैं, जो यथार्थ वस्तुतत्त्व को सूचित करता है। जो तीर्थंकरों के द्वारा अर्थरूप में मुख-कमल से निकलकर गणधरों द्वारा सूत्ररूप में ग्रन्थित–रचित किया गया है, उसे भी 'सूत्र' कहा जाता है। नन्दीसूत्र में भी 'नन्दी' के साथ सूत्र शब्द इसी हेतु से जोड़ा गया है। नन्दीसूत्र का संकलन भी तीर्थंकरों

द्वारा प्रतिपादित अर्थ को गणधरों द्वारा रचित अंगसूत्रों के आधार पर किया गया है। इसलिए नन्दीसूत्र को सूत्र कहना यथार्थ है।

सूत्र शब्द के अनेक अर्थ हैं। एक अर्थ तो ऊपर हम बता चुके हैं। सूत्र का दूसरा अर्थ यह है कि जिस प्रकार सूत्र (सूत या धागे) में पिरोई हुई सुई सुरक्षित रहती है, जबकि सूत्र से रहित सुई खो जाती है, उसी प्रकार जिसने सूत्रों का ज्ञान श्रद्धा-भक्ति-मनोयोगपूर्वक कर लिया है, वह उन सूत्रों के ज्ञानरूप धागे के सहारे से कहीं अज्ञान, मिथ्यात्व, असदाचार एवं दीर्घ संसारवर्द्धक निकाचित कर्म में भटकता नहीं।[३३] कदाचित् पूर्व संस्कारवश या लाचारी से मोहवश कभी भटक भी जाये तो वापस सन्मार्ग पर आकर मेघकुमार मुनि आदि की तरह पुनः सँभलकर मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेता है अथवा प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरह शीघ्र ही सिद्धत्व (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। नन्दीसूत्र भी इसी प्रकार का सूत्र है, क्योंकि इसमें ज्ञान का वर्णन है। ज्ञान से आत्मा प्रकाशमान होता है। वह स्व-पर-प्रकाशक होने से अज्ञानान्धकार में या जन्म-मरणात्मक संसारतिमिर में नहीं भटकता।

पाणिनीय व्याकरण के महाभाष्यकार पतंजलि ने सूत्र का लक्षण इस प्रकार किया है–

"अल्पाक्षरमसंदिग्धं, सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च, सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥"[३४]

अर्थात् जो अल्प अक्षरों से युक्त हो, जिसके वचन में कोई संदेह या पूर्वा-पर विरोध न हो, सारभूत वस्तु कथन हो, जो शास्त्र सर्वतोमुखी हो–सर्वजनोपयोगी हो, जिसमें कहीं स्खलना न हो, जिसका प्रवाह बीच-बीच में टूटता न हो, जो राग-द्वेषादि दोषों–पापों से रहित निरवद्य हो, निर्दोष हो। उसे ही सूत्रवेत्ता सूत्र कहते हैं। सूत्र के लक्षणों की इस कसौटी पर भी नन्दीसूत्र को कसकर देखा जाये तो वह खरा उतरेगा। इसलिए नन्दीसूत्र के सूत्रत्व में कोई संदेह नहीं है।

संस्कृत भाषा में 'सुत्त' शब्द के चार रूप

प्राकृत भाषा के 'सुत्त' शब्द के संस्कृत भाषा में चार रूप बनते हैं–(१) सूत्र, (२) श्रुत, (३) सूक्त, और (४) सुप्त। 'सूत्र' शब्द के सम्बन्ध में विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है।

श्रुत शब्द का अर्थ, लक्षण, स्वरूप

श्रुत का विश्लेषण–जैनागमों में शास्त्र शब्द के बदले श्रुत शब्द का ही अधिक प्रयोग मिलता है। बल्कि विविध जैनागमों में आगमधर, आगमकेवली या बहुसूत्री शब्दों के बदले श्रुतधर, श्रुतकेवली, बहुश्रुत आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः मिलता है। श्रुत का प्रयोग प्राचीनकाल में प्रचलित था; इसलिए अधिकतर शास्त्र गुरु अपने शिष्यों को कण्ठस्थ करा देता था। शिष्य अपने शिष्यों को कण्ठस्थ करा देता था। इस प्रकार श्रुत परम्परा से शास्त्रीय ज्ञान चल रहा था। इसलिए शास्त्रों को **'श्रुत'** कहा जाता था। वेदों के लिए 'श्रुति' शब्द का प्रयोग भी इसी दृष्टि से किया गया था कि वेद भी प्राचीनकाल में कण्ठस्थ कराये जाते थे। शास्त्रों के मूल पाठों में यत्र-तत्र ऐसा ही पाठ मिलता है–**"सुयं मे आउसंतेण भगवया एवमक्खायं।"** सुधर्मा स्वामी अपने पट्ट-शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं– "आयुष्मन् ! मैंने उन भगवान महावीर से सुना है, उन्होंने ऐसा कहा था।" इससे स्पष्ट है कि उस समय गुरु-मुख से शास्त्र के श्रवण की परम्परा प्रचलित थी। सुनकर वे (शिष्य) उसे कण्ठस्थ कर लेते थे।[३५]

श्रुत शब्द भी आगम का पर्यायवाचक है : क्यों और कैसे ?

उस समय साधकों में धारणा-शक्ति की प्रबलता थी, तब आगमों को कण्ठस्थ करने की तथा कोष्ठ बुद्धि में सुरक्षित रखने की परम्परा चली आ रही थी। आगमों का लिखना बिल्कुल निषिद्ध था। यदि किसी ने एक गाथा भी लिख ली तो प्रायश्चित्त का भागी बनता था। क्योंकि लिखने में स्याही का आरम्भ, कागजों या ताड़-पत्रों का ममत्वपूर्वक संग्रह परिग्रह माना जाता था। यहाँ तक कि कोई भी लिखा हुआ ग्रन्थ या पोथी आदि रखना निर्ग्रन्थों के लिए वर्जनीय था। पुस्तकों या पत्रों को परिग्रह के भय से पास में न रखकर जहाँ-तहाँ किसी गृहस्थ के यहाँ रखने से आगमों या जिनवाणी की आशातना हो जाने या उन पोथी–पत्रों की प्रतिलेखना न होने से उनमें जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाने या प्रविष्ट हो जाने से हिंसा की आशंका भी थी। इस कारण श्रुत-परम्परा से ही आगमों का पठन-पाठन चलता था। इस कारण आगमों के लिए श्रुत शब्द रूढ़ हो गया। बाद में द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण स्मृतिमन्दता एवं धारणा-शक्ति के ह्रास के कारण शास्त्रों को लिपिबद्ध किया गया। अन्यथा ऐसा न करते तो आज जो जिनवाणी उपलब्ध है, वह भी देखने, सुनने, पढ़ने को न मिलती।[३६]

श्रुत शब्द का अर्थ और तात्पर्यार्थ

हाँ, तो श्रुत का सम्बन्ध श्रवण से होने से **"जो सुनने में आए, वह श्रुत है।"** सामान्यतया श्रुत का 'अभिधा' की दृष्टि से सीधा और स्पष्ट अर्थ किया गया–'शब्द'। किन्तु जैनशास्त्रकारों को श्रुत का इतना ही अर्थ अभीष्ट नहीं था। ऐसे अर्थ से कोई भी अहितकर, हिंसावर्द्धक एवं अज्ञान का अन्ध-विश्वास प्रेरक शब्द भी श्रुत हो जायेगा। अतः 'लक्षणा' से अर्थ किया गया–वह 'शब्द' जो आप्त द्वारा उपदिष्ट हो, यथार्थ हो, सर्वहितकर हो, प्रमाण हो, जनमंगलकारी हो, वह 'श्रुत' है। आगे चलकर 'श्रुत' शब्द भी पूर्वोक्त आगम और शास्त्र का पर्यायवाची बन गया। श्रुत शब्द श्रुत से धीर-धीरे व्यापक श्रुतज्ञान तक पहुँच गया। आप्त-वचनों को ही पूर्ववत् शब्द प्रमाण रूप आगम कहा जाने लगा। सिद्धसेनगणी ने श्रुतज्ञान के रूप में श्रुत शब्द का लक्षण इस प्रकार किया है–

"इन्द्रिय-मनोनिमित्तं ग्रन्थानुसारि-विज्ञानं यत् तत् श्रुतम्।"

इन्द्रियों और मन के निमित्त से होने वाला ग्रन्थानुसारी अर्थात् आप्त-वचनानुसारी जो ज्ञान विज्ञान है, वह श्रुत (श्रुतज्ञान) है। शास्त्रकारों ने श्रुतज्ञान के दो रूप भी बताए हैं–द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। कागज, स्याही और लेखनी आदि से, पुस्तक का ग्रन्थ के रूप में जो साधन निर्मित हो, वह द्रव्यश्रुत है, जबकि आत्मा में अमुक आप्त-वचनरूप शास्त्र या ग्रन्थ से आत्मा में जो सम्यक् ज्ञान समुद्भूत हो–प्रकट हो, वह भावश्रुत है।[३७]

सम्यक् श्रुत ही यहाँ उपादेय है, मिथ्या श्रुत नहीं

यद्यपि जीवन में अनेक लोक-व्यवहारों में किसी न किसी श्रुत (श्रुतज्ञान) पुस्तकादि का आधार रहता है, किन्तु सभी श्रुतज्ञान (श्रुत) यथार्थ भावों का पोषक एवं सम्प्रेरक नहीं रहता। श्रुत के बहाने कभी-कभी राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, अन्ध-विश्वास, मिथ्यात्व आदि का पोषक वचन या शास्त्र भी श्रुत बन जाता है। फलतः पाठक या श्रोता को वह श्रुत मोक्षमार्ग की ओर न ले जाकर कुपथ की ओर ले जाता है। ऐसे श्रुत को सम्यक् श्रुत नहीं कहा जाता।[३८]

यहाँ सम्यक् श्रुत ही उपादेय है, मिथ्या श्रुत नहीं। यद्यपि नन्दीसूत्र में सम्यक् श्रुत और मिथ्या श्रुत दोनों का परिचय और उल्लेख दिया गया है, ताकि पाठक, श्रोता या साधक वर्ग किसी भ्रम में न पड़े, सम्यक् शास्त्र समझकर तदनुसार आचरण न कर बैठे। इसलिए शास्त्र के रूप में उपादेय या सम्यक्

श्रुतज्ञान के रूप में ग्रहण किये जाने वाले 'श्रुत' के साथ आप्त-वचन या उपदेश चाहे अनन्तर से हो या परम्परा से हो, जोड़ा गया। अतएव सम्यक् श्रुत का लक्षण यही होगा–सम्यक् उद्देश्य और यथार्थ वाच्य का प्रकाशक श्रुत ही सम्यक् श्रुत है। सम्यक् श्रुत का स्वरूप तीन लक्षणों से स्पष्ट किया गया–(१) जो आप्तोपदिष्ट हो, (२) जो तत्त्वों का यथार्थ प्रतिपादक हो, और (३) जिससे मोह के उपशम सहित ज्ञानावरणीय कर्म को क्षयोपशम हो जिससे तत्त्वबोध सम्यक् हो, मिथ्या नहीं।[३९]

'सूक्त' शब्द का विश्लेषण

आगमों को सूक्त भी कहा गया है। सूक्त का अर्थ है–सुभाषित। ऐसे सुभाषित जो अरिहंतों द्वारा प्रतिपादित अर्थ का आधार लेकर गणधरों और श्रुतकेवलियों द्वारा अपने मधुर, सरस वर्णात्मक सुन्दर शब्दों में गूँथा गया है। इस प्रकार आगमों को 'सूक्त' भी कहा जा सकता है।

सुप्त शब्द भी सूत्र का पर्यायवाची है

सुप्त शब्द भी आगम का पर्यायवाची है। सुप्त का अर्थ है–सोया हुआ। जिस प्रकार सोये हुए व्यक्ति के आसपास कोई वार्त्तालाप भी करता हो तो उसे उसका ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार जिस आप्त-वचनरूप आगम का अर्थ ज्ञात न हो सके, शास्त्र में सोया रहता हो, किन्तु व्याख्या, चूर्णि, टीका, निर्युक्ति और भाष्य के बिना जिसका अर्थ-बोध भलीभाँति नहीं होता, इसलिए अतीन्द्रिय ज्ञान, अव्यक्त ज्ञान अथवा ऐसे शास्त्रीय ज्ञान का अर्थ-बोध सुषुप्त होने से उसे सुप्त कहा जाता है।

इसका दूसरा पहलू यह है कि सूत्र ही एक ऐसा मार्ग है, जो अपने में महान् अर्थ को समेटे हुए है। वह अर्थ सूत्ररूप में सोया हुआ रहता है। दूसरे शब्दों में कहें तो एक सूत्रात्मक वाक्य में हजारों अर्थ समाविष्ट होते हैं। ज्ञानी पुरुष इसका विश्लेषण कर सकते हैं। जैसे एक बहुमूल्य रत्न में हजारों-लाखों रूप में, सैकड़ों स्वर्ण-मुद्राएँ, लाखों पैसे समाविष्ट होते हैं, वैसे ही तीर्थंकर प्रभु तथा श्रुतकेवली के प्रवचन रूप आगमिक शब्द स्वल्प मात्रा में होते हुए भी वे अर्थ में महान् तथा गम्भीर होते हैं।[४०]

सूत्र शब्द के अन्य पर्यायवाचक शब्द

अनुयोगद्वारसूत्र में 'आगम' के पूर्वोक्त पर्यायवाचकों के अतिरिक्त और भी हैं। वहाँ कहा गया है–"सुय-सुत्त-गंथ-सिद्धंत-पवयणे आणवयण उवएसे

पण्णवण-आगमे वा एगट्ठा पज्जया सुत्ते।'' सूत्र, सुक्त या सुप्त, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम, जिन-वचन तथा श्रुत ये सभी सूत्र या आगम के ही पर्यायवाची एकार्थक शब्द हैं।[४१]

निक्षेप पद्धति से नन्दी का विश्लेषण

अतः पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर नन्दीसूत्र को आगम, सूत्र, श्रुत, ग्रन्थ, सुप्त आदि सिद्ध कर दिया है, फिर भी संसार में 'नन्दी' नाम के कई पदार्थ हैं, प्रस्तुत में कौन-सा 'नन्दी' यथार्थ है, एप्रोप्रिएट है, विवक्षित है अथवा सर्वांगीण आध्यात्मिक विकास का प्रेरक है अथवा हो सकता है? इसे बताने के लिए अनुयोग पद्धति से नन्दीसूत्र के निक्षेप करके समझाते हैं, जिससे सुगमता से वास्तविक नन्दी का बोध और ग्रहण हो सके। विश्व में समस्त व्यवहार तथा विचारों का आदान-प्रदान भाषा के माध्यम से होता है। भाषा शब्दों से बनती है। एक ही शब्द प्रयोजनवश अथवा प्रसंगवश अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैनदर्शन में किसी भी वस्तु के वस्तुतत्त्व को शब्दों में रखने-प्रस्तुत करने या विभिन्न अर्थों में विश्लेषण करने की कम से कम चार शैलियाँ अनुयोगद्वारसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि में बताई गई हैं, उन्हें ही **निक्षेप** कहते हैं। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थों के रूप में विश्लेषण करने से भले ही शब्दकोष में उसका एक ही अर्थ हो, वह शब्द चार अर्थ का द्योतक हो सकता है और श्रोता या पाठक उनमें से अपने विवक्षित अर्थ को पकड़ सकता है। वे चार प्रकार के निक्षेप ये हैं-नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

'नन्दी' शब्द के भी नामादि निक्षेपों के आधार पर चार निक्षेप इस प्रकार होते हैं-नामनन्दी, स्थापनानन्दी, द्रव्यनन्दी और भावनन्दी। किसी जीव या अजीव का नाम नन्दी रखना **नामनन्दी** है। जैसे-नन्दिघोष, नन्दिफल, नन्दिषेण, नन्दिवृक्ष, नन्दिग्राम, नन्दिकुमार आदि। तात्पर्य यह है, लोक-व्यवहार में पहचान के लिए किसी जीव या अजीव का नाम नन्दी रख दिया जाता है, उसे उसी नाम से पुकारा या कहा जाता है, भले ही उसमें नाम के अनुरूप गुण हो या न हो अथवा नाम के अनुरूप उस वस्तु में अर्थ-क्रिया हो या न हो। **स्थापनानन्दी** उसे कहते हैं-किसी कागज या काष्ठ आदि पर 'नन्दी' शब्द लिखना अथवा 'नन्दी' का कोई प्रतीक बनाकर रखना। **द्रव्यनन्दी** उसे कहते हैं-नन्दीसूत्र का जिसे ज्ञान तो है, परन्तु उसमें उपयोग नहीं है। भानशून्य-उपयोगरहित नन्दीसूत्र की तोतारटन्त जानकारी को द्रव्यनन्दी कहा जाता है।

इसके दो भेद हैं–आगमतः और नोआगमतः। उपर्युक्त परिभाषा आगमतः द्रव्यनन्दी की है। आगमतः द्रव्यनन्दी के तीन प्रकार हैं–ज्ञशरीर, भव्यशरीर और उभय-व्यतिरिक्त द्रव्यनन्दी। **ज्ञशरीर द्रव्यनन्दी** उसे कहते हैं, जो व्यक्ति जीवितकाल में नन्दीसूत्र का पारगामी था, परन्तु अब केवल उसका शव पड़ा है या उसका स्मरण होता है या किया जाता है। लोग परस्पर चर्चा करते हैं कि यह व्यक्ति साध्वी या साधु नन्दीसूत्र में पारंगत था। **भव्यशरीर द्रव्यनन्दी** उसे कहते हैं–एक बालक या नवजात शिशु है, जिसे भविष्य में नन्दीसूत्र में अवश्य ही पारंगत बनना है, किन्तु वर्तमान में वह नन्दी का क ख ग भी नहीं जानता। इस कारण उसे भव्यशरीर द्रव्यनन्दी कहते हैं। **उभय-व्यतिरिक्त द्रव्यनन्दी** उसे कहते हैं, जहाँ १२ प्रकार के साजबाज सहित कुछ गायक–वादक एक ताल, एक लय से वाद्य बजा रहे हों, उस समय उपस्थित लोग मस्ती में झूमने लग जाते हैं, इस आनन्द को उभय-व्यतिरिक्त द्रव्यनन्दी कहते हैं।[४२]

भावनन्दी निक्षेप का स्वरूप और उसकी उपादेयता

इसी प्रकार भावनन्दी के भी दो भेद हैं–आगमतः भावनन्दी और नोआगमतः भावनन्दी। कोई मुनिवर जब एकाग्रचित्त होकर उपयोग सहित नन्दीसूत्र का अध्ययन करता है, साथ ही उसके प्रति श्रद्धा, भक्ति, बहुमानपूर्वक अनुप्रेक्षा भी करता जाता है, तब उसे **'आगमतः भावनन्दी'** कहते हैं, क्योंकि **उपयोग ही भाव का लक्षण** है। जो व्यक्ति जिस समय जिसमें उपयोगयुक्त होता है, उस समय में वह उसी में तल्लीन, तन्मय और तदाकार हो जाता है, वह उस समय उस ध्येय से अभिन्न हो जाता है। इसीलिए नन्दीसूत्र रूप आगम में उपयोगपूर्वक तदाकार एवं तन्मय हो जाने वाले व्यक्ति को **'आगमतः भावनन्दी'** कहा जाता है। जब कोई अध्येता नन्दीसूत्र में वर्णित पाँच प्रकार के ज्ञान में से मतिज्ञान या अन्य किसी ज्ञान के अवान्तर भेदों में से किसी एक पद या पंक्ति का मनोयोग एवं उपयोग के साथ अध्ययन करता है, तब उसे **नोआगमतः भावनन्दी** कहते हैं। नो शब्द यहाँ देश अर्थात् आंशिक का वाचक है। जैसे–मनुष्य की एक अँगुली को मनुष्य नहीं कहा जाता, मकान में लगी हुई एक ईंट को मकान नहीं कहा जाता, वैसे ही नन्दीसूत्र की किसी पद या पंक्ति को पूर्णनन्दी नहीं कहा जाता। अतः जब कोई नन्दीसूत्र के किसी एक पद या पंक्ति को उपयोग सहित पढ़ता है, तब तक उसे **नोआगमतः भावनन्दी** ही कहा जाता है। निष्कर्ष यह है कि जब तक नन्दीसूत्र वर्णित पाँच ज्ञान का वर्णनात्मक

अध्ययन या विषय उसके ज्ञान में पूर्ण रूप से न झलके, तब तक वह नोआगमतः भावनन्दी ही कहलाता है। तदनन्तर जब वह सम्पूर्ण नन्दीसूत्र को उपयोग सहित एकाग्रता एवं मनोयोग के साथ जान लेता है तब उसे आगमतः भावनन्दी कहा जा सकता है।[४३]

भावनन्दी बनकर आगमाध्ययन करने से परम लाभ की प्रेरणा

नन्दी शब्द के उपर्युक्त चार निक्षेपों पर से यह ध्वनित होता है कि ज्ञान-पिपासु एवं मोक्ष के परम आनन्द तथा अव्याबाध सुख की प्राप्ति के साधनरत रत्नत्रय-साधना वीतरागता-प्राप्ति की साधना में सफलता चाहने वाले साधक वर्ग को तन्मयतापूर्वक एकाग्रता के साथ नन्दीसूत्र वर्णित सम्यक् ज्ञान में उपयोगयुक्त होकर पहले नोआगमतः, फिर क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते आगमतः भावनन्दी बनने का पुरुषार्थ करना चाहिए, इससे वह साधक अपने ध्येय में तन्मय होकर नन्दीमय बन सकेगा।

भगवान महावीर ने कहा है–"किसी भी आगम का उपयोगयुक्त होकर अध्ययन (पंचांग से युक्त स्वाध्याय) करने से सम्यक् ज्ञान का लाभ होता है। मन एकाग्र हो जाता है, आत्मा श्रुतज्ञान से धर्म में स्थिर रह सकती है। स्वयं धर्म में स्थिर रहता हुआ आगमाध्येता दूसरों को भी धर्म में स्थिर कर सकता है। अतः श्रुतज्ञान (आगमिक श्रुतज्ञान) चित्त-समाधि का मुख्य कारण है।"[४४]

वस्तुतः आगम ज्ञान आत्मा में अद्भुत शक्ति, निर्भयता, स्फूर्ति एवं अप्रमत्तता को जगाता है। नन्दीसूत्र आत्मा के प्रमुख गुण ज्ञान के माध्यम से आत्म-गुण समृद्धि को वृद्धिंगत करने की प्रेरणा देता है। श्रद्धा, भक्ति, बहुमान के साथ भावपूर्वक उपयोगयुक्त होकर आगमाध्ययन करने से अन्तःकरण में वीतरागता जागती है जिससे क्लेश, कषाय, राग, द्वेष, मोह, आसक्ति, घृणा, मनोमालिन्य, हीनभावना, अहंकार, ममकार, भय तथा हिंसादि की भावना इत्यादि समस्त विभावों और विकारों का सहज ही शमन हो जाता है।

फिर नन्दीसूत्रादि आगम तो दर्पण हैं, इनके मनोयोगपूर्वक अध्ययन (पंचांग सहित स्वाध्याय) करने से अन्तःकरण में वीतरागता, समता, सहिष्णुता, आत्मौपम्य भावना, मैत्री आदि भावना जागती है, जिससे अपने अन्तरतम में छिपे हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष, अपराध, अवगुण, भूल आदि स्पष्ट झलकने लगते हैं। आत्मा को परमात्मा बनने की प्रेरणा करने वाले परम गुरु आगम ही हैं। आगम ज्ञान से मन और इन्द्रियाँ समाहित रहती

हैं। अतः नन्दी आदि आगम एकान्त अव्याबाध सुख (परमानन्द) रूप मोक्ष के कारण एवं साधन हैं। ये भय, मोह, कषाय तथा रागादि विकारों पर विजय के अमोघ साधन हैं। बशर्ते कि उपयोगपूर्वक तन्मय होकर इनका स्वाध्याय किया जाये।[४५]

नन्दी शब्द स्त्रीलिंगी है या पुल्लिंगी ?

नन्दीसूत्र को आत्मा की भावसमृद्धि चतुष्टय की जननी कहा जा सकता है; साथ ही असीम आनन्द का कारण भी नन्दीसूत्र है। इन दोनों युक्तियों से नन्दीसूत्र के विषय में कतिपय जिज्ञासुओं के मन में प्रश्न उठता है कि 'नन्दी' शब्द पुल्लिंग है या स्त्रीलिंग? इस विषय में आचार्यों के दोनों ही मत मिलते हैं। उनके मतानुसार भावनन्दी के अतिरिक्त नामनन्दिः, स्थापनानन्दिः और द्रव्यनन्दिः शब्द में ह्रस्व इकार सहित पुल्लिंग में प्रयोग किया जाये। इसी प्रकार हर्ष, प्रमोद, कन्दर्प या लौकिक आनन्द (मौज-शौक) के अर्थ में प्रयुक्त नन्दि शब्द को ह्रस्व-इकारान्त पुल्लिंग समझा जाए। और जहाँ दीर्घ-इकारान्त नन्दी शब्द आत्मिक भाव चतुष्टय समृद्धि का वाचक हो, या भावनन्दी–निक्षेपार्थक हो, अथवा समासयुक्त दीर्घ ईकारान्त पद हो, वहाँ वह स्त्रीलिंग समझा जाये तो कोई दोषापत्ति नहीं है। नन्दि या नन्दी दोनों का अर्थ और भाव एक ही है। आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित मलयगिरि रचित वृत्ति में **'नन्दीसूत्रम्' नन्दीवृत्तिः नन्दीनिक्षेपाः** इस प्रकार नन्दी शब्द का प्रयोग दीर्घ ईकारान्त स्त्रीलिंग में हुआ है। इसी परम्परा को स्थिर रखने के लिए बाद के आचार्यों ने भी स्त्रीलिंगी 'नन्दी' शब्द का ही प्रयोग किया है।[४६]

संस्करण की दृष्टि से नन्दीसूत्र के तीन रूप

नन्दीसूत्र का विविध प्रयोजनों के लिए तीन प्रकार के रूप का उल्लेख भी मिलता है–प्रथम रूप है–देववाचक-विरचित नन्दीसूत्र, द्वितीय रूप है–लघुनन्दी, जिसका अपर नाम अनुज्ञानन्दी भी है और तीसरा रूप है–योगनन्दी।

लघुनन्दी का यह अर्थ नहीं है कि यह नन्दीसूत्र का संक्षिप्तीकरण है, अपितु सामान्यतया गुरु शिष्य को पढ़ने की, पढ़े हुए ज्ञान की आवृत्ति करके उसे स्थिर रखने की, फिर तीसरे चरण में उसे अध्यापन करने (पढ़ाने–वाचना देने) की अनुमति देता और चौथे चरण में उक्त आगम की व्याख्या (अनुयोग पद्धति से) करने की स्वीकृति देता था। इन्हीं चारों के लिए शास्त्रीय शब्द इस प्रकार प्रचलित थे–(१) **उद्देश** (उद्देसो) = पढ़ने की आज्ञा, (२) **समुद्देश** (समुद्देसो) =

पढ़े हुए आगम ज्ञान को स्थिर रखने का निर्देश, (३) **अनुज्ञा** (अणुण्णा) = योग्य शिष्य को पढ़ाने–अध्ययन करने की आज्ञा, और (४) **अनुयोग** (अणुओगो) = पठित आगम की अनुयोग पद्धति से व्याख्या करने की स्वीकृति। अतः अनुज्ञानन्दी का रहस्यार्थ यह है कि नन्दीसूत्र का पठन-पाठन करने की उद्देशादि द्वारा क्रमशः गुरु या आचार्य द्वारा अनुज्ञा प्राप्त होना। इसका कारण यह है कि प्राचीनकाल में शास्त्राध्ययन के प्रमुख स्रोत थे–गुरु या आचार्य। शास्त्र लिखे नहीं जाते थे। गुरु से वाचना लेकर कण्ठस्थ करने की परम्परा थी। ऐसी स्थिति में गुरुगम व्यवस्था का विकास हुआ जिसका प्रतिपादन अनुयोगद्वार मूल, वृत्ति और चूर्णि में उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग, इन चार पदों द्वारा किया गया है। इस प्रकार गुरु अपने शिष्य को पंच ज्ञान रूप नन्दी के साथ भावात्मक अभिन्नता प्राप्त कराकर उसे भावनन्दी बना देता, गण धारण करने की अनुज्ञा देता और इसे नन्दीसूत्र में पृथक् एवं संस्कारित करने हेतु अनुज्ञानन्दी अथवा लघुनन्दी नाम दिया गया। वस्तुतः पूर्वोक्त उद्देशादि चारों से शिष्य को संस्कारित करने हेतु इसका नाम अनुज्ञानन्दी दिया गया है। इस विधि में गुरु अपने शिष्य की आगम ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता, विनीतता तथा जिज्ञासा और समर्पण वृत्ति को परखता है, तदनन्तर ही उस पूर्वोक्त चार चरणों में नन्दीसूत्र के पठन-पाठन आदि की अनुज्ञा देता है।[४७]

नन्दीसूत्र का तीसरा रूप है–'योगनन्दी'। नन्दी के पूर्व योग शब्द जोड़कर योगनन्दी शब्द निष्पन्न हुआ है। योग का यहाँ अर्थ है–तप। प्राचीनकाल में गुरु किसी भी आगम को पढ़ने की–वाचना लेने की अनुज्ञा जब शिष्य को देता था, तब उस आगम का अध्ययन कराने के लिए शिष्य को वह योगोद्वहन कराता था। प्रत्येक आगम का अध्ययन या वाचना गुरु से करते समय अमुक-अमुक तप का विधान था। श्रुत (शास्त्र या आगम) का अध्ययन तप के बिना नहीं हो सकता था। योगविधि (योगोद्वहन) में शिष्य को केवल बाह्य तप ही नहीं करना पड़ता था, उसके लिए पाँच अंगों सहित स्वाध्याय, ध्यान, विनय, वैयावृत्य तथा कायोत्सर्ग के रूप में आभ्यन्तर तप भी करना आवश्यक होता था। संक्षेप में, पूर्वोक्त प्रकार से गुरु की अनुज्ञा प्राप्त होने के बाद शिष्य स्वाध्याय (अध्ययन) के लिए पूर्व तैयारी करता है। इस योगविधि में बार-बार विनयपूर्वक वन्दन करने का विधान है जिसके दो उद्देश्य हैं–अहंकार-विसर्जन और प्रमाद-त्याग। वन्दन के पश्चात् पच्चीस-श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करता है तथा द्रव्य से तथा भाव से भी वह काया के प्रति ममता–मूर्च्छा का

त्याग करता है। फिर प्रदक्षिणा करता है। उपधान (तप) करता है, अन्य कई अनुष्ठानों को सम्पादित करके अन्त में फिर आगम स्वाध्याय सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता है। इस समस्त अनुष्ठान को योगविधि या योगोद्वहन विधि कहते हैं। योगविधिपूर्वक नन्दीसूत्र का अध्ययन करना-कराना योगनन्दी कहलाता है। इस विधि के साथ भी नन्दीसूत्र के पाठ को मूल, अर्थ और व्याख्या के साथ पढ़ने का विधान है।

योगनन्दी के सम्बन्ध में **कतिपय आचार्यों** का मत है कि **'योगनन्दी'** में नन्दीसूत्र का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया जाता है। उसमें ज्ञान के आभिनिबोधिक आदि ५ मुख्य प्रकार बताये जाते हैं। उनमें से अनुयोगद्वारसूत्र में कथित वक्तव्य के अनुसार केवल श्रुतज्ञान के ही उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग हो सकते हैं। अर्थात् श्रुतज्ञान में ही अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था हो सकती है। और श्रुत में भी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगमों के ही उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा, अनुयोग का विधान है। निष्कर्ष यह है कि प्रस्तुत योगनन्दी में ५ मुख्य ज्ञान के नामोल्लेख करके इनके स्रोत के रूप में आचारांग आदि १२ अंगप्रविष्ट श्रुतों (अंगशास्त्रों) का तथा अंगबाह्य में कालिक के अन्तर्गत ३९ सूत्रों का और उत्कालिक के अन्तर्गत दशवैकालिकसूत्र आदि ३१ सूत्र हैं, जिनका अंगबाह्य के अन्तर्गत नन्दीसूत्र में आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त के नाम से उल्लेख करके समावेश किया गया है। जो भी हो, यह भी **'योगनन्दी'** का एक विधिपरक रूप है।[४८]

नन्दीसूत्र आदि सूत्रों की मूल संज्ञा कब से और क्यों ?

आगम साहित्य का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम पूर्व और अंग के रूप में विभाजन का उल्लेख समवायांगसूत्र में है। चतुर्दश पूर्वों (पूर्वशास्त्रों) की रचना द्वादशांगी से पहले की गई थी, इसीलिए **पूर्व** शब्द से उनका नामोल्लेख किया जाने लगा।[४९] किन्तु उसके पश्चात् उपांग, मूल और छेद के रूप में सूत्रों का विभाजन एवं नामकरण सर्वप्रथम किसने और कब किया ? यह अन्वेषण का विषय है। नन्दीसूत्र में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य (या अनंगप्रविष्ट) के नाम से दो भागों में सूत्रों का विभाजन अवश्य किया गया है, किन्तु उपांग, मूल और छेद, ये विभाग वहाँ नहीं किये गए हैं। मालूम होता है, उपांग आदि शब्दों का प्रयोग बाद में प्रचलित हुआ है। हाँ, नन्दीसूत्र में उपांग के बदले अंगबाह्य का प्रयोग अवश्य हुआ है।

मूल और छेद के नाम से सूत्रों का विभाजन कब हुआ? यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता। उत्तराध्ययनसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि एवं वृत्तियों (टीकाओं) में कहीं भी मूलसूत्र के सम्बन्ध में चर्चा नहीं है।[५०] इस पर से प्रतीत होता है कि विक्रम की ११वीं शताब्दी तक मूलसूत्र के नाम से सूत्रों का विभाजन नहीं हुआ था। विक्रम की ११वीं शताब्दी में '**श्रावक विधि**' के लेखक धनपाल ने ४५ आगमों का, तथैव विक्रम की १३वीं शताब्दी में आचार्य प्रद्युम्नसूरि ने भी '**विचारसार-प्रकरण**' में ४५ आगमों का तो निर्देश किया है, परन्तु मूलसूत्रों के रूप में विभाग की चर्चा नहीं की है। इसके पश्चात् विक्रम संवत् १३३४ में रचित '**प्रभावकचरित्र**' में तथा उसके पश्चात् समयसुन्दरगणी द्वारा रचित '**समाचारीशतक**' में मूलसूत्र के नाम से कतिपय आगमों के विभाजन का उल्लेख मिलता है। फलितार्थ यह है कि मूलसूत्रों के रूप में विभाजन की स्थापना १३वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई है।[५१]

किन आगमों को मूलसूत्र कहा जाए? इस सम्बन्ध में भी विभिन्न मनीषियों ने पृथक्-पृथक् मत प्रकट किये हैं। श्वेताम्बर स्थानकवासी और तेरापंथ सम्प्रदाय उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार, इन चार सूत्रों को मूलसूत्र मानते हैं। इन चारों के मूलसूत्र मानने का कोई उल्लेख आगमों में नहीं मिलता। जर्मन विद्वान् शार्पेण्टियर के कथनानुसार ये चारों सूत्र भगवान महावीर द्वारा कहे हुए थे इसलिए इन्हें मूलसूत्र माना गया है, यह कथन भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि दशवैकालिकसूत्र आचार्य शय्यम्भवसूरि प्रणीत माना जाता है। नन्दीसूत्र भी देववाचकणी द्वारा विरचित है। डॉ. शूब्रिंग का मत है कि इन चारों सूत्रों में साधु-जीवन के मूलभूत नियमों का उपदेश होने के कारण इन्हें मूलसूत्र कहा जाता है, किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है। '**जैनतत्त्वप्रकाश**' के अनुसार ये शास्त्र सम्यक्त्व की जड़ को सुदृढ़ बनाते हैं, इसलिए इन्हें मूलसूत्र कहा जाता है, यह मत भी पूर्णतया घटित नहीं होता। इसी के सन्दर्भ में कतिपय मनीषियों का मत है कि इन चार आगमों में मुख्य रूप से श्रमण आचार सम्बन्धी मूल गुणों–महाव्रत, समिति, गुप्ति, दशविध श्रमण धर्म आदि का निरूपण है जो श्रमण जीवनचर्या में मूल रूप से सहायक हैं तथा जिनका अध्ययन और आचरण श्रमणों के लिए सर्वप्रथम अपेक्षित है, उन्हें मूलसूत्र कहा गया है।[५२]

इनसे भी प्रबल युक्ति यह है कि मोक्षमार्ग एवं आत्मा के पूर्ण विकास के मुख्यतया चार मूल साधन हैं–सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र एवं सम्यक् तप। उत्तराध्ययन में मुख्य रूप में सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और

तप का वर्णन आत्मोत्थान के लिए है, दशवैकालिक में सम्यक् चारित्र और तप मोक्ष-प्राप्ति के मूल उपाय के रूप में वर्णित है, अनुयोगद्वार में तत्त्वज्ञान का तथा नन्दीसूत्र में सम्यक् ज्ञान का सांगोपांग वर्णन होने से ये मोक्ष के मूल उपाय हैं। इन कारणों से इन्हें मूलसूत्र कहा गया है। नन्दीसूत्र एकान्त अव्याबाध-सुख प्राप्तिकारक पंचविध सम्यक् ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है। इस अपेक्षा से नन्दीसूत्र की गणना मूलसूत्रों में की गई है। जहाँ सम्यक् ज्ञान का सद्भाव है, वहाँ निश्चय ही सम्यक् दर्शन होता है। सम्यक् दर्शन के अभाव में ज्ञान सम्यक् ज्ञान नहीं, किन्तु अज्ञान (मिथ्या ज्ञान) हो जाता है। सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र भी सम्यक् नहीं हो सकता। चारित्र और तप की सम्यकता के लिए सम्यक् ज्ञान होना अनिवार्य है क्योंकि इन दोनों की आराधना-साधना सम्यक् ज्ञानपूर्वक ही होती है।

दूसरी बात यह है कि चारित्र और तप, ये दोनों इहभविक ही हैं, किन्तु ज्ञान इहभविक भी है, परभविक भी है और तदुभयभविक भी। फिर ज्ञान आदि अनन्त है। साधक अवस्था से लेकर सिद्ध अवस्था तक ज्ञान का सद्भाव रहता है। साधक अवस्था में ज्ञान मोक्ष का मार्ग है। जबकि सिद्ध अवस्था में ज्ञान आत्मा के क्षायिक भाव से प्रगट हुआ गुण है वह स्व-पर-प्रकाशक भी है। निश्चय दृष्टि से ज्ञान परिपक्वावस्था में चारित्र बन जाता है। वह आत्मा का मुख्य निजी गुण है। वह आत्मा के साथ हर समय रहता है। आत्म-शुद्धि के जितने भी साधन हैं, उनका मूल कारण ज्ञान है। नन्दीसूत्र में मुख्य रूप से आत्मा के मूलभूत गुण-ज्ञान का वर्णन है। अतएव नन्दीसूत्र को मूल संज्ञा से अभिहित किया गया है।[५३]

नन्दीसूत्र को चूलिका क्यों कहा गया ?

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र को मूलसूत्र न मानकर चूलिकासूत्र मानता है। चूलिका शब्द का प्रयोग उन अध्ययनों या ग्रन्थों (शास्त्रों) के लिए होता है, जिनमें अवशिष्ट या परिशिष्ट विषयों का वर्णन अथवा वर्णित विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है। दशवैकालिक और महानिशीथ के अन्त में इस प्रकार की चूलिकाएँ-चूलाएँ या चूड़ाएँ उपलब्ध हैं। इन चूलिकाओं में मूलशास्त्र के प्रयोजन अथवा विषय को मद्देनजर रखते हुए, कुछ ऐसी आवश्यक बातों पर प्रकाश डाला जाता है, जिनका समावेश आचार्य मूलशास्त्र में न कर सके। नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार भी इसी प्रकार की बड़ी

चूलिकाएँ हैं, जो परिशिष्ट का काम करती हैं, भूमिका का भी। वस्तुतः चूलिकाएँ आगम मन्दिर की शोभारूप हैं।

जैसे मन्दिर के ऊपर शिखर या कलश चढ़ा होने से उसकी शोभा द्विगुणित जाती है, उसी प्रकार नन्दी और अनुयोगद्वार रूप शिखर से आगम मन्दिर की शोभा में चार चाँद लग जाते हैं। इसलिए ये दोनों आगम चूलिका सूत्र के नाम से पहचाने जाते हैं। अवशिष्ट विषय को छोड़कर ये दोनों आगम अन्य आगमों का अध्ययन करने के लिए प्रस्तावना या भूमिका का भी काम करते हैं।[५४]

आगम-लेखन में नन्दी का मंगलाचरण के रूप में प्रथम स्थान

नन्दीसूत्र का महत्त्व उसके मूलसूत्र होने से तो है ही, किन्तु आगम-लेखन तथा आगम-प्रकाशन योजना में 'नन्दी' को मंगलरूप मानकर प्रथम स्थान दिया गया है। यद्यपि आगमों की दृष्टि से देखा जाए तो अंग (अंगप्रविष्ट) सूत्रों का स्थान प्रथम और अंगबाह्य सूत्रों का स्थान द्वितीय है। नन्दीसूत्र की अंगसूत्रों में गणना नहीं है, तथापि आगम-वाचना एवं आगम-लेखन के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में नन्दी की वाचना या लेखन के पश्चात् अन्य आगमों की वाचना दी जाती है। आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने भी अंगसूत्रों और अंगबाह्य सूत्रों को लिपिबद्ध करने से पूर्व सर्वप्रथम नन्दीसूत्र को लिपिबद्ध किया था। अनुयोगद्वारचूर्णि में भी कहा गया है कि नन्दी मंगलरूप है। वह चार प्रकार की है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। यहाँ (अनुयोगद्वारसूत्र-रचना के प्रारम्भ में) भी नाम, स्थापना, द्रव्यनन्दी का कथन करने के बाद भावनन्दी के अवसर पर (ज्ञान का प्रतिपादक सूत्र 'नन्दी' होने से) लिखा—**"णाणं पंचविधं पण्णत्तं।"** अर्थात् ज्ञान पाँच प्रकार का कहा गया है। नंदीसूत्रचूर्णि में भी कहा—सर्वसूत्र, स्कन्ध के आदि में मंगलाधिकार के प्रसंग में 'नन्दी' का कथन करना चाहिए।

इससे सिद्ध होता है कि सभी आचार्यों ने 'नन्दी' को मंगल माना है। 'नन्दी' का अर्थ ही 'मंगल' है। किसी भी कार्य को निर्विघ्न सम्पन्न करने अथवा विघ्नों का उपशमन करने के लिये सर्वप्रथम मंगलाचरण करने की परिपाटी है। आचार्य देवर्द्धिगणी के मन में भी सर्वप्रथम मंगलाचरण करने की भावना जागृत हुई होगी। चूँकि 'ज्ञान' सर्वश्रेष्ठ मंगल है और उस ज्ञान का प्रतिपादक

सूत्र 'नन्दी' है। अतः व्यक्ति-विशेष की वन्दना से या नमस्कार महामंत्र से मंगलाचरण करने के बजाय ज्ञान के प्रतिपादक सूत्र-नंदीसूत्र का सर्वप्रथम अध्ययन वाचना-लेखन करने की मनोभावना की, तभी विशेषावश्यक भाष्य में भी मंगल के रूप में 'नमस्कार मंत्र' न लेकर आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सर्वप्रथम (ज्ञान-प्रतिपादक सूत्र नन्दी होने से) पाँच ज्ञानों की ही विस्तृत चर्चा की है। तत्पश्चात् आगम-वाचन, आगम-लेखन और आगम-प्रकाशन योजना में सर्वत्र नन्दीसूत्र को मंगल रूप में लेने की परम्परा चल पड़ी। इस पर से नन्दीसूत्र का अपना अलग ही महत्त्व प्रतीत होता है।[५५]

नन्दीसूत्र की रचना किसने और कब की ?

नन्दीसूत्र के रचयिता देववाचक थे। परन्तु ये देववाचक कौन थे? इनका जन्म-नाम क्या था? इस विषय में विद्वान् मनीषियों में मतैक्य नहीं है। कतिपय विद्वान् देववाचक और देवर्द्धिगणी दोनों को एक मानते हैं। कुछ विद्वान् दोनों को पृथक्-पृथक् मानते हैं। नन्दीसूत्र की स्थविरावली में सूत्रकार ने दूष्यगणी के गुणों का वर्णन करते हुए उन्हें भक्तिभावपूर्वक नमस्कार किया है। **'पयइए महुरवाणिं'** आदि गाथा से यह प्रतीत होता है कि सूत्रकार का आचार्य दूष्यगणी के साथ प्रत्यक्ष परिचय रहा है। नन्दीसूत्रचूर्णि में भी देववाचक को दूष्यगणी का शिष्य बताया गया है। इससे यह मालूम होता है कि देववाचक दूष्यगणी के शिष्य थे,[५६] जिन्होंने नन्दीसूत्र की संकलनात्मक रचना की है।

किन्तु ये नन्दीसूत्र के रचनाकार देववाचक, आगमों को सर्वप्रथम लिपिबद्ध करने वाले देवर्द्धिगणी ही थे या अन्य थे? इस विषय में विद्वानों में मतभेद है।

मुनि श्री पुण्यविजय जी ने **"नंदीसुत्तं अणुओगद्दाराइं च"** की प्रस्तावना में दोनों आचार्यों को भिन्न-भिन्न परम्परा के बताये हैं। साथ ही नन्दीसूत्र की रचना का एवं आगम-लेखन का काल भी भिन्न-भिन्न दर्शाया है। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। जैनदर्शन के उद्भव विद्वान् पं. दलमुख मालवणिया भी दोनों आचार्यों को अलग-अलग मानते हैं। उनके अनुसार-इस सम्बन्ध में सबसे प्राचीन प्रमाण नन्दीसूत्रचूर्णि का है, जिसमें स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि देववाचक दूष्यगणी के शिष्य थे। दूसरी ओर कल्पसूत्र की गुर्वावली में देवर्द्धि के गुरु का नाम 'आर्य शाण्डिल्य' बताया गया है। अतः आर्य शाण्डिल्य के शिष्य देवर्द्धि और दूष्यगणी के शिष्य देववाचक दोनों एक नहीं हैं।[५७]

आगम-रत्नाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म. ने अपने द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र की प्रस्तावना (नन्दीसूत्र दिग्दर्शन) में देववाचक को ही देवर्द्धिगणी के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है–"देववाचक जी सौराष्ट्र प्रदेश के एक क्षत्रियकुल मुकुट काश्यप गोत्रीय मुनिसत्तम हुए हैं जिन्होंने आचारांग आदि ११ अंगसूत्रों के अतिरिक्त दो पूर्वों का अध्ययन भी किया। अध्ययन में बृहस्पति-तुल्य होने से श्रीसंघ ने कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए उन्हें 'देववाचक' पद से विभूषित किया। माता-पिता ने इनका क्या नाम रखा था? यह अभी खोज का विषय है। नन्दीसूत्र की संकलना या रचना करने वाले देववाचक ही हुए हैं। वे ही आगे चलकर कालान्तर में दूष्यगणी के पट्टधर गणी हुए हैं। अर्थात् (वाचक) उपाध्याय से आचार्य (गणी) बने हैं। दैवी सम्पत्ति व आध्यात्मिक ऋद्धि से समृद्ध होने के कारण देवर्द्धिगणी के नाम से ख्यात हुए हैं। तत्कालीन श्रमणों की अपेक्षा क्षमाप्रधान श्रमण होने से देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। एक देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण इससे भी पहले हुए हैं, वे काश्यप गोत्रीय नहीं, बल्कि माठर गोत्रीय हुए हैं, ऐसा कल्पसूत्र की स्थविरावली में स्पष्ट उल्लेख है।"[५८]

किसी अज्ञात मुनिवर ने कल्पसूत्र की स्थविरावली में यह गाथा दी है–

"सुत्तत्थ-रयण-भरिए, खम-दम-मद्दव-गुणेहिं संपन्ने।
देवड्ढि खमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि॥"

अर्थात् जो सूत्र और अर्थ (अथवा सूत्रार्थ)–रूप रत्नों से परिपूर्ण हैं, क्षमा, दम और मार्दव गुणों से सम्पन्न हैं, उन काश्यप गोत्रीय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को मैं सविधि वन्दन (प्रणिपात) करता हूँ।[५९]

नन्दीसूत्र का संकलन करने वाले और आगमों को लिपिबद्ध करने वाले देवर्द्धिगणी जी को लगभग १,५०० वर्ष हो गए हैं। आजकल जो भी आगम उपलब्ध हैं, उनको लिपिबद्ध करके चतुर्विध संघ को श्रुतज्ञान की राशि प्रदान करने का श्रेय उन्हीं को मिला है। चूर्णिकार श्री जिनदासगणी एवं वृत्तिकार श्री हरिभद्रसूरि ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है।[६०]

पं. मुनि श्री कल्याणविजय जी ने भी देववाचक और देवर्द्धिगणी को एक माना है। यदि दोनों एक हैं तो कल्पसूत्र के आधार पर देवर्द्धिगणी का समय भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण का ९८०वाँ वर्ष माना गया है, तदनुसार 'देववाचक' का समय भी भगवान महावीर के निर्वाण का ९८०वाँ वर्ष होना चाहिए।

वल्लभी स्थविरावली में भूतदिन्न के ७९ वर्ष और कालक के ११ वर्ष बताये गए हैं तथा कालक के साथ ही वह स्थविरावली पूर्ण होती है। तब अन्त में वीर निर्वाण सं. ९८१ तक में कालक का काल पूर्ण होता है।[६१]

देववाचक ने जो स्थविरावली नन्दीसूत्र में दी है, उसके अनुसार 'भूतदिन्न' के बाद 'कालक' का नहीं, लौहित्य का उल्लेख है। वल्लभी स्थविरावली में उल्लिखित कालक के ११ वर्ष न गिनें तो भूतदिन्न का स्वर्गवास वीर निर्वाण सं. ९७० (तदनुसार विक्रम सं. ५००) में हुआ। उसके पश्चात् नन्दीसूत्र के अनुसार लौहित्य हुए और बाद में हुए दूष्यगणी। दूष्यगणी के शिष्य देववाचक हुए। ऐसा भी सम्भव है कि भूतदिन्न का जीवितकाल ७९ वर्ष जितना लम्बा हो और उनकी उपस्थिति में ही उनके शिष्य लौहित्य और प्रशिष्य दूष्यगणी दोनों विद्यमान रहे हों। इससे हम देववाचक को वीर निर्वाण सं. ९७० (विक्रम सं. ५००) से भी पूर्व मान सकते हैं। ऐसा न हो तो भी भूतदिन्न के बाद ५० वर्ष में देववाचक हुए, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं आती। अर्थात् विक्रमाब्द ५०० से ५५० तक उनका समय माना जा सकता है।

अतः देववाचक के समय की अन्तिम अवधि विक्रम सं. ५५० माननी चाहिए। उससे पूर्व भी हुई हो, ऐसी भी सम्भावना है। उनकी इस अन्तिम अवधि का समर्थन आचार्य जिनभद्र का 'विशेषावश्यक' भी करता है क्योंकि उसमें नन्दी का उल्लेख आया है। आचार्य जिनभद्र का समय ५४६ से ५५० के आसपास का है, इसलिए नन्दी की रचना उनके विशेषावश्यक से पूर्व की गई हो, यह बहुत सम्भव है। आचार्य देवर्द्धिगणी ने कल्पसूत्र का लेखन वीर निर्वाण सं. ९८० अथवा ९९३ (विक्रम सं. ५१०-५२३) में पूर्ण किया है। इसलिए नन्दी की रचना का समय उसके पूर्व ही होना चाहिए क्योंकि नन्दीसूत्र का उल्लेख अन्य आगमों में आता ही है। इसलिए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि नन्दीसूत्र की रचना विक्रम सं. ५२३ से पूर्व हो गई थी।

आवश्यकनिर्युक्ति द्वितीय भद्रबाहु स्वामी की कृति है, जिनके समकालीन वराहमिहिर थे, जिन्होंने विक्रम सं. ५६२ में 'पंचसिद्धान्तिका' लिखी है। अतः आवश्यकनिर्युक्ति का समय भी विक्रम सं. ५६२ मानें तो भी नन्दीसूत्र की रचना इससे पूर्व हो चुकी होगी, ऐसा युक्तिसंगत मालूम होता है। अंगादि सूत्रों के वल्लभी लेखनकाल को ध्यान में लें तो पूर्वोक्त विक्रम सं. ५२३ से पूर्व नन्दीसूत्र की रचना मानने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती।

नन्दीसूत्र की रचना का उद्देश्य

श्रद्धेय देववाचकगणी की जिनवाणी पर अगाध श्रद्धा-निष्ठा एवं भक्ति थी। स्वयं उन्होंने आचारांगादि अंगशास्त्रों का तथा दो पूर्वों तक का अध्ययन किया था। वे स्वयं तीर्थंकर अर्हद् भगवान की वाणी को अविच्छिन्न रखने के लिए प्रयत्नशील थे। नन्दीसूत्र की रचना करने के पीछे उनके दो मुख्य उद्देश्य रहे हैं-(१) रत्नत्रय की आराधना, और (२) योगत्रय की आराधना। रत्नत्रय हैं-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। उन्होंने अरिहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और वीतराग प्ररूपित सन्दर्भ एवं तत्त्व पर दृढ़ श्रद्धा तथा आत्मा और आत्म-शुद्धि के साधनरूप संवर-निर्जरारूप धर्म पर श्रद्धा-निष्ठा रखकर दर्शनाराधना की, साथ ही सम्यक् दर्शन के कारण सम्यक् ज्ञान के स्रोत आगमों का निम्नपूर्वक अध्ययन किया। सम्यक् दर्शन के कारण उनका ज्ञान भी सम्यक् और निर्मल होता गया, तत्त्वज्ञान को समझाने की उनमें अपूर्व शक्ति थी। निर्मल सम्यक् ज्ञान होने से उनका चारित्र भी सम्यक् एवं निर्मल रहा। इस प्रकार रत्नत्रय की आराधना करने के साथ-साथ संघ-सेवा, श्रुताराधना, प्रवचन-रक्षा करने की अन्तःस्फुरणा जारी रही। नन्दीसूत्र की संकलना करने में एक उद्देश्य यही रहा कि ज्ञान की परम्परा अविच्छिन्न रहेगी तो चारित्र और तप की आराधना भी निर्मल और सम्यक् रूप से मेरे-जैसे अन्य साधकों की भी होती रहेगी।

साथ ही नन्दीसूत्र की रचना के पीछे दूसरा उद्देश्य योगत्रय की आराधना का था। योगत्रय हैं-ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। भवसागर को पार करने के लिए सर्वोत्तम नौका श्रुत-सेवा है। अतः आगमों पर जिनप्रणीत-प्ररूपित तत्त्वों पर, जैन सिद्धान्तों एवं वीतरागता पर दृढ़ श्रद्धा रखना-रखाना, स्वयं भी भेदविज्ञाननिष्ठ होकर पर-भावों एवं विभावों से ज्ञान-बल के आधार पर ऊपर उठकर ज्ञाता-द्रष्टा बने रहने का अभ्यास करना, आगमों की रक्षा करना, उनका पंचांगपूर्वक स्वाध्याय-अध्ययन करना-कराना ज्ञानयोग की आराधना है जिसे वे करते थे। साथ ही श्रुत-सेवा द्वारा तथा संघ को धर्म की प्रेरणा, धर्मोपदेश एवं तत्त्वज्ञान की प्रेरणा द्वारा संघ-सेवा करना कर्मयोग की आराधना है जो उन्होंने की तथा देव, गुरु, धर्म और शास्त्र पर दृढ़ श्रद्धा-निष्ठा रखना तथा इन चारों के लिए तन, मन तथा सर्वस्व साधन समर्पित करना एवं संघ तथा प्रवचन की भक्ति करना भक्तियोग की आराधना है, यह भी उन्होंने सहर्ष की। वस्तुतः इन तीनों योगों की आराधना एवं स्व-पर-कल्याण का

अमोघ उपाय नन्दीसूत्र की रचना के माध्यम से हो सकता है, इसी आशय का उद्देश्य 'नन्दीसूत्र' की रचना के पीछे श्री देववाचक जी का रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है।[६२]

यह भी एक उद्देश्य सम्भव है

हेय, ज्ञेय, उपादेय को, आत्मा और कर्म को, बन्ध और मोक्ष को तथा मोक्ष के उपायों को सद्बुद्धि की तुला पर तोलकर विश्लेषणात्मक दृष्टि से समझना सद्विवेक है, जो सम्यक् दर्शन का ही दूसरा रूप है। ऐसे सम्यक् दर्शन दीप को प्रज्वलित रखने के लिए आचार्य श्री देववाचक जी ने सम्यक् ज्ञान प्ररूपक नन्दीसूत्र के स्वाध्याय को सर्वश्रेष्ठ साधन माना। स्वाध्याय श्रुत धर्म का विशिष्ट अंग है, श्रुत धर्म हमारे चारित्र धर्म को जगाता है। चारित्र धर्म से आत्मा की विशुद्धि होती है। आत्म-विशुद्धि से केवलज्ञान की प्राप्ति, उससे आन्तरिक विमुक्ति और विमुक्ति से एकान्त आत्मिक पर सुख एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह उद्देश्य भी नन्दीसूत्र की रचना के पीछे रहा हो ऐसा अनुमान है।[६३]

नन्दीसूत्र की रचना का आधार

श्रद्धेय देववाचक जी सम्यक् ज्ञान के बिन्दु से लेकर सिन्धु तक का तलस्पर्शी अध्ययन करके जगत् के तथा अध्यात्म के उच्च, मध्यम, निम्न कोटि के जिज्ञासु साधकों के समक्ष, अरिहंतों द्वारा केवलज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित सम्यक् ज्ञान की धाराओं का एक जगह एक ही शास्त्र में संकलन करके रखना चाहते थे। उन्होंने आगमों की तत्कालीन श्रुत परम्परा से प्राप्त समुद्र में गोता लगाया और देखा कि ज्ञान के सम्बन्ध में यत्र-तत्र बिखरे-बिखरे किन्तु ठोस विचार तो उपलब्ध हैं, किन्तु एक ही जगह सारा ज्ञान-रत्नाकर एकत्रित नहीं है। अतः आज से लगभग १,५०० वर्ष पहले ऐसा कोई आगम उपलब्ध नहीं था, जिसमें ज्ञान का अथ से इति तक सविस्तृत वर्णन हो, ताकि अध्यात्म ज्ञान साधक एक ही शास्त्र में ज्ञान-सिन्धु को प्राप्त करके उसमें अवगाहना कर सके। बीज की तरह यत्र-तत्र बिखरे हुए ज्ञान का वर्णन तो उस युग में भी अनेक आगमों में उपलब्ध था। बहुत सम्भव है, यत्र-तत्र बीजरूप में बिखरे हुए ज्ञान-कणों को उन्होंने अपनी विशाल प्रज्ञा और हार्दिक श्रद्धा-निष्ठा से यथावस्थित क्रम से नन्दीसूत्र के रूप में क्रमबद्ध संकलित और सम्पादित किया हो अथवा देववाचक जी स्वयं पूर्वधर थे, अतः यह भी सम्भव है कि व्यवच्छिन्न हुए ज्ञानप्रवाद पूर्व के शेषावशेष का आधार लेकर नन्दीसूत्र का संकलन या

रचना की हो। यह भी सम्भव है कि संकलन के समय दृष्टिवाद का जो ढाँचा रह गया था, उसी को नन्दीसूत्र में ज्यों का त्यों पाठ के रूप में निबद्ध कर दिया हो। इस अनुमान पर से नन्दीसूत्र को ज्ञानप्रवाद पूर्व का एक अंश मान लिया जाए तो भी कोई अत्युक्ति नहीं है, क्योंकि इसका मूल स्रोत तो उक्त पूर्व ही है।

अथवा नन्दीसूत्र की रचना का यह आधार भी हो सकता है कि ज्ञानप्रवाद पूर्व का अध्ययन करने में उस युग में जो साधक असमर्थ थे, उन मंदमति साधकों को पंचविध ज्ञान के समस्त भेद-प्रभेदों और पहलुओं का ज्ञान एवं अध्ययन सुगमतापूर्वक कराया जा सके या हो सके, एतदर्थ ऐसे साधकों को लक्ष्य में रखकर देववाचक जी ने उक्त पूर्व से उद्धृत करके नन्दीसूत्र की रचना की हो।[६४]

आचार्य श्री हस्तीमल जी म. ने स्थानांग, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना, भगवतीसूत्र एवं दशाश्रुतस्कन्ध आदि कितने ही आगमों (शास्त्रों) के स्थलों से नन्दीसूत्र के पाठों की समानता दिखाकर यह सिद्ध किया है कि नन्दीसूत्र श्री देववाचक क्षमाश्रमण द्वारा विविध आगमों से संकलित रचना है। अंगशास्त्रों के आधार पर से ही देववाचक जी ने उत्कालिक आदि आगमों के पाठ उद्धृत किये हैं।[६५]

वस्तुतः नन्दीसूत्र की रचना के पीछे पूर्वोक्त आधारों तथा उद्देश्यों में से कोई भी आधार या उद्देश्य रहा हो, तथापि यह सुनिश्चित है कि नन्दीसूत्र आगमों एवं पूर्व ज्ञान की आंशिक क्रमबद्ध शैली में निरूपित मंगलमयी रचना है।

'आगम' और 'नन्दी' मंगलरूप हैं, फिर मंगलाचरण क्यों ?

शास्त्र के प्रारम्भ मंगलाचरण की आवश्यकता के विषय में एक ज्वलन्त प्रश्न उपस्थित होता है कि 'आगम' और आगमोक्त जिनवाणी स्वयं मंगलरूप है, तथैव 'नन्दी' भी स्वयं मंगलरूप मानी जाती है। फिर नन्दीसूत्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण के लिए शास्त्रकार ने अर्हत्-स्तुति, महावीर-स्तुति, संघ-स्तुति, तीर्थंकरावली, गणधरावली, जिनशासन-स्तुति और स्थविरावलि के माध्यम से गुणानुवाद और वन्दन के रूप में बहुत ही विस्तार से मंगलाचरण क्यों किया है ? इतने विस्तृत रूप में स्वतः मंगल का पुनः-पुनः मंगलाचरण करने के पीछे शास्त्रकार का क्या हेतु रहा है ?

यह सत्य है कि आगम और आगमोक्त जिनवाणी तथा नन्दी एवं नन्दीसूत्र प्ररूपित ज्ञान स्वयं मंगलरूप है, फिर भी सबके शुभ उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं।

उनकी पूर्ति निर्विघ्नतापूर्वक हो तथा विघ्नों का उपशमन हो, शास्त्र-रचना के आदि, मध्य और अन्त में किसी प्रकार का विघ्न न हो, इस कारण भी पृथक्-पृथक् उद्देश्य से मंगलाचरण किया जाता है। जैसे कि तपश्चर्या स्वयं मांगलिक है, फिर भी उसे ग्रहण करने से पूर्व गुरु वन्दन-नमस्कारपूर्वक उसके लिए आज्ञा, आशीर्वाद, स्वीकृति आदि तपश्चर्या की पूर्णाहुति में कारण होने से मंगलमय माने जाते हैं। उसी प्रकार आगम स्वयं मंगलरूप है तथा सम्यक् ज्ञान में प्रवृत्ति-प्रेरक होने से आनन्दप्रदायक भी है, तथापि आगम का अध्ययन, अध्यापन, रचना एवं संकलन-सम्पादन करने से अथवा आगमों की टीका, व्याख्या, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, अनुवाद आदि करने से या नवीन साहित्य सृजन करने से पूर्व अध्येता, अध्यापनकर्त्ता, रचयिता, सम्पादक, संकलयिता आदि का परम कर्त्तव्य हो जाता है कि आगमों तथा जिनवाणी के प्रमुख स्रोत तीर्थंकर भगवन्तों तथा ज्ञान के सर्वोच्च शिखर शासनदेव महावीर प्रभु तथा जिनवाणी को सूत्रबद्ध करने वाले गणधरों, जिनवाणी तथा जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित ज्ञान की परम्परा को सुरक्षित एवं स्थिर रखने वाले रत्नत्रय के परम साधक तथा बहुश्रुत पूज्य स्थविरों एवं उपकारी महाश्रमणों को वन्दन-नमस्कार एवं उनका गुणगान-बहुमान करें, जोकि मंगलकारक हैं, विघ्न-समूह को शान्त करने वाले हैं।[६६]

मंगलाचरण क्यों आवश्यक है ?

मंगलाचरण के विषय में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण 'विशेषावश्यक भाष्य' में अपने विचार व्यक्त करते हैं–श्रेयस्कर (श्रेष्ठ) कार्य अनेक विघ्नों से व्याप्त होने से कार्य को सकुशल पूर्ण नहीं होने देते। अतएव मंगलोपचार करके ही उस कार्य को प्रारम्भ करना चाहिए। जिस प्रकार महानिधि का उत्खनन मंगलोपचार करके ही किया जाता है, उसी प्रकार महाविद्या भी मंगलोपचार करके ही प्रारम्भ की जाती है। क्योंकि महानिधि के समान महाविद्या भी अनेक विघ्नों से युक्त होती है। अतः मंगलाचरण करने से महाविद्या में आने वाले सभी विघ्न-समूह शान्त हो जाते हैं। अतः "शास्त्र (सृजन, अध्ययन-अध्यापन, लेखन या शुभ कार्य) के आदि में, मध्य में और अन्त में" मंगलाचरण करना चाहिए, ताकि विघ्न-समूह स्वयं उपशान्त हो जाए। शास्त्र के आदि में किया गया मंगल निर्विघ्नता से पारगमनार्थ सहयोगी होता है। उसकी स्थिरता के लिए मध्य मंगल सहयोग देता है और अन्तिम मंगल शिष्य-प्रशिष्यों में मंगलाचरण की परम्परा अविच्छिन्न (चालू) रखने के लिए किया जाता है।"[६७]

प्रत्येक शुभ कार्य में अनेक विघ्न-बाधाओं का आना स्वाभाविक है। इसी कारण अनुभवी रचनाकारों और आचार्यों ने अपनी रचना करने से पूर्व मंगलाचरण किया है, क्योंकि मंगल ही अमंगल को विनष्ट कर सकता है।

मंगलाचरण से लौकिक और लोकोत्तर लाभ

अतः मंगलाचरण लौकिक और पारलौकिक अथवा लोकोत्तर दृष्टि से भी लाभदायक है। मंगलाचरण से विघ्न-समूह स्वयं उपशान्त हो जाता है। विघ्नों के अभाव में सफलता निश्चित है। यदि प्रगतिबाधक विघ्न पहले से ही शान्त हैं तो मंगलाचरण या तो आध्यात्मिक दृष्टि से सकाम कर्मनिर्जरा का कारण बनता है या फिर पुण्यानुबन्धी पुण्य का कारण भी हो सकता है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भगवान महावीर ने बताया है कि "स्तव स्तुतिरूप मंगल से (मंगलाचरण से) जीव को ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप बोधि की प्राप्ति (लाभ) करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप बोधि-लाभ-सम्पन्न जीव या तो अन्तःक्रिया (स्वयं को सर्वकर्मों के अन्तरूप मुक्ति) का उपार्जन करता है या फिर कल्पोपपन्न या नवग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है।" तात्पर्य यह है कि अरिहन्त और सिद्ध भगवान की स्तुतिरूप मंगलाचरण पाठ करने से रत्नत्रय बोधि-लाभ-सम्पन्न जिस जीव के समस्त घातिकर्मों का क्षय हो गया हो, उसे मोक्ष प्राप्त होता है और जिसके कुछ कर्म बाकी रह गए हों वह आत्मा सर्वोत्तम कल्पोपपन्न एवं कल्पातीत देवलोकों में उत्पन्न होता है, वहाँ से च्यवकर उत्तम मानव भव प्राप्त करके अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है।[६८]

मंगलाचरण से आठ प्रमुख लाभ

आचार्य श्री आत्माराम जी म. ने नन्दीसूत्र-प्रस्तावना में मंगलाचरण से आठ लाभ बताए हैं–(१) विघ्नोपशमन, (२) श्रद्धा, (३) आदर, (४) उपयोग, (५) निर्जरा, (६) अधिगम, (७) भक्ति, और (८) प्रभावना।

(१) जैसे सूर्य के प्रकाश से सारा अन्धकार नष्ट हो जाता है वैसे ही मंगलाचरण से तमाम विघ्नों का विलय हो जाता है, कण्टकाकीर्ण मार्ग निष्कंटक हो जाता है। सभी विघ्न उपशान्त हो जाते हैं। (२) मंगलाचरण करने से इष्टदेव के प्रति श्रद्धा दृढ़ होती है। श्रद्धा से ज्ञान प्राप्त होता है। श्रद्धा आत्मोन्नति का मूल मंत्र है। (३) मंगलाचरण करने से इष्टदेव और पंचपरमेष्ठी भगवन्तों तथा लक्ष्य के प्रति आदर-बहुमान बढ़ता है जिससे उनकी अविनय आशातना, अवज्ञा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। (४) इष्टदेवों के विशिष्ट गुणों

की स्तुति के रूप में मंगलाचरण करने से उनके उन गुणों की उपलब्धि अपनी आत्मा में करने की प्रेरणा मिलती है। अपना उपयोग विशुद्ध व स्वच्छ हो जाता है, आत्मा में परमात्म भाव झलकने लगता है। (५) मंगलाचरण से अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है। (६) मंगलाचरण करने से प्रमाणों और नयों से सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् दर्शन की उपलब्धि होती है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, प्राप्ति का विशिष्ट निमित्त अधिगम है। (७) मंगलाचरण से इष्टदेव के प्रति तन्मय होकर उनकी अनन्य भक्ति में लीन होकर व्यक्ति सर्वस्व समर्पण कर देता है। (८) मंगलाचरण से दूसरे मुमुक्षु या जिज्ञासु अन्यार्थी भी प्रभावित होते हैं, व्यक्त एवं अव्यक्त रूप से परम्पराएँ उक्त मार्ग की प्रशस्त प्रभावना भी होती है।[६९]

नन्दीसूत्र में मंगलाचरण से देववाचक जी को लाभ

अतः नन्दीसूत्र के आदि में विभिन्न स्तुतियों के रूप में जो मंगलाचरण किया गया है, उससे देववाचक जी को तो महान् लाभ हुआ ही है, किन्तु इसके पठन-श्रवण से दूसरों को भी लाभ होता है, क्योंकि ऐसा लोकोत्तर मंगलाचरण भी स्व-पर-प्रकाशक होता है। अरिहन्तों और सिद्धों के असाधारण गुणों की स्तुति से उनके उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रगट करने के अतिरिक्त उनके गुणों को अपने जीवन में उपलब्ध करने की भी प्रेरणा मिलती है। साथ ही देववाचकगणी ने श्रुतधर आचार्यों, स्थविरों तथा जिनशासन एवं श्रीसंघ के प्रति आत्मार्थी जनमानस में श्रद्धा-भक्ति बढ़ाई है। भगवान द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ भी भगवद् रूप है, उसकी विनय-भक्ति करना भगवद्-भक्ति है। उसका अपमान, अवज्ञा या आशातना करना भगवान का अपमान, अवज्ञा या आशातना है। मंगलाचरण करने के बाद कार्य में सफलता मिलने पर अपने में अहंकार न आ जाए तथा भगवद्-भक्ति, संघ-भक्ति, स्थविर-भक्तिरूप मंगलाचरण को सफलता का श्रेय मिले, इसके लिए भी मंगलाचरण लाभदायक है। अतः निःस्वार्थभाव से, शुद्ध रूप में मंगलाचरण के द्वारा विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, कषायादि व्युत्सर्ग इत्यादि आभ्यन्तर तप का भी लाभ अनायास ही प्राप्त हुआ है, देववाचक जी से, दूसरों को भी होता है।

नन्दीसूत्र के विषयों का वर्गीकरण

नन्दीसूत्र में सर्वप्रथम ५० श्लोकों में मंगलाचरण किया गया है जिसमें दो श्लोकों में क्रमशः सामान्य रूप को और श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् चतुर्विध संघ की १७ श्लोकों में, चौबीस तीर्थंकरों

की २ श्लोकों में, ग्यारह गणधरों की २ श्लोकों में तथा वीरशासन की १ श्लोक में स्तुति की गई है। तदनन्तर २६ श्लोकों में सुधर्मा स्वामी से लेकर युगप्रधान दूष्यगणी तक को तथा उनके अतिरिक्त अन्यान्य अनुयोगधर, श्रुतधर एवं युगद्रष्टा स्थविर मुनियों को उनकी विशेषताएँ बताते हुए प्रणाम किया गया है।

सर्वप्रथम अर्हत्-स्तुति और महावीर-स्तुति क्यों ?

मंगलाचरण में शासनेश अरिहन्त भगवान तथा केवलज्ञानी परमात्मा की स्तुति आचार्य देववाचक जी ने की है। इसके पीछे उनका आशय यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सम्यक् ज्ञान की पूर्ण ज्योति पाकर वे जगत् के सर्व जीवों के उत्पत्ति स्थान (योनि) विज्ञाता, जगत् के गुरु (मार्गदर्शक), जगत् के लिए आनन्ददायक, जगत् के नाथ, जगद्-बन्धु विश्ववत्सल जगत् के पितामह बने; इसी प्रकार हम भी सम्यक् ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर वीतरागता को उपलब्ध करें और विश्ववत्सल बनें।

तत्पश्चात् समग्र श्रुतज्ञान के मूल स्रोत, वर्तमान अवसर्पिणी काल के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर, तीन लोक के गुरु (विश्वगुरु), महान् आत्मा भगवान महावीर की जय हो, ऐसी मंगल भावनात्मक चार विशेषणों से युक्त स्तुति भी उस महाप्रभु के प्रति कृतज्ञता प्रगट करने के लिए आवश्यक थी। तीसरी गाथा में भी समग्र विश्व में सम्यक् ज्ञान का उद्योत करने वाले, राग-द्वेषरूप रिपुओं के विजेता, देवों और दानवों द्वारा वन्दनीय तथा कर्मरूपी रज को झाड़ देने वाले (कर्मों से मुक्त) प्रभु महावीर भद्ररूप कल्याणरूप हों। इस प्रकार चार विशेषण भगवान के ज्ञानातिशय, अपायापगमातिशय तथा पूजातिशय और पूर्व गाथा में उक्त विशेषण वागतिराय; यों चार अतिशय कल्याणप्रद हों। इस प्रकार की स्तुति करके शास्त्रकार ने ध्वनित कर दिया है कि यदि ये चारों ही विशेषण जीवन में घटित हो जाएँ तो भक्तजनों के द्वारा की गई यथार्थ स्तुति कल्याणप्रद हो सकती है।[७०]

आगमों में भगवान महावीर

पूर्वोक्त तीन गाथाओं में जो विशेषण वीतराग शासनेश अरिहन्त तथा भगवान महावीर प्रभु के लिए प्रयुक्त किये गए हैं, उन विशेषताओं को भगवान महावीर तथा अन्य वीतराग अरिहन्त केवल जन्म लेने मात्र से या किसी भगवान, परमात्मा या वीतराग की कृपा से वरदान के रूप में प्राप्त नहीं कर

पाते, किन्तु सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त करने तथा आत्मा पर आये हुए कषायों तथा राग, द्वेष, मोह आदि विकारों को नष्ट करने हेतु स्वयं सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप की साधना में पुरुषार्थ करके ही उपर्युक्त विशेषणों के योग्य, विश्ववन्द्य वीतराग बने हैं। आगमों में सबसे प्राचीन आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध है। उसके ९वें अध्ययन उपधानश्रुत में भगवान महावीर की सम्यक् दर्शनादि चतुष्टय की साधना-आराधना में अप्रमत्त होकर (श्रम) पुरुषार्थ करने श्रमण-जीवन का हृदयस्पर्शी आदर्श प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन में भगवान महावीर की शरीर और शरीर से सम्बन्धित पर-भावों और विभावों से दूर रहकर, देहाध्यास से ऊपर उठकर कठोर साधना और तितिक्षा का रोमांचकारी वर्णन है।[७१]

प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में भगवान महावीर की श्रमणोचित कठोर चर्या का, द्वितीय उद्देशक में शय्या वसति का, तृतीय उद्देशक में परीषहों और उपसर्गों के समय भगवान की तितिक्षा और सहिष्णुता का तथा चतुर्थ उद्देशक में आतंक, रोग आदि के दौरान भावचिकित्सा की सांगोपांग साधना का वर्णन है। इसके अतिरिक्त उनके जन्म, जन्म-स्थान, बाल्यकाल, युवाकाल, परिवार आदि पूर्व जीवन का किंचिन्मात्र भी उल्लेख नहीं है। यह श्रुतस्कन्ध गणधररचित है।

आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध चतुर्दश पूर्वधर स्थविर द्वारा रचित है। इसमें तीसरे अध्ययन 'भावना' में भगवान महावीर के च्यवन, जन्म, विवाह, दीक्षा-ग्रहण एवं साधनाकाल के दौरान आई हुई विघ्न-बाधाओं का एवं तत्पश्चात् तीर्थंकर बनने का सामान्य परिचय दिया गया है।[७२]

दशाश्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन में श्रमण भगवान महावीर के जीवन-वृत्त का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। वस्तुतः आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित जो रेखाएँ खींची गई थीं, उनमें रंग भरने का कार्य उक्त सूत्र में किया गया है।

साथ ही अंगसूत्रों में सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक एवं विपाकसूत्र में भगवान महावीर के सिद्धान्तों, उनके अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह की विचारधारा का यत्र-तत्र चर्चा, गौतम-महावीर संवाद एवं भगवान महावीर के तथा अन्य तीर्थंकरों के शासन में दीक्षित साधु-साध्वियों

तथा गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं की जीवन-साधना का महत्त्वपूर्ण वर्णन उपलब्ध होता है।

उपांगसूत्रों में मुख्यतया औपपातिक, राजप्रश्नीय, निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका आदि में भगवान महावीर के जीवन के विभिन्न प्रसंग, संवाद, प्रश्नोत्तर तथा उनके चरणों में दीक्षित होने वाले साधु-साध्वियों का तथा उस युग के तापसों एवं उनके विभिन्न नियम-परम्पराओं एवं तपों की सुन्दर जानकारी प्राप्त होती है। उत्तराध्ययनसूत्र तो भगवान महावीर के महत्त्वपूर्ण अपृष्ट-व्याकरणारूप उपदेशों का महासागर है। इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना के सन्दर्भ में विविध पहलुओं से प्रदत्त भगवान महावीर के उपदेश हैं। तथैव ऐतिहासिक केशी गौतमीय संवाद, अप्रमाद साधना, इन्द्रिय मनोनिग्रह साधना एवं सम्यक्त्व पराक्रम नाम से विविध आध्यात्मिक साधनाओं के सम्बन्ध में एक से एक बढ़कर उत्कृष्ट अध्ययन हैं।[७३]

परवर्ती साहित्य–ग्रन्थों में भगवान महावीर का जीवन

भगवान महावीर की जीवन गाथा के विकास का द्वितीय चरण निर्युक्ति-साहित्य में मिलता है। सर्वप्रथम आवश्यकनिर्युक्ति में भगवान महावीर के २७ पूर्वभवों का वर्णन, उपसर्गों की विविध घटनाएँ, गणधरों की शंकाएँ और उनका भगवान द्वारा समाधान आदि उल्लेख मिलते हैं, जिनका उल्लेख आचारांग एवं कल्पसूत्र में भी नहीं मिलता।

भगवान महावीर और ग्यारह गणधरों की पारस्परिक विचार-चर्चा के जो बीज निर्युक्ति में थे, वे ही भाष्य में विराट् रूप में उपलब्ध होते हैं। आवश्यकचूर्णि में पूर्वोक्त व्याख्या–ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। शैली का परिष्कार तथा साहित्यिक छटा भी निखरी है।

भगवान महावीर स्वामी के जीवन-वृत्त के विकास का तृतीय चरण प्राकृत काव्य-साहित्य में देखा जा सकता है जिसमें चउप्पन महापुरिसचरियं, महावीरचरियं (पद्यबद्ध), महावीरचरियं (गद्य-पद्यमय), तिल्लोयपण्णत्ति आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं।

संस्कृत-साहित्य में सर्वप्रथम त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र में भगवान महावीर के जीवन के सभी मुख्य प्रसंगों का सांगोपांग वर्णन है। यह ग्रन्थ जैन परम्परा का महाभारत कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त लघु त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र, त्रिशष्टि स्मृतिशास्त्र, महापुराण चरित्र, पुराणसार-संग्रह,

चतुर्विंशति जिनचरित, वीरोदय काव्य, उत्तरपुराण, वर्धमानचरितम् आदि अनेक ग्रन्थ भगवान महावीर की आदर्श जीवन-गाथा से परिपूर्ण हैं।

इनके अतिरिक्त राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, बंगला आदि देशी-विदेशी सभी भाषाओं में प्राज्ञ विद्वानों ने भगवान महावीर का कथासूत्र धीरे-धीरे विकसित पल्लवित-पुष्पित होता हुआ आज पूर्ण यौवनावस्था में वट-वृक्ष के समान उपलब्ध होता है।

नन्दीसूत्र के रचयिता आचार्य देववाचक जी ने भी भगवान महावीर के प्रमुख गुणों को गुम्फित करते हुए अतीव ललित पदों में स्तुति की है, जो सूत्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में अंकित है।[७४]

चतुर्विध संघ-स्तुति

भगवान महावीर की स्तुति के पश्चात् आचार्यश्री ने चातुर्वर्ण्य (चतुर्विध) श्रमण संघ की स्तुति अत्यन्त भावपूर्ण हृदयस्पर्शी गाथाओं द्वारा की है। चतुर्विध संघ में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका; ये चारों हैं। इसे भगवान महावीर ने इसलिए स्थापित किया है, ताकि चारों घटक मिलकर, परस्पर सहयोग से मोक्ष की–सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष की साधना निःशंक, निःशल्य और निराबाध रूप से कर सकें। संघ से अलग-थलग रहकर साधु वर्ग या श्रावक वर्ग का कोई भी व्यक्ति इस युग में अपनी साधना में सावधानी, जागृति, सतर्कता, विवेक, यतनापूर्वक प्रवृत्ति, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्मों का अभ्यास सुचारू रूप से नहीं कर सकता। अगर कोई साधक ज्ञानादि पंचाचार से भ्रष्ट हो रहा हो, ज्ञानादि चतुष्टय में विराधक बन रहा हो, तब संघ व श्रुत होने पर कौन उसे सावधान करेगा, कौन उसे भटकते हुए को धर्म में स्थिर करेगा। यही कारण है धर्माचरण करने वाला साधक वर्ग के लिए संघ का आश्रय अनिवार्य बताया है। अतएव धर्मसंघ का महान् उपकार है। गण, कुल एवं संघ की वैयावृत्य करने से, साधर्मिक तथा रोगी, ग्लान, तपस्वी नवदीक्षित आदि धर्मसंघ के सदस्यों की निःस्वार्थ भाव से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक वैयावृत्य करने से महानिर्जरा तथा महापर्यवसान (सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष) रूप फल प्राप्त होता है। इस दृष्टि से संघ के प्रति उपकृत भाव से प्रेरित होकर आचार्य देववाचक जी ने संघ की स्तुति विविध उपमाओं से विभूषित करते हुए की है। शास्त्रकार ने संघ (धर्मसंघ) को क्रमशः नगर, चक्र, रथ, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र एवं महामंदर गिरिराज की तथा प्रकारान्तर संघमेरु की भी भावनापूर्वक स्तुति की है। अन्त

में, अनन्तानन्त गुणों के आगर संघ को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नतमस्तक होकर वन्दन किया है।

संघ को नगर से उपमित करके शास्त्रकार कहते हैं–"जिस प्रकार परकोटे से सुरक्षित नगर अपने नगर-निवासियों को सुरक्षा प्रदान करता है; उसी प्रकार संघरूपी नगर अपने धर्म-साधनापरायण साधक वर्ग की ज्ञानादि पंचाचार-पालन में स्खलनाओं से बचाता है, दूर रखता है।"

जिस प्रकार चक्र शत्रुओं का उच्छेद करता है, उसी प्रकार संघ चक्र भी संयम-साधना में बाधक राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अभिमान, माया आदि भावशत्रुओं का उच्छेद कर अपने अलौकिक गुणों से साधक वर्ग को सम्पन्न करता है।

जिसकी अठारह हजार शीलांगरूप पताकाएँ फहरा रही हैं, जिसमें नियम, संयम और तप के अश्व जुते हुए हैं, जिसका पंचांगयुक्त स्वाध्यायरूपी सुमधुर नन्दी (मंगल) घोष है, ऐसा भगवान का संघरूप रथ कल्याणकारी हो।

इसी प्रकार यह धर्मसंघ पद्म के समान विषय-वासनाओं से अलिप्त रहता है। वह धर्मसंघ के समस्त साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं को रागादि विकारों एवं दुर्गुणों से अलिप्त रखता है। संघ समस्त साधु वर्ग–श्रावक वर्ग को चन्द्रमा के समान शान्ति और शीतलता प्रदान करता है। तथैव संघसूर्य के समान जगत् में सम्यक् ज्ञान का तेजोमय प्रकाश प्रदान करने वाले संघसूर्य का कल्याण हो।

इसी प्रकार श्रीसंघ समुद्र के समान गम्भीर संयम की मर्यादा में रहने वाला गुणरूपी रत्नों से परिपूर्ण एवं मोक्ष की ओर अग्रसर रहने वाले संघसमुद्र का कल्याण हो। सुमेरुपर्वत के तुल्य सद्धर्ममंडित, सम्यक् दर्शन की पवित्र वज्रपीठिका से युक्त एवं विशुद्ध सम्यक् चारित्र की सुरभिगन्ध से आपूर्ण है। ऐसे अनन्त-अनन्त गुणों की खान संघ को मैं वन्दन करता हूँ।[७५]

विभिन्न जैन ग्रन्थों में संघ का महत्त्व

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं के आगमों और ग्रन्थों में संघ को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ 'भगवती आराधना' में कहा गया है–"संघ गुणों का संघात (समूह) है और कर्मों का विमोचक है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र; इन तीनों के संघात (सम्मिलित अवस्था) को जो प्राप्त है, वह संघ है।"[७६]

'सर्वार्थसिद्धि' और 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में भी रत्नत्रय से युक्त श्रमणों के समुदाय को संघ कहा है। 'प्रवचनसार' तात्पर्यवृत्ति में "मुनि, आर्यिका तथा श्रावक और श्राविका, इन चारों को श्रमण संघ के चार अंग बताये हैं। यह चातुर्वर्ण्य संघ चारों गतियों में परिभ्रमण का नाशक (मिटाने वाला) है। भयभीत जनों को अभय देने वाला है। वह (धर्मसंघ) निश्छल व्यवहार के कारण परस्पर विश्वासभूत है; समता के कारण शीतगृह-तुल्य है; अविषमदर्शी होने के कारण माता-पिता-तुल्य है तथा समस्त प्राणियों के लिए शरणभूत है। अतः जैसे नवप्रसूता गाय अपने बछड़े पर वात्सल्यभाव रखती है, उसी प्रकार (धर्म) संघ के प्रति (सबको) वात्सल्यभाव रखना चाहिए।"[७७]

'व्यवहार भाष्य' के अनुसार–"वस्तुतः आचार, विचार और व्यवहार की निर्मलता संघ में रहकर ही रह सकती है। अतः धर्म का निराबाध-निर्विघ्न पालन करने एवं आत्म-कल्याण करने के लिए संघ में रहना अनिवार्य है।"[७८] 'बृहत्कल्प भाष्य' में संघस्थित (संघबद्ध) श्रमण को ज्ञान का अधिकारी बताया गया है। वही (संघस्थित ही) दर्शन और चारित्र में विशेष रूप से स्थिर होता है। सांसारिकता के मध्य एकलविहारयुक्त जीवन में विशुद्धतापूर्वक धर्म का पालन होना अत्यन्त कठिन है।"[७९]

श्रीसंघ के प्रति श्रद्धा-भक्ति एवं विनय करने से भगवदाज्ञा का पालन होता है। श्रीसंघ की आशातना भगवान की आशातना है और श्रीसंघ की सेवा-भक्ति करना भगवान की सेवा-भक्ति करना है। यही कारण है कि नन्दीसूत्र में संघ की स्तुति करते हुए **'भगवओ संघ-समुद्दस्स सद्दस्स'**[८०] कहकर संघ को 'भगवान' तक कह दिया है।

चतुर्विंशति जिन (तीर्थंकर)-स्तुति

पन्द्रह गाथाओं द्वारा संघ (चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ) की स्तुति एवं वन्दना करने के पश्चात् आचार्यश्री ने दो गाथाओं द्वारा २४ तीर्थंकरों का नामोत्कीर्त्तन किया है।

तीर्थंकर पद विश्व में सर्वोत्कृष्ट पद माना गया है। तीर्थंकर-देव राग-द्वेष विजेता वीतराग एवं धर्मतीर्थ के महान् प्रवर्त्तक होते हैं। वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तपरूप भावतीर्थ की तथा साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूपी रत्नत्रयरूप धर्ममार्ग पर चलने वाले चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे किसी पंथ या सम्प्रदाय की बुनियाद डालते हैं, वरन् वे ज्ञान,

दर्शन, चारित्र, तपरूप मोक्षमार्ग की अथवा रत्नत्रयरूप धर्ममार्ग की प्ररूपणा करते हैं। पुराने कर्मों का क्षय और नये आते हुए कर्मों का निरोध करने का निर्जरा एवं संवर का उपाय और विधि बताते हैं। संसार में परिभ्रमण करते हुए जिज्ञासु, आत्मार्थी भव्य जीवों को कर्म एवं जन्म-मरणादि रूप संसार के दुःखों से छूटने के लिए मार्गदर्शन करते हैं। वे तीनों लोकों के पूज्य, विश्ववन्द्य एवं जगद्गुरु होते हैं। उनके कोई गुरु नहीं होता। वे अपनी साधना में किसी की सहायता की अपेक्षा न रखते हुए स्वयं के बल पर साध्य को प्राप्त करते हैं; वे स्वयंबुद्ध, स्वयं स्व-मार्गदर्शक होते हैं। गृहस्थ पर्याय में ही वे मति, श्रुत एवं परम विपुल अप्रतिपाती अवधिज्ञान (ज्ञानत्रय) के धारक होते हैं। दीक्षा अंगीकार करते ही वे चौथे विपुलपुति मनःपर्यवज्ञान से सम्पन्न हो जाते हैं। छद्मस्थकाल में वे मौन या अत्यल्पभाषी रहते हैं और प्रायः खड़े रहकर कायोत्सर्ग आदि विविध तपःसाधनाएँ करते हैं। चार घातिकर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का सर्वथा क्षय करके वे केवलज्ञान, केवलदर्शनरूप अनन्तलक्ष्मी के स्वामी बनते हैं। इसके साथ ही वे ज्ञानातिशय (केवलज्ञान-सर्वज्ञता), अपायापगमातिशय (चौंतीस अतिशय), वचनातिशय (वाणी के पैंतीस अतिशय) तथा पूजातिशय (अष्टमहाप्रातिहार्य तथा देव, दनुज, मनुज, तिर्यंचों द्वारा पूज्यवन्द्य) से युक्त हो जाते हैं। केवलज्ञानी होने के बाद उनकी प्रथम धर्मदेशना (धर्मोपदेश) से ही हजारों नर-नारी प्रतिबुद्ध होकर श्रमणधर्म या श्रावकधर्म (अनगारधर्म या आगारधर्म) अंगीकार कर लेते हैं। इस प्रकार धर्ममार्ग (मोक्षमार्ग) पर चलने वाले नर-नारियों के समूह को संघबद्ध करके वे साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। इसी कारण उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। दूसरे शब्दों में अरिहन्त, जिन, जिनेन्द्र, अर्हन्त आदि भी कहते हैं।[८१]

प्रत्येक उत्सर्पिणी (उत्थान) काल और अवसर्पिणी (ह्रास) काल में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं। यह सृष्टि का प्राकृतिक सार्वभौम नियम है। भरत क्षेत्र और ऐरावर्त क्षेत्र की अपेक्षा से यह कथन है। महाविदेह क्षेत्र में तो जघन्य २० तीर्थंकर एवं उत्कृष्टतः १६० या १७० तीर्थंकर एक साथ पृथक्-पृथक् 'विजय' में हो सकते हैं। भरत और ऐरावर्त क्षेत्र के तृतीय आरे के अन्त से लेकर सम्पूर्ण चौथे आरे तक एक के बाद क्रमशः २४ तीर्थंकर होते हैं।

भरत क्षेत्र में वर्तमान अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे के अन्त में प्रथम तीर्थंकर (आदिनाथ) ऋषभदेव हुए। तत्पश्चात् चतुर्थ आरे में शेष २३

तीर्थंकर-अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्ली, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और महावीर (वर्धमान) हुए हैं।

प्रस्तुत चतुर्विंशति-नाम-उत्कीर्तन में पद्मप्रभ जी का अपर नाम 'सुप्रभ', चन्द्रप्रभ का शशी, सुविधिनाथ जी का पुष्पदन्त एवं भगवान महावीर का 'वर्द्धमान' नाम से उल्लेख करके स्तुतिकार ने उन तीर्थंकर भगवन्तों को भावपूर्वक वन्दन किया है।

गणधरावली गुण-स्मरण

चतुर्विंशति तीर्थंकर-स्तुति के पश्चात् सूत्रकार ने दो गाथाओं में ११ गणधरों–इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, श्रीव्यक्त, श्रीसुधर्मा, मण्डितपुत्र, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मैतार्य और श्रीप्रभास–का भावपूर्वक (गुण-) स्मरण किया है।

जैन परम्परा और इतिहास में 'गणधर' शब्द उतना ही प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है, जितना तीर्थंकर पद।

तीर्थंकर तीर्थ अर्थात् साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध धर्मतीर्थ (श्रमणसंघ) की स्थापना करते हैं तथा श्रुतरूप आगम के पुरस्कर्त्ता–अर्थरूप से आगम के प्रतिपादक होते हैं। 'गणधर' उस चतुर्विध धर्मसंघ की व्यवस्था, मर्यादा, समाचारी (आचार-संहिता) के नियोजक, व्यवस्थापक और तीर्थंकरों की अर्थरूप से उक्त वाणी को सूत्ररूप में ग्रथित (रचित एवं संकलित) करते हैं। आचार्य मल्लधारी हेमचन्द्र के अनुसार–"अनुत्तर ज्ञान-दर्शनादि गुणों के (या गुणों से युक्त) गण को धारण करने वाले मुनिवर गणधर कहलाते हैं।" गणधर भव्य, सम्यक् दृष्टि एवं चरमशरीरी जीव होते हैं। समस्त तीर्थंकरों के गणधरों की संख्या एक-सी नहीं, पृथक्-पृथक् होती है। जैसे–भगवान महावीर के ९ गण और ११ गणधर थे। किन्तु समवायांगसूत्र में ११ गण और ११ गणधरों का उल्लेख है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही प्रकार की वाचना लेने वाले साधु-समुदाय ९ भागों में विभक्त होंगे और प्रत्येक गणधर के अधीन पृथक्-पृथक् साधु-समुदायों की अपेक्षा से ११ गणधरों के ११ गण गिनाये होंगे। अतः भगवान महावीर के संघ के व्यवस्थापक, समाचारी नियोजक एवं सूत्र-रचियता[८२] ११ गणधर थे, जिनका गणधरावलि में स्मरण किया गया है; उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

गणधर इन्द्रभूति गौतम का गरिमापूर्ण व्यक्तित्व

इन्द्रभूति गौतम भगवान महावीर के प्रधान पट्टशिष्य थे। उनकी जन्म-भूमि मगध देश की राजधानी राजगृह के निकट 'गोबरग्राम' थी; जो आज पण्डितपुर के नाम से प्रसिद्ध है, आज वह नालन्दा का ही एक विभाग माना जाता है। इन्द्रभूति के पिता का नाम 'वसुभूति' और माता का नाम 'पृथ्वी' था। उनका गोत्र 'गौतम' था।[८३] 'गौतम' का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ करते हुए जैनाचार्यों ने लिखा है–बुद्धियों (चतुर्विध बुद्धियों) के द्वारा जिसका तम (अज्ञानान्धकार) ध्वस्त = नष्ट हो गया है, वह गौतम।[८४] यों तो 'गौतम' शब्द कुल और वंश का भी वाचक रहा है। स्थानांगसूत्र में सात प्रकार के 'गौतम' बताये गए हैं।[८५] वैदिक वाङ्मय में गौतम नाम कुल से भी सम्बद्ध रहा है और ऋषियों से भी। ऋग्वेद में गौतम के नाम से अनेक सूक्त मिलते हैं। वैसे गौतम नाम के अनेक ऋषि भी हो चुके हैं। अरुण उद्दालक, आरुणि आदि ऋषियों का भी पैतृक नाम 'गौतम' था।[८६] यह कहना कठिन है कि इन्द्रभूति गौतम का वास्तविक गोत्र क्या था? वे किस ऋषि के वंश से सम्बद्ध थे? किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि गौतम गोत्र के महान् गौरव के अनुरूप ही उनका व्यक्तित्व विराट् एवं प्रभावशाली था।

उनका बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार का व्यक्तित्व विराट् और उदार था। उनके शरीर की ऊँचाई ७ हाथ थी; आकृति समचतुरस्र-संस्थान से युक्त थी, उनका संहनन वज्रऋषभनाराच था। उनका वर्ण तपे तपाए हुए कुन्दन-सा या पद्मकमल-सा गौर था। उनकी भव्य और सुन्दर आकृति को देखकर मनुष्य तो क्या, देव भी उनसे मोहित, प्रभावित और आकर्षित हो जाते थे। उनकी विद्वत्ता और अनेक शास्त्रों में विजयोपलब्धि, पारंगतता एवं समन्वय कार्य में सिद्धहस्तता के फलस्वरूप विद्वत् समाज ने उनको अनेक उपाधियों से अलंकृत किया था। कल्पसूत्र की सुबोधावृत्ति में ऐसी ३२ उपाधियों का नामोल्लेख मिलता है।[८७]

भगवान महावीर को वैशाख सुदी १० के दिन केवलज्ञान, केवलदर्शन (सर्वज्ञत्व) की प्राप्ति हुई थी। उस समय मध्यम अपापा (पावापुरी) नगरी में सोमिल ब्राह्मण महायज्ञ कर रहा था। उस यज्ञानुष्ठान की सफलता के हेतु उन्नत विशाल कुलोत्पन्न वेदविज्ञ इन्द्रभूति गौतम आदि ११ विद्वान् वहाँ आये हुए थे। उनके साथ ४,४०० शिष्यों का परिवार था। उन सबका गर्व आसमान को छू

रहा था। समग्र ज्ञानसिन्धु पर वे अपना एकाधिपत्य मानने लगे थे। समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, न्यायशास्त्र, शब्दशास्त्र (व्याकरण), छन्द, धर्म, विज्ञान आदि किसी भी विषय में उनसे शास्त्रार्थ में जीतने या लोहा लेने वाला कोई भी व्यक्ति उनकी दृष्टि में नहीं था।

उसी नगर के बाहर 'महासेन' उद्यान में भगवान महावीर का पदार्पण हुआ। देवरचित समवसरण (धर्मपरिषद्) की ओर उमड़ती बहुसंख्यक जनता को देखकर सर्वप्रथम इन्द्रभूति बारह विशिष्ट चिह्न धारण कर अपने ५०० शिष्यों के साथ अहंकार और क्रोधावेश में आकर प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भगवान के समवसरण में पहुँचे।

भगवान महावीर ने उनके अन्तर्मानस में उठते हुए संदेह की ओर संकेत करते हुए कहा–"हे इन्द्रभूति गौतम ! तुम्हारे मन में आत्मा के अस्तित्त्व के सम्बन्ध में सन्देह है।" फिर भगवान ने अनेक तर्कों, युक्तियों और प्रमाणों द्वारा इन्द्रभूति के आत्मा के अस्तित्त्व-विषयक सन्देह को दूर किया। भगवान महावीर से अपनी गुप्त शंकाओं का रहस्योद्घाटन एवं सन्तोषजनक समाधान पाकर इन्द्रभूति का अभिमान विगलित हो गया। वे भगवान के चरणों में फलों से लदी हुई शाखा की भाँति अपने सभी शिष्यों सहित झुक गए; सत्य को तत्काल स्वीकार करके वे प्रभु महावीर के चरणों में सशिष्य सर्वतोभावेन समर्पित होकर श्रमणधर्म में दीक्षित हो गए। भगवान महावीर द्वारा यह प्रथम दीक्षा संस्कार वीर निर्वाण पूर्व ३० (तदनुसार वि. पू. ५००) वैशाख शुक्ला ११ को सम्पन्न हुआ। चतुर्विध संघ स्थापना का यह प्रथम चरण था।

दिगम्बर मान्यता के अनुसार भगवान महावीर का गणधरों के साथ समागम कैवल्य के ६६ दिन पश्चात् राजगृह में हुआ था, ऐसा उल्लेख है। तीर्थ-प्रवर्त्तन की तिथि भी श्रावण कृष्णा प्रतिपदा मानी गई है।[८८]

इन्द्रभूति गौतम ने ५० वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की। ३० वर्ष तक वे छद्मस्थ रहे। भगवान महावीर का निर्वाण विक्रम पूर्व ४७० में हुआ। उस समय गणधर इन्द्रभूति अन्यत्र प्रबोध देने गये थे। निर्वाण की सूचना पाते ही वे मोह विह्वल हो गए। उनका हृदय अनुताप से भर गया। शनैः-शनैः दृष्टि अन्तर्मुखी हुई। जागृति के उन क्षणों में मोह की दुर्भेद्य दीवार टूटी और केवलज्ञान, केवलदर्शन की लौ प्रदीप्त हो गई। तदनन्तर १२ वर्ष तक वे जीवन्मुक्त केवली-पर्याय में विचरे। अन्त में गुणशील चैत्य में मासिक अनशन करके वीर निर्वाण

१२ (विक्रम पूर्व ४८८) में ९२वें वर्ष की आयु में वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त हुए।

गणधर इन्द्रभूति के व्यक्तित्त्व की विशेषताएँ

गणधर इन्द्रभूति गौतम के व्यक्तित्त्व को शब्दों की सीमित परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। उनका व्यक्तित्त्व विराट् और विशाल था। उनके जीवन को उजागर करने वाले निम्नोक्त बिन्दु द्रष्टव्य हैं–

(१) वे निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करते थे।

(२) उनकी दिनचर्या निश्चित थी। प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में दिन को भिक्षा/आहार एवं रात्रि को निद्रा तथा चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय।[९०]

(३) चौदह हजार श्रमण-परिवार के प्रमुख होते हुए भी तथा ५०० शिष्य हरदम उनके चरणों में प्रतिक्षण करबद्ध खड़े रहते थे, उनके आदेश को शिरोधार्य करना तथा पालन करना अपना अहोभाग्य समझते थे। इनकी शिष्यादि सम्पदा इतनी होते हुए भी पारणे के दिन स्वयं भिक्षाचरी को जाते थे। घर-घर भिक्षाटन करते थे।

(४) गौतम स्वामी अपने लघु साधकों को आहार के लिए प्रेमपूर्वक आमंत्रित करते थे।

(५) चौदह हजार श्रमणों के अर्हणीय–पूजनीय संघ-सुमेरु इन्द्रभूति गौतम स्वयं अपने हाथ से वस्त्र-पात्रादि की प्रतिलेखना करते थे।

(६) वे चतुर्दश पूर्व शास्त्रों के पाठी ही नहीं, रचयिता भी थे।

(७) अपनी भूल का पता लगते ही वे तत्क्षण आनन्द श्रमणोपासक के पास क्षमायाचना करने गये।[९१]

(८) उनके मृदु और आत्मीय व्यवहार का स्थायी प्रभाव ७८ वर्ष के अबोध बालक अतिमुक्तक पर पड़ा। वह भी श्रमणधर्म में दीक्षित होकर मुक्तिगामी बने।[९२]

(९) भगवान के चरणों में अपनी शंकाओं का समाधान पाने हेतु चलाकर आने से पहले स्कन्दक परिव्राजक का वे दस-बीस कदम सम्मुख जाकर स्वागत करते हैं।[९३]

(१०) पार्श्वनाथ परम्परा से सम्बन्धित उदक पेढालपुत्र के अविनयपूर्ण तथा असंस्कृत व अकृतज्ञता भरा व्यवहार देखकर उन्होंने उसे हितबुद्धि से प्रेरित होकर निर्भयतापूर्वक कर्त्तव्यबोध एवं मार्गदर्शन दिया। ऐसे हितबुद्धि प्रेरित निर्भयतापूर्वक दिये गए उपदेश का उदक पेढालपुत्र पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। वे भगवान महावीर के पंचमहाव्रत रूप श्रमणसंघ में सम्मिलित हो गये।[९३]

(११) गौतम स्वामी की उपदेश कुशलता से एक अज्ञानी कृषक सुलभबोधि बना।

(१२) गौतम स्वामी जिज्ञासु थे। विपाकसूत्र में उनकी जिज्ञासाओं का सुन्दर उल्लेख है। भगवतीसूत्र में उट्टंकित ३६ हजार प्रश्न इन्द्रभूति गौतम की जिज्ञासु वृत्ति के अनूठे उदाहरण हैं।[९४]

(१३) भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर के श्रमणों की आचार-विचार पद्धति में विभिन्नता देखकर गणधर गौतम स्वयं अपने शिष्य-समुदाय के साथ केशीकुमार श्रमण के निवास-स्थान पर गए और श्रमण केशीकुमार द्वारा उपस्थित शंकाओं का युक्तियुक्त ढंग से सुन्दर समाधान किया। परिणामस्वरूप केशीश्रमण भी भगवान महावीर के संघ में सम्मिलित हो गए।

(१४) भगवतीसूत्र, उपासकदशासूत्र एवं औपपातिक आदि शास्त्रों में यत्र-तत्र उनके व्यक्तित्त्व का परिचय देते हुए कहा है–"श्रमण भगवान महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति अनगार उग्र तपस्वी, दीप्त तपस्वी, तप्त तपस्वी, घोर ब्रह्मचर्यवासी, लब्धिमा ऋद्धि तथा महानसलब्धि से सम्पन्न, विपुल तेजोलेश्या को अन्तरलीन करने वाले थे। ज्ञान की अपेक्षा से वे चार ज्ञान और चतुर्दश पूर्व के धारक थे तथा सर्वाक्षर सन्निपाती-जैसी विविध लब्धियों के धारक थे।

वे भगवान महावीर से न तो अतिदूर और न ही अतिनिकट, ऊर्ध्वजानू और अधोसिर हो (उकडू आसन की मुद्रा में) बैठते थे। ध्यानकोष्ठ में विराजमान होकर वे तप और संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।

आपका विनय इतनी उच्च कोटि का था कि स्वयं को जब भी कोई प्रश्न पूछना होता तो वे अपने स्थान से तत्परतापूर्वक उठकर भगवान के पास जाते और तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दना-नमस्कार करते थे। फिर मर्यादित क्षेत्र में प्राञ्जलियुक्त होकर भगवान से पूछते।

संक्षेप में कहा जाए तो वे **जाइसंपन्ने, कुलसंपन्ने, बलसंपन्ने, विणयसंपन्ने, नाणसंपन्ने, दंसणसंपन्ने, चारित्तसंपन्ने, ओयंसी, तेयंसी, जसंसी** आदि संसार के समस्त सर्वोच्च कोटि के गुणों के अक्षय भण्डार थे।

भगवान महावीर को केवलज्ञान (सर्वज्ञता)-प्राप्ति के पश्चात् निर्वाण-प्राप्ति तक वे उनके अनुगामी बनकर रहे। निर्वाण के पश्चात् भगवान के प्रति अनुराग का सूक्ष्म सूत्र भी टूट गया। वे स्वयं वीतरागी सर्वज्ञ एवं भगवत्स्वरूप जीवन्मुक्त बनकर १२ वर्षों तक भारतवर्ष में विचरण करते रहे। परन्तु उनका विचरण कहाँ-कहाँ, किस-किस प्रदेश में हुआ? क्या-क्या घटना-प्रसंग उनके जीवन-विकास से जुड़े होंगे। उनका किंचित् मात्र भी उल्लेख किसी शास्त्र में उपलब्ध नहीं होता। सच है, वे स्वयं प्रसिद्धि एवं प्रशंसा से स्वयं कोसों दूर रहे, जीवन को उज्ज्वल, समुज्ज्वल बनाकर अन्त में आठों ही कर्मों से, जन्म-मरण से तथा समस्त वैषयिक सुख-दुःखों से सर्वथा रहित सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। वास्तव में उनका नन्दीसूत्र में बहुमानपूर्वक स्मरण करना उचित ही है।[९५]

अग्निभूति गौतम : द्वितीय गणधर

अग्निभूति इन्द्रभूति गौतम के मझले भाई थे। ४६ वर्ष की आयु में उन्होंने श्रमण भगवान महावीर के पास दीक्षा अंगीकार की। १२ वर्ष तक छद्मस्थावस्था में तप-जप कर कैवल्यश्री को प्राप्त हुए। १६ वर्ष तक केवली अवस्था में विचरण कर भगवान महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पूर्व राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशन कर ७४ वर्ष की आयु में निर्वाण को प्राप्त हुए।[९६]

वायुभूति गौतम : तृतीय गणधर

ये इन्द्रभूति गौतम के लघु भ्राता थे। ४२ वर्ष की उम्र में गृहवास को त्यागकर इन्होंने श्रमणधर्म अंगीकार किया था। ये १० वर्ष छद्मस्थावस्था में रहे। १८ वर्ष केवली अवस्था में रहे। ७० वर्ष की वय में राजगृह के गुणशील नामक चैत्य में मासिक अनशन के साथ निर्वाण प्राप्त किया।[९७]

आर्य व्यक्त स्वामी : चतुर्थ गणधर

ये कोल्लाग सन्निवेश के निवासी भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपके पिता का नाम धनमित्र और माता का नाम वारुणी था। ५० वर्ष की वय में आपने ५०० शिष्यों के साथ श्रमणधर्म स्वीकार किया। ये १२ वर्ष तक छद्मस्थ रहे और १८ वर्ष तक केवली-पर्याय में विचरण कर ८० वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में मासिक अनशन के साथ निर्वाण को प्राप्त हुए।[९८]

आर्य सुधर्मा स्वामी : पंचम गणधर

ये भी कोल्लाग-सन्निवेश के निवासी अग्निवैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धम्मिल और माता का नाम भद्दिला था। इनके पास ५०० छात्र अध्ययन करते थे। इन्होंने ५० वर्ष की वय में भगवान महावीर के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। ४२ वर्ष पर्यन्त छद्मस्थ अवस्था में रहे। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् १२ वर्ष व्यतीत होने पर आप केवली हुए और ८ वर्ष तक केवली-पर्याय में रहे।

श्रमण भगवान महावीर के सभी गणधरों में सुधर्मा दीर्घजीवी थे। अतः अन्यान्य गणधरों ने अपने-अपने निर्वाण के समय अपने-अपने गण आर्य सुधर्मा स्वामी को समर्पित कर दिये थे।

महावीर-निर्वाण के १२ वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और २० वर्ष के पश्चात् १०० वर्ष की अवस्था में मासिक अनशनपूर्वक राजगृह में स्थित गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।[९९]

आर्य मण्डिक (मण्डितपुत्र) : छठे गणधर

आर्य मण्डिक मौर्य-सन्निवेश-निवासी वशिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम 'धनदेव' और माता का नाम 'विजयादेवी' था। इन्होंने ३५० छात्रों के साथ ५३ वर्ष की वय में केवलज्ञान प्राप्त किया और ८३ वर्ष की वय में गुणशील चैत्य में निर्वाण को प्राप्त किया।[१००]

आर्य मौर्यपुत्र : सप्तम गणधर

ये काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। मौर्य-सन्निवेश-निवासी पिता 'मौर्य' और माता 'विजयादेवी' के ये पुत्र थे। ३५० छात्रों के साथ ५३ वर्ष की वय में इन्होंने मुनि-दीक्षा ग्रहण की। ७९ वर्ष की वय में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और भगवान महावीर स्वामी के अन्तिम वर्ष में ८३ वर्ष की उम्र में राजगृह स्थित गुणशील चैत्य में मासिक अनशनपूर्वक निर्वाण प्राप्त किया।[१०१]

एक स्पष्टीकरण

भगवान महावीर के छठे गणधर मण्डिक (मण्डितपुत्र) और सातवें गणधर मौर्यपुत्र के सम्बन्ध में आचार्य जिनदासगणी महत्तर और आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि ये दोनों माता विजयादेवी के अंगजात सहोदर थे। इन दोनों की

माता एक ही थी–विजयादेवी। किन्तु मण्डिक के पिता का नाम धनदेव था और मौर्यपुत्र के पिता का नाम था–मौर्य। आर्य मण्डिक के जन्म के बाद धनदेव का निधन हो गया। अतः (उस समय महिला के लिए पुनर्विवाह जायज माने जाने से) धनदेव के मौसेरे भाई मौर्य के साथ विजयादेवी ने विधवा विवाह कर लिया। उसके पश्चात् मौर्य से जो पुत्र हुआ, उसका नाम मौर्यपुत्र रखा गया।

मुनि श्री रत्नप्रभविजय जी ने भी लिखा है–"माता एक और पिता दो थे। चूँकि उस समय मौर्य-सन्निवेश में विधवा-विवाह निषिद्ध नहीं था।"

पण्डितप्रवर दलसुख मालवणिया जी ने भी **'गणधरवाद'** की प्रस्तावना में लिखा है–"माता एक और पिता दो थे।" परन्तु वस्तुतः यह एक भ्रम है, सत्य-तथ्य नहीं है। दोनों की माता का एक नाम होने से ही यह भ्रम हुआ है।[१०२]

समवायांगसूत्र में आर्य मण्डिक की सर्वायु ८३ वर्ष की लिखी है। साथ ही यह भी लिखा है कि वे ३० वर्ष तक श्रमण-पर्याय का पालन कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। इस पर से यह स्पष्ट है कि दीक्षा लेने के समय मण्डिक की आयु ५३ वर्ष की थी।[१०३] इसी समवायांगसूत्र में मौर्यपुत्र के सम्बन्ध में लिखा है–उन्होंने ६५ वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी। दीक्षा लेने की समवायांग की बात अन्य ग्रन्थकारों ने भी स्वीकार की है।[१०४] मुनि रत्नप्रभविजय जी ने भी इसी तथ्य को माना है।[१०५]

सारांश यह है कि ११ ही गणधरों ने जब एक ही दिन दीक्षा ग्रहण की थी, तब ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव है कि बड़े भ्राता ५३ वर्ष के हों और लघु भ्राता ६५ वर्ष के? एक ही दिन दीक्षा लेते समय बड़े भाई से छोटा भाई उम्र में बड़ा कैसे हो सकता है?

इस पर से यह स्पष्ट है कि मण्डिक और मौर्यपुत्र ये दोनों सहोदर भाई नहीं थे। दोनों की माताएँ पृथक्-पृथक् थीं। नाम भले ही एक रहा हो, पर वे एक नहीं थीं। अतः विजयादेवी ने पुनर्विवाह नहीं किया था। उनकी उम्र की ओर दृष्टि न जाने से ही (भ्रमवश) आचार्य हेमचन्द्र-जैसे महाप्रतिभा के धनी ने इन दोनों गणधरों को सहोदर माना और आगे–**'लोकाचारो हि न हिये'** लिखकर अपनी मान्यता का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया।[१०६]

आर्य अकम्पित : अष्टम गणधर

ये मिथिला के रहने वाले गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता 'देव' और माता 'जयन्ती' थी। इन्होंने ३०० छात्रों के साथ ४८ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण

की। ५७ वर्ष की वय में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और भगवान महावीर के अन्तिम वर्ष–७८ वर्ष की उम्र में राजगृह के गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।[१०७]

आर्य अचलभ्राता : नवम गणधर

ये कोशलाग्राम के निवासी हारीत गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपके पिता 'वसु' और माता 'नन्दा' थी। ३०० छात्रों के साथ ४६ वर्ष की वय में श्रमण दीक्षा ली। १२ वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे। १४ वर्ष केवली-पर्याय में विचरण कर ७२ वर्ष की आयु में मासिक अनशन के साथ राजगृह स्थित गुणशील चैत्य में निर्वाण को प्राप्त हुए।[१०८]

आर्य मैतार्य : दशम गणधर

ये वत्स-देशान्तर्गत तुंगिक-सन्निवेश के निवासी कौण्डिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम 'दन्त' तथा माता का नाम वरुणदेवा था। उन्होंने ३०० छात्रों के साथ ३६ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की। १० वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे और १६ वर्ष तक केवली अवस्था में। भगवान महावीर के निर्वाण से ४ वर्ष पूर्व ६२ वर्ष की वय में राजगृह स्थित गुणशील चैत्य में उनका निर्वाण हुआ।[१०९]

आर्य प्रभास : ग्यारहवें गणधर

ये राजगृह निवासी कौण्डिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम बल और माता का नाम अतिभद्रा था। १६ वर्ष की वय में श्रमणधर्म स्वीकार किया। ८ वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे और १६ वर्ष तक केवली अवस्था में। भगवान महावीर के निर्वाण के ५ वर्ष पूर्व राजगृह में मासिक अनशनपूर्वक ४० वर्ष की वय में निर्वाण को प्राप्त हुए।[११०]

गणधरों की गरिमा के विषय में विशेष ज्ञातव्य

(१) ये ग्यारह ही विद्वान् भारत के चोटी के जाने-माने क्रियाकाण्डी विद्वान् आचार्य थे।

(२) इन सबके अन्तर्मन में आत्मा, कर्म आदि विषयों के सम्बन्ध में एक-एक सन्देह था, जिसका रहस्योद्घाटन एवं समाधान प्राप्त होने पर ये वैदिक धर्म को छोड़कर वीतराग धर्म में दीक्षित हो गए।

(३) आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार गणधरों को कुबेर के द्वारा वस्त्र, पात्र, उपकरण आदि प्राप्त हुए थे।[१११]

(४) इनकी दीक्षा के समय देवगणों ने पंच दिव्यों की वृष्टि करके अपनी प्रसन्नता एवं धर्म की महिमा प्रगट की।[११२]

(५) प्रभु की एक ही देशना में ११ विद्वान् आचार्यों ने ४,४०० शिष्यों के सहित धर्म के शाश्वत सत्य स्वरूप को हृदयंगम कर लिया और सभी प्रभु के समीप दीक्षित हो गए।

(६) संयम-साधना स्वीकार करने के बाद इनको गणधर-लब्धि प्राप्त हो गई। फलतः वे गणधर कहलाए।

आवश्यकचूर्णि, त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र एवं महावीर चरित्र के अनुसार ११ ही गणधर प्रभु महावीर के समक्ष कुछ झुककर खड़े हो गए। कुछ क्षण के लिए देवों ने वाद्य-निनाद बंद किये। उस समय सर्वप्रथम इन्द्रभूति का लक्ष्य करके प्रभु ने कहा–"मैं तुम्हें तीर्थ की अनुज्ञा देता हूँ।" तत्पश्चात् सभी गणधरों के मस्तक पर क्रमशः चूर्ण डाला।[११३]

(७) भगवान महावीर ने ११ ही गणधरों को सर्वप्रथम **'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी त्रिपदी'** का ज्ञान दिया।[११४] उसी को सूत्ररूप में प्राप्त कर द्वादशांगी की रचना की। बारहवें अंग **'दृष्टिवाद'** में चौदह पूर्व समाविष्ट थे। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं–

१. उत्पाद पूर्व	२. अग्रायणीय पूर्व
३. वीर्य-प्रवाद पूर्व	४. अस्ति-नास्ति-प्रवाद पूर्व
५. ज्ञान-प्रवाद पूर्व	६. सत्य-प्रवाद पूर्व
७. आत्म-प्रवाद पूर्व	८. कर्म-प्रवाद पूर्व
९. प्रत्याख्यान पूर्व	१०. विद्यानुवाद पूर्व
११. कल्याण-प्रवाद पूर्व	१२. प्राणादाय पूर्व
१३. क्रियाविशाल पूर्व	१४. लोकबिन्दुसार पूर्व

उक्त चौदह पूर्वों की रचना आचारांगादि द्वादशांगी के पूर्व की गई थी। इस कारण इन्हें 'पूर्व' नाम दिया गया।[११५] चौदह पूर्व की रचना के पश्चात् अंगशास्त्रों की रचना की। इन चौदह पूर्वों की रचना तीन निषद्याओं में की जाती है।[११६] 'निषद्या' का अर्थ है–वन्दना करके

पूछना। 'उत्पाद' आदि प्रत्येक पद पर गणधर पृच्छा करते हैं और प्रभु से उत्तर सुनकर सूत्रों की रचना करते हैं।

(८) प्रथम सात गणधरों की आगम वाचना पृथक्-पृथक् थी। आगे के गणधरों में गणधर अचलभ्राता और अकम्पित की वाचना तथा गणधर मैतार्य और प्रभास की वाचना समान थी। अन्तिम युग्म की वाचना समान होने के कारण ११ गणधरों के ९ गण बने।[११७] आगम-वाचना के आधार पर निर्मित इन गणों में प्रथम सात गणों का संचालन इन्द्रभूति आदि प्रथम सात गणधरों ने क्रमशः किया। अचलभ्राता और अकम्पित ने ८वें गण का तथा मैतार्य और प्रभास ने ९वें गण का संचालन किया था। समवायांगसूत्र में गणधरों का काफी उल्लेख है।[११८]

गणधर तीर्थंकर प्रभु के गण के स्तम्भ होते हैं। वे तीर्थंकरों की अर्थरूप वाणी को सूत्ररूप में ग्रन्थित करने वाले कुशल शब्दशास्त्री होते हैं। कहा भी है–

"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुंथंति गणहरा निउणा।"

अतिशयवान वीर-शासन की स्तुति

ग्यारह गणधरों का नामोत्कीर्त्तन करने के पश्चात् नन्दीसूत्रकार ने जिन-प्रवचन तथा जिनशासन की स्तुति की है।

यह जिनशासन सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निर्वाण (निर्वृत्ति) पथ का शासक है, दूसरे शब्दों में मोक्ष पद का प्रदर्शक प्रशिक्षक है।[११९] शासन शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है–"जिससे हित-शिक्षा दी जाती हो, वह शासन है। वीर-शासन निर्वृत्ति अर्थात् निर्वाण के पथ का शासन है–मोक्ष पद का प्रतिपादक–हितशिक्षक है।"[१२०] इसी का दूसरा नाम जिन-प्रवचन अथवा निर्ग्रन्थ प्रवचन है, जिसके लिए आवश्यकसूत्र के अन्तर्गत 'श्रमणसूत्र' में कहा गया है–यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, अनुत्तर, केवलिप्रज्ञप्त है, न्याययुक्त है, प्रतिपूर्ण है, संशुद्धिकारक है, मायादि त्रिशल्य को काटने वाला है, सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, निर्याणमार्ग, निर्वाणमार्ग है। यह अवितथ है, असंदिग्ध है, सर्वदुःख-प्रहाणमार्ग है। इस प्रवचन में स्थित जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं, सर्वदुःखों का अन्त करते हैं।[१२१] यह जिन-प्रवचन जीव-अजीव आदि सर्व भावों (पदार्थों) का प्रकाशक है, क्योंकि निर्मल, स्वच्छ श्रुतज्ञान के प्रकाश से समस्त पदार्थ (पदार्थों का स्वरूप) प्रकाशित हो जाता है।

जैसे सूर्य के प्रकाश होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही जिनशासन के प्रकाश से मिथ्यात्व, अज्ञान आदि रूप अन्धकार नष्ट हो जाता है। वैसे ही जिनशासन कुसमय (अपसिद्धान्तों अथवा कुप्रावचनिक मतों) के मद का मर्दक-नाशक है। यह शासन प्राणिमात्र का हितैषी होने से सदैव उपादेय है और मुमुक्षुओं द्वारा ग्राह्य है। इसी कारण जिनेन्द्रों में प्रवरवीर-महावीर द्वारा प्रतिपादक जिनशासन जयवन्त है, सर्वोत्कृष्ट है, सर्वोपरि अतिशयवान है। इसीलिए कहा गया है-"**जैनं जयतु शासनम्।**" अर्थात् राग-द्वेष विजेता जिनेन्द्रों-वीतरागों द्वारा प्ररूपित जिनशासन विजयी हो।

युगप्रधान स्थविरावली-वन्दन

वीर-शासन की महतोमहीयान् गुण-गरिमा के पश्चात् सूत्रकार ने अन्तिम मंगलाचरण के रूप में आचार्य सुधर्मा स्वामी से लेकर आचार्य दूष्यगणी तक के ३१ प्रभावक तथा युगप्रधान स्थविर-पुंगवों का गुणोत्कीर्तन सहित स्मरण करते हुए वन्दन किया है।

आज सभी विद्वान् समवेत स्वर में यह स्वीकार करते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा की दो स्थविरावलियाँ-कल्पसूत्र स्थविरावली और नन्दी स्थविरावली पूर्णतः प्रामाणिक, विश्वसनीय एवं अतिप्राचीन ऐतिहासिक स्थविरावलियाँ हैं।

दोनों स्थविरावलियों की प्रामाणिकता का प्रमाण

सन् १८७१ में जनरल कनिंघम के तत्त्वावधान में मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई में, दूसरी बार सन् १८८८ से सन् १८९१ में डॉ. फ्युदर के तत्त्वावधान में तथा तीसरी बार पं. राधाकृष्ण के तत्त्वावधान में हुई खुदाई में जैन इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई है। इन शिलालेखों में कल्पसूत्र की स्थविरावली के छह गणों में से तीन गणों, चार गणों के १२ कुलों, १० शाखाओं तथा नन्दीसूत्र के आदिमंगल के रूप में दी गई वाचकवंश (वाचनाचार्यों) की स्थविरावली के १५वें आचार्य आर्य समुद्र, १६वें आर्य मंगु, २१वें आर्य नन्दिल, २२वें आर्य नागहस्ती और २९वें वाचनाचार्य भूतदिन्न के नामों का उल्लेख है।

इन शिलालेखों में दस पूर्वधर काल से लेकर सामान्य पूर्वधर तक के कतिपय वाचनाचार्यों, गणों, कुलों आदि का उल्लेख है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये दोनों स्थविरावलियाँ अतिप्राचीन ही नहीं, प्रामाणिक भी हैं।

वाचकवंश परम्परा की स्थविरावली

आर्य स्थूलभद्र के दो शिष्यों–आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती, में आर्य महागिरि बड़े थे। आर्य महागिरि की शाखा प्रमुख शाखा मानी गई है।[१२२] वह वाचकवंश परम्परा के नाम से प्रसिद्ध है। नन्दीसूत्र में भगवान महावीर के बाद की वाचकवंश परम्परा की स्थविरावली इस प्रकार है–

१. सुधर्मा	२. जम्बू
३. प्रभव	४. शय्यम्भव
५. यशोभद्र	६. सम्भूतविजय
७. भद्रबाहु	८. स्थूलभद्र
९. महागिरि	१०. सुहस्ती
११. बलिस्सह	१२. स्वाति
१३. श्यामार्य	१४. शाण्डिल्य
१५. समुद्र	१६. मंगु
१७. धर्म	१८. भद्रगुप्त
१९. वज्र	२०. रक्षित
२१. नन्दिल (आनन्दिल)	२२. नागहस्ती
२३. रेवती नक्षत्र	२४. ब्रह्मदीपकसिंह
२५. स्कन्दिल	२६. हिमवन्त
२७. नागार्जुन	२८. श्रीगोविन्द
२९. भूतदिन्न	३०. लौहित्य
३१. दूष्यगणी	३२. देवर्द्धिगणी

नन्दी वृत्तिकार एवं चूर्णिकार ने स्थविरावली की गाथा संख्या ३१, ३२ और ४१ को प्रक्षिप्त माना है। उनके अनुसार आर्य धर्म, भद्रगुप्त (चन्द्रगुप्त), वज्र, रक्षित और आर्य गोविन्द, इन पाँच आचार्यों के नाम जोड़ने पर ही आर्य देवर्द्धि तक इस परम्परा के आचार्यों की संख्या ३२ होती है। नन्दी स्थविरावली की मूल गाथाओं के अनुसार आर्य देवर्द्धिगणी २७वें आचार्य हैं।

आचार्य परम्परानुसार कल्पसूत्र स्थविरावली

कल्पसूत्र स्थविरावली को आर्य सुहस्ती की आचार्य परम्परा माना है। वह यहाँ दी जा रही है–

१. आर्य सुधर्मा	२. आर्य जम्बू
३. आर्य प्रभव	४. आर्य शय्यम्भव
५. आर्य यशोभद्र	६. आर्य सम्भूतविजय–भद्रबाहु
७. आर्य स्थूलभद्र	८. आर्य सुहस्ती
९. आर्य सुस्थित–सुप्रतिबुद्ध	१०. आर्य इन्द्रदिन्न
११. आर्य दिन्न	१२. आर्य सिंहगिरि
१३. आर्य वज्र	१४. आर्य रथ
१५. आर्य पुष्यगिरि	१६. आर्य फल्गुमित्र
१७. आर्य धनगिरि	१८. आर्य शिवभूति
१९. आर्य भद्र	२०. आर्य नक्षत्र
२१. आर्य दक्ष	२२. आर्य नाग
२३. आर्य जेहिल	२४. आर्य विष्णु
२५. आर्य कालक	२६. आर्य सम्पलितभद्र
२७. आर्य वृद्ध	२८. आर्य संघपालित
२९. आर्य हस्ती	३०. आर्य धर्म
३१. आर्य सिंह	३२. आर्य धर्म
३३. आर्य सांडिल्य	

कल्पसूत्र की स्थविरावली के अन्त में दी गई देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वन्दन-गाथा के आधार पर सांडिल्य के पश्चात् देवर्द्धि को ३४वाँ आचार्य माना है। परन्तु यह गाथा प्रक्षिप्त मानी गई है। कल्पसूत्र की स्थविरावली को गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में मान्य किया गया है।

अग्निवेश्यायन गोत्रीय आर्य सुधर्मा : प्रथम आचार्य

आचार्य परम्परा की कड़ी में सूत्रकार ने आचार्य सुधर्मा को सर्वप्रथम स्थान में अधिष्ठित रखा है। श्वेताम्बर परम्परानुसार वीर निर्वाण के बाद आचार्य परम्परा का प्रारम्भ आर्य सुधर्मा (पंचम गणधर) से होता है। गणधर-मण्डली

में उनका पंचम स्थान था, जबकि आचार्यों की श्रृंखला में वे प्रथम आचार्य बने; तीर्थंकर भगवान महावीर के निर्वाण के समय इन्द्रभूति गौतम और सुधर्मा दो ही गणधर अवशिष्ट थे। शेष नौ गणधरों का निर्वाण भगवान महावीर के निर्वाण के पूर्व ही हो गया था। अतः अग्निभूति आदि नौ गणधर आर्य सुधर्मा को अपना अपना गण सौंपकर भगवान महावीर की विद्यमानता में ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये थे।[१२३] ज्येष्ठ गणधर इन्द्रभूति गौतम सर्वज्ञ हो गये थे। सामान्य सर्वज्ञ कभी संघ परम्परा का वाहक नहीं होता। अतः वीर निर्वाण के बाद संघ के दायित्व को गणधर सुधर्मा ने सँभाला। उस समय उनकी वय ८० वर्ष की थी। वीर निर्वाण के समय गणधर सुधर्मा का गण ही सर्वाधिक विशाल था। उनके पास अपने गण के अतिरिक्त नौ गणधरों की शिष्य सम्पदा प्राप्त थी। ११ गणधरों में सुधर्मा स्वामी के ही शिष्य हुए हैं, शेष १० गणधरों की शिष्य परम्परा नहीं चली।[१२४]

तीर्थंकर महावीर के सुखद उपपात में ३० वर्ष रहने के कारण विविध अनुभवों की विपुल निधि उनके पास थी। भगवान महावीर-जैसे संघ के सबल आधार के चले जाने से चतुर्विध श्रमणसंघ की नैया का डगमगा जाना स्वाभाविक था। परन्तु आर्य सुधर्मा का मजबूत आश्रय संघ के लिए अतीत उपयोगी सिद्ध हुआ।[१२५]

उस समय आजीवक आदि अन्य धर्मसंघ भी अपना वर्चस्व बढ़ा रहे थे। ऐसे समय में सुधर्मा ने जो नेतृत्व श्रमणसंघ को दिया, वह अत्यन्त सुदृढ़ व उपयोगी आलम्बन था।

जैनशासन आज आचार्य सुधर्मा का अत्यन्त आभारी है। उन्होंने वीतराग प्रभु महावीर के चरणों में बैठकर उनकी लोककल्याणकारिणी त्रिविध-तापहारिणी अमृतवाणी से अपनी मस्तिष्क-घट को भरकर पिछली पीढ़ी के लिए अगाध आगम ज्ञान राशि को सुरक्षित रखा। वर्तमान में ग्यारह अंगशास्त्रों की ज्ञान सम्पदा आर्य सुधर्मा की देन है।[१२६] सर्वज्ञश्री से मण्डित होने के बाद आपके अविकल ज्ञान से हजारों व्यक्तियों को दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ।

इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य

(१) दिगम्बर परम्परा के अनुसार गणधर इन्द्रभूति गौतम भगवान महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी थे।

(२) दिगम्बर परम्परा के कतिपय ग्रन्थों में 'सुधर्मा' का अपर नाम 'लोहार्य' भी उपलब्ध होता है।[१२७]

(३) भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद वीर संवत् के प्रारम्भ काल में, अर्थात् शक संवत् से ६०५ वर्ष पूर्व कार्तिक शुक्ला १ के दिन चतुर्विध संघ ने आर्य सुधर्मा को भगवान महावीर के प्रथम पट्टधर के रूप में नियुक्त किया था।[१२८]

काश्यप गोत्रीय आर्य जम्बू : द्वितीय आचार्य

आचार्य जम्बू भगवान महावीर के द्वितीय उत्तराधिकारी थे। उनका जन्म वीर निर्वाण पू. १६ (विक्रम पू. ४८६) में राजगृह में हुआ। उनके पिता राजगृह के दूष्य श्रेष्ठी ऋषभदत्त थे, माता का नाम धारिणी था। माता-पिता की प्रसन्नता हेतु ब्रह्मचर्य संकल्पी जम्बूकुमार ने गुण-सम्पन्न अप्सरा-सम सुन्दर आठ कन्याओं के साथ विवाह किया। विवाह की प्रथम रात्रि में ही जम्बू ने उन आठों पत्नियों को विविध दृष्टान्तों से समझाकर भोग से त्याग मार्ग की ओर मोड़ दिया। इस प्रकार आठों पत्नियों को विवाह की प्रथम रात्रि में ही त्यागकर तथा असीम भोग-सामग्री को ठुकराकर स्वेच्छा से कण्टकाकीर्ण तप-संयम-पथ का अनुसरण करने वाले जम्बू का उदाहरण इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर अंकित अनुपम उदाहरण है।[१२९] एक दिन जम्बू ने आर्य सुधर्मा का भव-व्याधिहारक प्रवचन सुना और उसके कोमल मानस पर अध्यात्म का एवं संसार-विरक्ति का गहरा रंग छा गया।

फलतः आर्य जम्बू ने कुबेरोपम अपार वैभव का त्याग स्वयं ही नहीं किया, वरन् उनके वैराग्य से प्रभावित होकर आठों पत्नियाँ, उनके माता-पिता, पिता ऋषभदत्त, माँ धारिणी तथा कुख्यात चौरराज प्रभव, उसके ५०० साथी, यों कुल ५२७ व्यक्तियों के साथ वीर निर्वाण १ (विक्रम पू. ४६९) में राजगृह स्थित गुणशील चैत्य में आर्य सुधर्मा के पास जम्बूकुमार दीक्षित हुए।

आर्य जम्बू कुशाग्र बुद्धि के धनी थे। आर्य सुधर्मा ने अपना समस्त श्रुतज्ञान आर्य जम्बू को प्रदान किया। जिस प्रकार गणधर इन्द्रभूति गौतम अपनी जिज्ञासा एवं शंका का समाधान करने के लिए भगवान महावीर के समक्ष परम विनीत भाव से उपस्थित होते थे, ठीक उसी प्रकार जम्बू स्वामी भी अपनी जिज्ञासाओं का समाधान पाने के लिए सुधर्मा स्वामी के पास उपस्थित होते थे। जम्बू स्वामी की पृच्छा और सुधर्मा द्वारा दिया गया आगम ज्ञान ही आज अपने मूल स्वरूप का परित्याग किये बिना, उसी अपरिवर्तित रूप में विद्यमान है और यही प्रवाह पंचम आरे के अन्त तक चलता रहेगा।[१३०]

आचार्य जम्बू १६ वर्ष तक गृहस्थ-जीवन में रहे। मुनि-पर्याय के ६४ वर्षों में से ४४ वर्ष तक भगवान महावीर के शासन के द्वितीय पट्टधर के रूप में आचार्य पद पर रहे। उनकी पूर्ण आयु ८० वर्ष की थी। छत्तीस वर्ष की आयु में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

जन-जन को ज्ञान-रश्मियों से आलोकित कर ज्योति-पुँज आर्य जम्बू वीर निर्वाण ६४ (तदनुसार विक्रम पू. ४०६) में मथुरा में निर्वाण पद को प्राप्त हुए।[१३१]

जम्बू महान् समर्थ आचार्य थे। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा जम्बू को समान आदर देती हैं। इनके समय तक धर्मसंघ में किसी प्रकार की भेद-रेखा नहीं उभरी थी। आर्य जम्बू को दोनों ही परम्पराएँ अन्तिम मुक्तिगामी मानती हैं।

विशेष ज्ञातव्य

(क) वैराग्यमूर्ति जम्बूकुमार के आख्यान जैन कथा साहित्य की अनमोल निधि है। संसार में सारभूत वस्तु प्रव्रज्या है; यह सत्य-तथ्य माता-पिता को समझाने के लिए विशिष्ट प्रज्ञा-सम्पन्न जम्बू ने विशिष्ट परिज्ञा-सम्पन्न श्रेष्ठीपुत्र का आख्यान सुनाया।

(ख) विषय-लोलुपता की भयावहता को समझाने के लिए जम्बू ने एक बन्दर का दृष्टान्त सुनाया, जो विषयासक्ति के कारण शिलाजीत से चिपककर मर गया था।

(ग) जम्बूकुमार की समुद्रश्री आदि आठ नव-विवाहिता पत्नियों ने विरक्त जम्बूकुमार को संयममार्ग पर चढ़ने से रोकने और सहज प्राप्त विपुल सुख-सामग्री का भोगोपभोग करने की अनुरोधपूर्ण प्रार्थना करते हुए क्रमशः ८ दृष्टान्त सुनाए; जम्बूकुमार ने भी आठों पत्नियों द्वारा प्रस्तुत किये गये ८ मार्मिक दृष्टान्तों के उत्तर में उनसे भी प्रखर वैराग्योत्पादक ८ दृष्टान्त सुनाए जिन्हें सुनकर उनकी वासना-शक्ति क्षीण हो गई।

(घ) "तथाकथित विषयसुख 'मधुबिन्दु' के समान अतितुच्छ, नगण्य, आपात रमणीय एवं क्षणिक् है।" यह तथ्य प्रभव चोर को समझाने के लिए जम्बू ने 'मधुबिन्दु' का दृष्टान्त कहा।

(ङ) गर्भावास के दारुण दुःखों का अनुभव कराने हेतु 'ललिताङ्ग' का दृष्टान्त सुनाया।

(च) एक ही भव में अज्ञानता के कारण मानव के साथ कितनी अनर्थपूर्ण घटनाएँ घटित हो जाती हैं। इसे समझाने के लिए 'एक भव में १८ नाते' के नाम से प्रसिद्ध कुबेरदत्त-कुबेरदत्ता की कथा सुनाई।

(छ) अर्थ के अनुचित उपयोग के दुष्परिणाम के सम्बन्ध में 'गोपयुवक' का दृष्टान्त सुनाया।[१३२]

(ज) लोकधर्म की असंगति के सम्बन्ध में 'महेश्वरदत्त' का सुप्रसिद्ध आख्यान सुनाया।

(झ) दुःख में भी सुख की कल्पना करने के सम्बन्ध में 'वणिक्' का दृष्टान्त सुनाया।[१३३]

इस प्रकार संसार का सजीव चित्र आख्यानकों के माध्यम से प्रस्तुत करके जम्बूकुमार ने अपने माता-पिता, आठ पत्नियों, उनके माता-पिता एवं ५०० चोरों की अन्तश्चेतना को जागृत एवं प्रबुद्ध कर दिया। फलतः एक ही रात में ५२७ व्यक्तियों को प्रतिबुद्ध कर दीक्षित होने वाले जम्बूकुमार इतिहास के पृष्ठों पर सिर्फ एक ही हैं, अद्वितीय हैं।

(२) भगवान महावीर का निर्वाण जम्बूकुमार की दीक्षा से कुछ ही मास पूर्व हुआ था। इस प्रकार के उल्लेख श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

(३) जम्बू स्वामी के निर्वाण (मोक्ष) के पश्चात् जम्बूद्वीपान्तर्गत भरत क्षेत्र में निम्नलिखित १० बातें विलुप्त हो गईं–

(१) मनःपर्यवज्ञान, (२) परम अवधिज्ञान, (३) पुलाकलब्धि, (४) आहारक-शरीर, (५) क्षपक श्रेणि, (६) उपशम श्रेणि, (७) जिनकल्प साधना, (८) त्रिचारित्र (परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-सम्पराय और यथाख्यातचारित्र), (९) केवलज्ञान, और (१०) मुक्तिगमन।[१३४]

(४) सुधर्मा और जम्बू का इससे पूर्व के ५ भवों का इतिवृत्त ग्रन्थों में मिलता है जिनमें ३ भव मनुष्य के और २ भव देव के हैं। मनुष्य के तीनों भवों में सुधर्मा के जीव ने जम्बू के जीव को प्रतिबोधित करके दीक्षित किया था।[१३५]

आर्य जम्बू के निर्वाण के साथ ही केवलीकाल की समाप्ति हो गई।

तृतीय पट्टधर : आचार्य प्रभव

आर्य जम्बू के पश्चात् केवलीकाल समाप्त हो जाने से श्रुतकेवलीकाल प्रारम्भ हुआ। श्रुतकेवलीकाल के प्रथम श्रुतधर आचार्य हुए–आर्य प्रभव। ये

जम्बू स्वामी के पट्ट पर, भगवान महावीर स्वामी के तीसरे पट्टधर हुए। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में श्रुतकेवलीकाल के विषय में तथा श्रुतकेवली परम्परा के आचार्यों के विषय में मतैक्य नहीं है। श्वेताम्बर परम्परानुसार श्रुतकेवलीकाल वीर निर्वाण ६४ से वीर निर्वाण १७० तक कुल १०६ वर्ष की अवधि का माना गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में वीर निर्वाण ६२ से वीर निर्वाण १६२ तक १०० वर्ष का श्रुतकेवलीकाल माना गया है। श्वेताम्बर परम्परानुसार श्रुतकेवली के रूप में सर्वप्रथम आचार्य प्रभव का नाम लिया जाता है, जबकि दिगम्बर परम्परा में श्रुतकेवली रूप में प्रथम आचार्य विष्णुनन्दी–अपरनाम 'नन्दी' को माना गया है।

दोनों परम्पराओं से सम्मत श्रुतकेवली एवं उनका आचार्य काल इस प्रकार है–

श्वेताम्बर परम्परा	दिगम्बर परम्परा
(१) प्रभव स्वामी वीर निर्वाण ६४ से ७५	(१) विष्णुनंदि वीर निर्वाण ६२ से ७६
(२) शय्यम्भव स्वामी वीर निर्वाण ७५ से ९८	(२) नन्दीमित्र वीर निर्वाण ७६ से ९२
(३) यशोभद्र स्वामी वीर निर्वाण ९८ से १४८	(३) अपराजित वीर निर्वाण ९२ से ११४
(४) सम्भूतिविजय वीर निर्वाण १४८ से १५६	(४) गोवर्धन वीर निर्वाण ११४ से १३३
(५) भद्रबाहु स्वामी वीर निर्वाण १५६ से १७०	(५) भद्रबाहु प्रथम वीर निर्वाण १३३ से १६२

विन्ध्य प्रदेश के जयपुर नगर में वीर निर्वाण पूर्व ३० (विक्रम पूर्व ५००, ईसा पूर्व ५५७) में कात्यायन गोत्रीय विन्ध्य राजा के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में क्षत्रिय राजकुमार प्रभव का जन्म हुआ। कनिष्ठ पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी बना दिये जाने से पितृ-स्नेह से वंचित एवं रुष्ट होकर प्रभव चोरपल्ली में पहुँच गया। अपनी निर्भीकता और बुद्धि-बल से जन-समूह को लूटता, धन हरण करता एवं शेर की तरह दहाड़ता हुआ प्रभव एक दिन ५०० चोरों का नेता बन गया। अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी विद्या के प्रभाव से उसका बल अत्यधिक बढ़ गया; इस कारण शस्त्र सज्जित सम्राट् कोणिक का सैन्य-दल भी प्रभव के नाम से काँपता था।

एक बार प्रभव के दल ने राजगृह के इभ्य श्रेष्ठी ऋषभदत्त के पुत्र जम्बू के विवाह की और उसमें प्राप्त ९९ करोड़ के प्रीतिदान की चर्चा सुनी तो एक ही दिन में धनाढ्य बनने की लालसा से वे अपने दल सहित श्रेष्ठी के विशाल गृह में

प्रविष्ट हो गये। अवस्वापिनी विद्या से सबको नींद की गोद में सुलाकर तालोद्घाटिनी विद्या के प्रयोग से ताले खोल दिये और जैसे 'मधुबिन्दु' पर मक्खियाँ भिनभिनाती हैं, वैसे ही यह दस्यु-दल धन की पेटियों पर जा लपका। धन के गट्ठर बाँधकर जैसे ही वे उठाने को तत्पर हुए कि उनके हाथ गट्ठरों पर और पैर धरती से चिपक गये। सभी चित्रलिखित सम स्तम्भित हो गये।[१३६] प्रभव दूर खड़ा-खड़ा अपने साथियों को गट्ठर उठाकर चलने का आदेश दे रहा था, किन्तु अपनी शारीरिक शक्ति का पूर्ण उपयोग करने पर भी तस्कर-दल स्वयं को इंच मात्र भी हिला नहीं पा रहा था। कुशाग्र बुद्धि का धनी प्रभव समझ गया कि अवश्य ही यहाँ किसी शक्तिशाली विद्या के प्रयोक्ता ने प्रयोग किया है अन्यथा मेरे संकेत मात्र पर प्राण न्योछावर कर देने वाला मेरा दल मेरी आज्ञा की अवहेलना क्यों करता और क्यों निष्क्रिय बनता? अवश्य ही इसमें कोई रहस्य है। हो सकता है, जिसकी शब्द-तरंगें मेरे कर्णकुहरों से टकरा रही हैं, वह मुझसे अधिक शक्तिशाली मानव है, उसी ने मेरे दल पर स्तम्भिनी विद्या का प्रयोग किया हो। प्रभव ने अपनी पैनी दृष्टि से चारों ओर देखा कि ऋषभदत्त के महल के सबसे ऊपरी गवाक्ष से छनकर प्रकाश किरणें आ रही हैं। वह विद्युत् वेग से जम्बूकुमार के शयन-कक्ष तक पहुँचा। विरक्ति के स्वर उसके कानों से टकराये। वह विचार करने लगा–'अहो ! सुहाग की प्रथम रात्रि में ये अध्यात्म के स्वर ! अवश्य ही यह कोई असाधारण पुरुष है।' चुम्बक-सा खिंचा हुआ प्रभव जम्बूकुमार के समक्ष खड़ा हो गया और अपना परिचय देते हुए बोला– "मैं तस्करराज प्रभव हूँ। आपसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने की भावना से यहाँ आया हूँ। मैं अपनी 'अवस्वापिनी' और 'तालोद्घाटिनी' विद्या आपको प्रदान कर आपसे स्तम्भिनी और विमोचनी विद्याएँ ग्रहण करना चाहता हूँ।"[१३७]

जम्बूकुमार ने मुस्कराते हुए कहा–"स्तेनसम्राट् ! मेरे पास न कोई भौतिक विद्या है और न ही मुझे इनकी आवश्यकता है। मेरी दृष्टि में अध्यात्म विद्या से बढ़कर कोई विद्या, मंत्र या शक्ति नहीं है। मैं तो प्रभात होते ही इस धन-सम्पदा और रूप-सम्पदा का त्यागकर आर्य सुधर्मा स्वामी के पास संयम अंगीकार करूँगा।" जम्बूकुमार की बात सुनकर प्रभव अवाक् रह गया। वह कुछ क्षण तक जम्बू के शान्त, शीतल, तेजस्वी मुखमण्डल को निहारता ही रह गया। उसके अन्तःकरण में एक झटका-सा लगा। उसका अन्तर्मन उद्वेलित हो उठा। उसके मन में अन्तःस्फुरणा झंकृत हो उठी–"अरे प्रभव ! देख, कहाँ तू और कहाँ यह जम्बू ! यह तो प्राप्त भोगों और सुख-साधनों को ठुकरा रहा है और

तू इनके द्वारा वमित भोगों और सुख-साधनों के पीछे कुत्ते की भाँति टूट रहा है ! इस धन के लिए तूने क्या-क्या पाप नहीं किये ? धिक्कार है तुझे !'''''' प्रभव स्वयं को धिक्कारता हुआ अन्तरतम में गहरा उतर गया। उसे धन से तथा सुखोपभोगों से विरक्ति हो गई। वह जम्बू को प्राप्त अपार धनराशि लूटने आया था, किन्तु स्वयं पूर्णतः लुट गया ! उसने जम्बू के चरणों में नतमस्तक होकर अपने अपराध की क्षमा माँगी और जम्बूकुमार के समक्ष अपने ५०० साथियों सहित दीक्षा लेने की इच्छा व्यक्त की।

इस प्रकार वीर निर्वाण सं. १ (विक्रम पूर्व ४६९) के दिन अपने ५०० साथियों सहित प्रभव ने जम्बूकुमार आदि के साथ आचार्य सुधर्मा स्वामी से भागवती दीक्षा ग्रहण की। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार–प्रभव की दीक्षा जम्बू की दीक्षा के एक दिन बाद हुई। प्रभव उम्र की दृष्टि से जम्बू से ज्येष्ठ और दीक्षा की दृष्टि से कनिष्ठ थे। दीक्षा ग्रहण काल में जम्बू की आयु १६ वर्ष की और प्रभव की ३० वर्ष की थी। अतः प्रभव स्वामी आचार्य जम्बू स्वामी के गुरुभ्राता हुए और बाद में जम्बू स्वामी के उत्तराधिकारी भी। जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् वीर निर्वाण सं. ६४ में प्रभव स्वामी ने आचार्यपद का दायित्व सँभाला और वीर निर्वाण ७५ (विक्रम पूर्व ३९५) में १०५ वर्ष की सर्वायु पूर्ण कर उन्होंने अनशनपूर्वक स्वर्गारोहण किया। उन्हें द्वादशांगी का ज्ञान जम्बू स्वामी से उपलब्ध हुआ था या सुधर्मा स्वामी से ? इसका कहीं पर भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। जो भी हो, आचार्य प्रभव श्रुतकेवली, विशिष्ट श्रुतधर, तेजस्वी, अनुशासन सक्षम एवं विशिष्ट प्रभुसत्ता से सम्पन्न आचार्य थे।

विशेष ज्ञातव्य

(१) आर्य सुधर्मा और आर्य जम्बू को अपने भावी उत्तराधिकारी आचार्य की चिन्ता नहीं करनी पड़ी, किन्तु आचार्य प्रभव की दृष्टि में उनके संघ में आचार्यपद ग्रहण करने की योग्यता वाला एक भी व्यक्ति नजर नहीं आया। अतः आचार्य प्रभव को शय्यंभव-जैसे महान् याज्ञिक ब्राह्मण को शिष्यरूप में प्राप्त करने के लिए काफी प्रयत्न करना पड़ा था।

(२) प्रभव के संघ-अनुशास्ताकाल में नन्दवंश का अभ्युदय हो चुका था। मगध देश में उदायी नरेश के राज्य का अन्त वीर निर्वाण सं. ६० (विक्रम पूर्व ४१०) में हो गया था। नन्दवंश के अभ्युदय के समय आचार्य जम्बू का आचार्यकाल था।

वत्स गोत्रीय आचार्य शय्यम्भव : चतुर्थ पट्टधर

भगवान महावीर के तृतीय पट्टधर आचार्य प्रभव स्वामी हुए। उनके पश्चात् वीर निर्वाण सं. ७५ में चतुर्थ पट्टधर आचार्य शय्यंभव हुए। आपका जन्म वत्स गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में वीर निर्वाण सं. ३६ (विक्रम पूर्व ४३४) में राजगृह में हुआ था। जिस समय शय्यंभव ने २८ वर्ष की वय में आचार्य प्रभव स्वामी के उपदेश से प्रभावित होकर मुनि-दीक्षा ग्रहण की, उस समय उनकी युवा पत्नी गर्भवती थी।

आचार्य प्रभव ९४ वर्ष की आयु में आचार्यपद पर आसीन हुए थे। उनके जीवन का यह सन्ध्याकाल था। पिछली रात्रि में उनके अन्तर्मानस में यह विचार उद्‌बुद्ध हुआ कि मेरे बाद गणभार-वाहक कौन होगा? उन्होंने अपने समूचे श्रमणसंघ, श्रावकसंघ एवं जैनसंघ पर गहराई से दृष्टिपात किया, किन्तु उनकी दृष्टि में आचार्यपद के योग्य कोई भी व्यक्ति नहीं ठहरा। अन्त में, उनका ध्यान वेदविज्ञ याज्ञिक शय्यम्भव पर केन्द्रित हुआ।[१३८] यद्यपि शय्यम्भव आचार्यपद के सर्वथा योग्य प्रतीत हो रहे थे, किन्तु जैनधर्म-दर्शन के कट्टर विरोधी, स्वज्ञानगर्विष्ठ वेदविज्ञ ब्राह्मण को कैसे समझाया और मनाया जाये? अतः दूसरे ही दिन आचार्य प्रभव स्वामी अपनी साधु-मण्डली के साथ विहार करते हुए राजगृह पधारे। वहाँ जाकर आपने अपने दो साधुओं को आदेश दिया कि तुम दोनों शय्यंभव ब्राह्मण की यज्ञशाला में भिक्षार्थ जाओ और जब वे भिक्षा न दें तो तुम उच्च स्वर से निम्नोक्त श्लोक-पंक्ति सुनाकर वापस लौट आना–

'अहो कष्टमहो कष्टं, तत्त्वं विज्ञायते नहि।''

–अहो ! बड़े खेद की बात है कि तत्त्व नहीं जाना जा रहा है।

श्रमण-युगल ने आचार्य के संकेतानुसार वैसा ही किया। तत्त्व को नहीं जानने की बात सुनकर उद्‌भट विद्वान् शय्यंभव का दर्परूपी सर्प फुफकार उठा। सोचा–'ये उपशान्त तपस्वी असत्य नहीं बोलते।' अतः सत्य क्या है? यह जानने के लिए वे नंगी तलवार हाथ में लेकर यज्ञानुष्ठान कराने वाले उपाध्याय के पास पहुँचे और उनसे 'तत्त्व क्या है?' यह पृच्छा की। उपाध्याय ने कहा– ''स्वर्ग और अपवर्ग को देने वाले वेद ही परम तत्त्व हैं।'' शय्यंभव ने कहा–''ये निष्परिग्रही, ममत्वरहित शान्त महर्षि असत्य नहीं कहते। तुम मुझे सत्य-सत्य कहो कि 'तत्त्व क्या है?' अन्यथा, इस तलवार से तुम्हारा शिरोच्छेद कर दूँगा।''

करालकाल-सम विकराल तलवार देखकर उपाध्याय ने काँपते हुए कहा–"अर्हत् धर्म ही यथार्थ तत्त्व है।" शय्यंभव भट्ट अभिमानी होने के साथ-साथ जिज्ञासु भी थे। वे जैन श्रमणों की खोज करते हुए आर्य प्रभव के पास पहुँच गये। प्रभव ने उन्हें यज्ञ का अध्यात्मपरक यथार्थ स्वरूप समझाया और अध्यात्म तत्त्व की विशद् व्याख्या की। आचार्य प्रभव की पीयूषवर्षिणी अध्यात्म सुधा सम्पृक्त वाणी सुनकर उन्होंने सम्यक् बोध प्राप्त किया और आचार्य प्रभव के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। पत्नी का त्याग करके साधु बन जाने की बात राजगृह के पूरे ब्राह्मणवर्ग में विद्युत् प्रवाह की तरह फैल गई। वे आपस में चर्चा करने लगे–"अहो ! शय्यंभव भट्ट निष्ठुरातिनिष्ठुर व्यक्ति निकला, जो अपनी नवयौवना पत्नी का त्यागकर साधु बन गया।"[१३९] नारी के लिए पति के अभाव में पुत्र का आलम्बन होता है। परन्तु मालूम होता है, वह आलम्बन भी इसे प्राप्त न हो सका।

एक दिन अड़ौस-पड़ौस की महिलाओं ने शय्यंभव की पत्नी से पूछ ही लिया–"सरले ! क्या पुत्र की सम्भावना है?" उसने लज्जा और संकोचवश संक्षिप्त-सा उत्तर दिया–"मणगं (मनाक्); अर्थात् हाँ, कुछ है।" उक्त शब्द सुनकर शय्यंभव के परिजनों को सन्तोष हुआ। समयानुसार जब पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ तो सभी ने उसकी माँ के मुख से निकले हुए मधुर कर्णप्रिय शब्द (मनक) का अनुसरण करके, शिशु का 'मनक' नाम रखा। शय्यंभव भट्ट का यह पुत्र मनक के रूप में प्रसिद्ध हो गया। माँ ने अत्यन्त स्नेहवश पालन-पोषण किया। जब मनक ८ वर्ष का हुआ तो एक बार अपनी माँ से पूछा–"मेरी प्यारी अच्छी माँ ! मैंने अपने पिता को कभी नहीं देखा, बताओ मेरे पिता कहाँ हैं?" माँ ने अपने उमड़ते अश्रुओं को बलात् रोकते हुए अत्यन्त धैर्य के साथ कहा–"वत्स ! जैसे तूने अपने पिता को नहीं देखा, वैसे ही तेरे पिता ने भी तुझे नहीं देखा है। वे तेरे जन्म से पूर्व ही जैन-मुनि बन गये हैं।"

माँ की बात सुनकर मनक के मन में पितृ-दर्शन की भावना प्रबल हो उठी। वह अपनी माता की अनुमति लेकर पिता की खोज में इधर-उधर भटकता हुआ चम्पानगरी में पहुँच गया।

शौच निवृत्ति के लिए गये हुए आचार्य शय्यंभव वापस लौट रहे थे कि उन्होंने मनक की अपनी-सी मुखाकृति देखकर समझ लिया कि यह मेरा गृहस्थ-पक्षीय पुत्र है। जब मनक ने पूछा–"मेरे पिता आचार्य शय्यंभव कहाँ हैं? क्या आप उन्हें जानते हैं?" आचार्य ने कहा–"वत्स ! मैं तुम्हारे पिता को

जानता हूँ। वे मेरे से अभिन्न हैं। तुम मुझे अपना पिता ही समझो।'' बालक मनक उनके साथ उपाश्रय में आया। वहाँ श्रुति परम्परा से पता चला कि ये ही मेरे पिता आचार्य शय्यंभव हैं तो हर्ष से गद्‌गद होकर ८ वर्ष की अल्पायु में ही उसने श्रमण-दीक्षा अंगीकार कर ली। न तो उसे उपदेश की अधिक आवश्यकता पड़ी और न ही प्रेरणा की।

दशवैकालिकसूत्र की रचना का आधार और प्रयोजन

आचार्य शय्यंभव चतुर्दश पूर्वधारी थे। बालक के लक्षण और उसकी हस्तरेखा देखकर उन्होंने जान लिया कि इस बालक श्रमण की आयु मात्र ६ मास ही अवशिष्ट है। अतः इस स्वल्पकाल में ही ज्ञान और क्रिया दोनों का सम्यक् आराधन कर आत्म-कल्याण कर सके, इसके लिए आत्म-प्रवाद पूर्व से दशवैकालिकसूत्र का निर्यूहण किया।[१४०] इस सूत्र में १० अध्ययन हैं, जिसमें मुनि-जीवन की समग्र आचार-संहिता का निरूपण हुआ है। यह सूत्र उत्तरवर्ती नवीन मोक्षार्थी साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसकी गणना ४ मूलसूत्रों में की गई है। आचार्य भद्रबाहु की दशवैकालिकनिर्युक्ति के अनुसार इस सूत्र के चतुर्थ अध्ययन का निर्यूहण आत्म-प्रवाद पूर्व से, पंचम अध्ययन का निर्यूहण कर्म-प्रवाद पूर्व से, सप्तम अध्ययन का निर्यूहण सत्य-प्रवाद पूर्व से और अवशिष्ट अध्ययनों का निर्यूहण नवमें प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से हुआ है। इस आगम की रचना वीर निर्वाण ८० में हुई थी।[१४१]

मुनि मनक ने ६ मास के स्वल्पकाल में श्रमणधर्म की आराधना कर समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर स्वर्ग की राह ली। मनक की स्वल्पकालीन साधना के साथ देह-त्याग के प्रसंग ने अत्यन्त धैर्यवान आचार्य शय्यंभव के दिल को उद्वेलित कर दिया। उनकी आँखों से दो अश्रु-बिन्दु धरती पर लुढ़क पड़े।[१४२] यशोभद्र आदि मुनियों ने उनसे इस खिन्नता का कारण पूछा तो आचार्य ने कहा– ''यह मेरा गृहस्थ-पक्षीय पुत्र था। पुत्र-मोह ने मुझे क्षणभर के लिए विह्वल कर दिया।'' यशोभद्र आदि मुनियों ने कहा–''भगवन् ! आप हमें पहले ही बता देते तो हम उसकी सम्यक् परिचर्या व सेवा-शुश्रूषा करते।'' आचार्य ने उत्तर में कहा–''मुनिवरो ! मैंने यह रहस्य इसलिए नहीं खोला कि फिर आचार्यपुत्र समझकर कोई इससे सेवा-शुश्रूषा–परिचर्या नहीं करवाता तथा यह सेवाधर्म के लाभ से वंचित रह जाता। इस बाल-मुनि की अल्पायु जानकर ही मैंने पूर्वश्रुत से सार उद्धृत करके इस छोटे से सूत्र की रचना की। अब वह प्रयोजन नहीं रहा।

अतः इस दशवैकालिकसूत्र का मैं पुनः पूर्वों में संवरण कर देना चाहता हूँ।'' आचार्य की बात सुनकर आर्य यशोभद्र आदि मुनिसंघ एवं श्रावकसंघ ने प्रार्थना की–''पूज्यवर ! मनक मुनि के समान भविष्य में और भी अल्पायु या मंदमति साधु-साध्वी हो सकते हैं। उनको साध्वाचार का संक्षेप में पथ-प्रदर्शन करने में यह सूत्र अतीव उपयोगी होगा। अतः आप इसे यथावत् रहने दें।'' आचार्य शय्यंभव पूर्वों से सूत्र का निर्यूहण करने वाले प्रथम आचार्य हुए हैं। संघ द्वारा की गई प्रार्थना और शय्यंभवाचार्य के कृपा प्रसाद के फलस्वरूप आज समग्र सम्प्रदायों के श्रमणसंघ में दशवैकालिकसूत्र से पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ उठाया जा रहा है। पंचम आरे के अन्त तक दशवैकालिकसूत्र विद्यमान रहेगा, यही इसकी उपयोगिता तथा सर्वश्रेष्ठता का प्रमाण है।

आचार्य शय्यंभव ११ वर्ष तक सामान्य मुनि-पर्याय में और २३ वर्ष तक युगप्रधान आचार्यपद पर रहे। ६२ वर्ष की सर्वायु पालन कर वे वीर निर्वाण सं. ९८ (विक्रम पूर्व ३७२) में स्वर्गासीन हुए।[१४३]

तुंगिक गोत्रीय आचार्य यशोभद्र : पंचम पट्टधर

आचार्य शय्यंभव के प्रधान शिष्य आर्य यशोभद्र जैनशासन के परम यशस्वी युगप्रधान आचार्य हो गये हैं। आपका जन्म तुंगियायन (तुंगिक) गोत्रीय याज्ञिक ब्राह्मण परिवार में वीर निर्वाण ६२ में (विक्रम पूर्व ४०८) में हुआ।[१४४] २२ वर्ष की युवावस्था में आपने आर्य शय्यंभव के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। १४ पूर्वों की विशाल ज्ञान-राशि का अध्ययन करके ३६ वर्ष की वय में आचार्यपद पर आसीन हुए। ५० वर्ष तक आचार्यपद पर रहकर जिनशासन की अनुपम सेवा करते हुए ८६ वर्ष की आयु में वीर निर्वाण १४८ में स्वर्गगामी हुए।

विशेष ज्ञातव्य

(१) आचार्य यशोभद्र ने अपने समय के बड़े-बड़े याज्ञिकों को प्रतिबोध देकर जैनधर्मानुयायी बनाये।

(२) आप ही की विचक्षण प्रतिभा के फलस्वरूप आपके शासनकाल में संभूतविजय और भद्रबाहु-जैसे दो समर्थ शिष्य चतुर्दश पूर्वधर–श्रुतकेवली बने।[१४५]

(३) तीर्थंकर महावीर के उत्तरवर्ती युगप्रधान आचार्यों की शृंखला में उस समय तक सर्वाधिक लम्बा शासनकाल (५० वर्ष) आचार्य यशोभद्र का रहा।

(४) आचार्य शय्यंभव तक चतुर्विध श्रमणसंघ में एक ही आचार्य परम्परा थी। परन्तु आचार्य यशोभद्र ने अपने पाट पर संभूतविजय और भद्रबाहु दोनों को आचार्यपद पर नियुक्त करके जैनशासन (धर्मसंघ) में नई प्रवृत्ति को जन्म दिया।[१४६]

(५) मगध, अंग और विदेह ये तीनों प्रदेश आचार्य यशोभद्र के धर्म-प्रचार के क्षेत्र रहे। उस समय मगध पर नन्दवंश का राज्य था।

(६) आचार्य शय्यंभव और आचार्य यशोभद्र दोनों ब्राह्मण परिवार से सम्बद्ध होने से तत्कालीन ब्राह्मण समाज पर उनका असाधारण प्रभाव पड़ा। इन दोनों आचार्यों का ७३ वर्ष का सुदीर्घकाल वैदिक संस्कृति (जिसमें ब्राह्मण परम्परा) को जैन संस्कृति से प्रभावित करने वाला अहिंसा का उद्घोष काल रहा।

माठर गोत्रीय आचार्य सम्भूतविजय : षष्ठ पट्टधर

आचार्य सम्भूतविजय श्वेताम्बर जैन परम्परा के महान् गौरवशाली आचार्य थे। महावीर शासन के वे छठे पट्टधर तथा श्रुतकेवली परम्परा में चतुर्थ श्रुतकेवली थे। उनका जन्म वीर निर्वाण सं. ६६ (विक्रम पूर्व ४०४) में माठर गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उत्कृष्ट विरक्तभाव से उन्होंने वीर निर्वाण १०८ (विक्रम पूर्व ३६२) में ४२ वर्ष की आयु में आर्य यशोभद्र के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आगमों का गम्भीर ज्ञानार्जन करते हुए १४ पूर्वों का सम्पूर्ण मूलार्थ ग्रहण कर वे श्रुतकेवली आचार्य बने। आचार्य यशोभद्र के पश्चात् वीर निर्वाण सं. १४८ (विक्रम पूर्व ३२२) में वे आचार्यपद पर आरूढ़ हुए। श्रुतसम्पन्न आचार्य भद्रबाहु उनके गुरुभ्राता श्रमण थे।

कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार आचार्य सम्भूतविजय के १२ प्रमुख शिष्य थे–(१) नन्दनभद्र, (२) उपनन्दनभद्र, (३) तिष्यभद्र, (४) यशोभद्र, (५) स्थविर सुमनभद्र, (६) मणिभद्र, (७) पुण्यभद्र, (८) स्थूलभद्र, (९) ऋजुमति, (१०) जम्बू, (११) दीर्घभद्र, और (१२) पाण्डुभद्र।[१४७]

आचार्य सम्भूतविजय के संघ में कतिपय घोर अभिग्रहधारी श्रेष्ठ श्रमण थे। ऐसे स्थूलभद्र आदि ४ विशिष्ट साधकों के अभिग्रह का रोमांचकारी वर्णन उपदेशमाला में किया गया है। उसके अनुसार एक ने सिंह गुफा में, दूसरे ने सर्प की बाम्बी पर, तीसरे ने कुएँ की पाल पर और चौथे आर्य स्थूलभद्र ने अपनी पूर्व परिचिता कोशा गणिका की कामोत्तेजक चित्रशाला में चातुर्मास

करने का अभिग्रह करके चातुर्मास व्यतीत किया। चातुर्मास की सम्पन्नता पर जब चारों मुनि आचार्य सम्भूतविजय के पास आये तो उन्होंने तीन मुनियों का 'दुष्कर क्रिया के साधक' कहकर तथा मुनि स्थूलभद्र का महादुष्कर क्रिया के साधक, से सम्बोधित कर स्वागत-सत्कार किया।[१४८]

आचार्य सम्भूतविजय का श्रमणीवर्ग भी अत्यन्त प्रभावक था। महामात्य शकडाल की सात पुत्रियाँ–यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा आचार्य सम्भूतविजय के पास दीक्षित हुई थीं।[१४९] इनमें से साध्वी यक्षा जैनशासन की गौरवशालिनी महासाध्वी थी। अतीव सुकुमाल श्रीयक मुनि को ज्येष्ठभगिनी साध्वी यक्षा ने पर्युषण पर्व के दिन उपवास की प्रेरणा दी। उपवास तप के दौरान रात्रि में भयंकर कष्ट होने से देव-गुरु का स्मरण करता हुआ मुनि श्रीयक स्वर्गवासी हुआ। भ्राता श्रीयक मुनि के स्वर्गवास का कारण स्वयं को मानती हुई साध्वी यक्षा अपने मनस्ताप के निवारणार्थ शासनदेवी की सहायता से महाविदेह क्षेत्र में जाकर तीर्थंकर सीमन्धर स्वामी के श्रीमुख से स्वयं को निर्दोषता सिद्ध करवाई। साथ ही उनके मुखकमल से निःसृत वाणी को ज्यों की त्यों स्मृति में रखकर श्रीसंघ को प्रदान की। अतिप्रसिद्ध चार चूलिकाएँ साध्वी यक्षा को प्राप्त हुईं, इनमें से दो चूलिकाएँ दशवैकालिकसूत्र के साथ और दो चूलिकाएँ आचारांगसूत्र के साथ संयोजित की गईं।[१५०]

आचार्य यशोभद्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण सं. १४८ में हुआ था। स्थूलभद्र की दीक्षा आचार्य यशोभद्र की अनुमति से आचार्य सम्भूतविजय के द्वारा हुई थी। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य यशोभद्र की विद्यमानता में ही आचार्य सम्भूतविजय को दीक्षा प्रदान करने का अधिकार प्राप्त हो गया था। सम्भव है, उस समय धर्मसंघ की ऐसी व्यवस्था चालू हो गई हो।

आचार्य सम्भूतविजय जी ने ४० वर्ष तक संयम-पर्याय का पालन किया। उसमें ८ वर्ष आचार्यत्व काल का था। अपनी प्रखर ज्ञान-रश्मियों से सहस्रों भव्य जनों को प्रतिबोध देते हुए आचार्य सम्भूतविजय जी वीर निर्वाण सं. १५६ (विक्रम पूर्व ३१४) में स्वर्गगामी हुए।

विशेष ज्ञातव्य

आचार्य सम्भूतविजय जी के आचार्यकाल में नन्द राज्य उत्कर्ष पर था। उनके समय में नौवें नन्द का राज्यकाल चल रहा था; क्योंकि नौवें नन्द के महामात्य शकडाल परिवार की ९ दीक्षाएँ–(स्थूलभद्र, श्रीयक एवं इनकी सात भगिनियों की दीक्षाएँ) आचार्य सम्भूतविजय के द्वारा हुई थीं।

प्राचीन गोत्रीय आचार्य भद्रबाहु : सप्तम पट्टधर

विशिष्ट श्रुतधर (श्रुतकेवली) परम्परा में आचार्य भद्रबाहु पंचम श्रुतधर थे। आप जैन संस्कृति के ज्योतिर्धर आचार्य थे। जैन साहित्य-सर्जना के आप आदि पुरुष थे। आगमों के व्याख्याकार, इतिहासकार एवं विविध साहित्य-सर्जक के रूप में आपका स्थान प्रथम है। आप अन्तिम चतुर्दशपूर्वधारी आचार्य थे। आपके पश्चात् कोई भी श्रमण अर्थशः चतुर्दशपूर्वधारक नहीं हुआ।

दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहासूत्र, आवश्यकसूत्र आदि १० सूत्रों पर आपके द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण निर्युक्तियाँ हैं। कल्पसूत्र आपके द्वारा देव, गुरु, धर्म एवं आचार-संहिता पर श्रद्धा एवं चर्या टिकाने के लिए महनीय कृति है। कतिपय विद्वान् उक्त निर्युक्तियाँ द्वितीय भद्रबाहु द्वारा रचित मानते हैं। उपसर्गहर आपकी यशस्वी रचना है।

आचार्य भद्रबाहु का जन्म वीर निर्वाण सं. ९४ (विक्रम पूर्व ३७६) में प्रतिष्ठानपुर में हुआ। प्राचीन गोत्र से प्रतीत होता है, आप ब्राह्मण वंश की विभूति थे। उन्होंने ४५ वर्ष की वय में आचार्य यशोभद्र से दीक्षा ग्रहण की। ६२ वर्ष की आयु में वीर निर्वाण १५६ (विक्रम पूर्व ३१४) में आचार्य सम्भूतविजय के स्वर्गवास के पश्चात् आप आचार्यपद पर आसीन हुए। १४ वर्ष तक युगप्रधान पद पर जिनशासन का सफल नेतृत्व और अनुदान देकर वीर निर्वाण सं. १७० (विक्रम पूर्व ३००) में स्वर्गवासी हुए।[१५१] उन्हीं के साथ अर्थवाचना की दृष्टि से श्रुतकेवली का विच्छेद हो गया।

विशेष ज्ञातव्य

(१) श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराएँ भद्रबाहु को श्रुतधर आचार्य के रूप में आदर प्रदान करती हैं।

(२) दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु गोवर्धन नामक आचार्य के शिष्य थे। श्वेताम्बर परम्परा आचार्य भद्रबाहु को आचार्य यशोभद्र का शिष्य एवं आचार्य सम्भूतविजय का गुरुभ्राता स्वीकार करती है।

(३) परिशिष्ट पर्व के अनुसार आचार्य यशोभद्र ने सम्भूतविजय और भद्रबाहु दोनों को संघ के आचार्यपद पर एक साथ नियुक्त किया था।[१५२] आयु में ज्येष्ठ होने के कारण यह दायित्व पहले सम्भूतविजय ने सँभाला, तत्पश्चात् भद्रबाहु संघ के अग्रगण्य बने।

(४) भद्रबाहु ने नेपाल की पहाड़ियों में महाप्राण-ध्यान की साधना १२ वर्ष तक की।[१५३] उसी दौरान स्वयं की इच्छा न होने पर भी श्रीसंघ की प्रार्थना पर स्थूलभद्र को ८ वर्ष में ८ पूर्वों का अध्ययन कराया।[१५४]

(५) स्थूलभद्र के साथ ४९९ विद्यार्थी-श्रमण और भी पूर्वशास्त्रों के अध्ययनार्थ गये थे, किन्तु एक तो दृष्टिवाद का अभ्यास अतिकठिन, दूसरे भद्रबाहु स्वामी से प्राप्त अल्प समय की वाचना, इन दोनों को देखकर उनका धैर्य डोल उठा। वे वाचना लिए बिना ही पुनः स्व-स्थान को लौट आए। **'तित्थोगालिय'** के अनुसार १,५०० श्रमण नेपाल गए। उनमें ५०० विद्यार्थी-श्रमण और १,००० श्रमण उनकी परिचर्या करने वाले थे।

(६) स्थूलभद्र १४ पूर्व का ज्ञान ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ थे। किन्तु श्रुतमद (ज्ञानमद) से आक्रान्त होने के कारण ४ पूर्वों का अर्थतः अध्ययन उन्हें नहीं कराया गया। उसके लिए आचार्य भद्रबाहु ने श्रीसंघ की प्रार्थना को भी मान्य नहीं किया। इससे यह सिद्ध होता है कि संघ की शक्ति आचार्य में केन्द्रित होती है। आचार्य ही अन्तिम निर्णायक होता है।

(७) श्रुतकेवली भद्रबाहु के अतिरिक्त आचार्यों की लम्बी शृंखला पार करने के बाद एक भद्रबाहु और हुए हैं। उन्हें ही दिगम्बर परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य (वीर निर्वाण २१५) के गुरु एवं निमित्त ज्ञानी मानना निर्विवाद है। इन्होंने ही चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्नों का फलादेश बताया था और ये ही (द्वितीय भद्रबाहु) द्वादशवर्षीय दुष्काल के समय १२,००० साधुओं के साथ दक्षिण की ओर विहार कर गये थे। द्वितीय भद्रबाहु सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के सहोदर थे और विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में हुए थे।

गौतम गोत्रीय स्थूलभद्र आचार्य : अष्टम पट्टधर

शृंगार और वैराग्य दोनों की पराकाष्ठा का अपूर्व और अद्‌भुत समन्वय करके इतिहास में नाम अमर करने वाले सुतीक्ष्ण प्रतिभा के धनी, दुष्काल के आघात से टूटती श्रुत-शृंखला के संरक्षक, अनुपम कामविजेता आचार्य स्थूलभद्र का श्वेताम्बर जैन परम्परा में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है।

आचार्य स्थूलभद्र का जन्म गौतम गोत्रीय ब्राह्मण-परिवार में वीर निर्वाण सं. ११६ (विक्रम पूर्व ३५४) में पाटलिपुत्र में हुआ था। इनके पिता का नाम

शकडाल एवं माता का नाम लक्ष्मी था। शकडाल के ७ पुत्रियों एवं २ पुत्रों का विशाल परिवार था। शकडाल की नियुक्ति नन्द-साम्राज्य में उच्चतम अमात्यपद पर थी। उनकी मंत्रणा से ही सारे राज्य का संचालन होता था। वे अपने समय के सर्वोच्च कोटि के राजनीतिज्ञ, शिक्षा-विशारद और कुशल प्रशासक थे। उनके मंत्रित्वकाल में राज्यकोष में अपूर्व सीमावृद्धि हुई थी। लोकश्रुति के अनुसार नन्द-साम्राज्य में नौ स्वर्णशैल के अस्तित्त्व थे। तथैव मगध देश के अन्तर्गत काशी, कौशल, अवन्ती, वत्स और अंग-जैसे बड़े-बड़े राज्य थे।

ऐसे विख्यात महामात्य के यहाँ स्थूलभद्र का जन्म हुआ। उनके छोटे भ्राता का नाम श्रीयक था एवं यक्षा, यक्षदिन्ना आदि ७ बहनें थीं। सभी को महामात्य ने उच्च कोटि का सुसंस्कारयुक्त शिक्षण दिलवाया। उन सातों पुत्रियों की मेधा इतनी प्रखर थी कि अश्रुतपूर्व श्लोकों को सुनकर तत्काल स्मृति में सुरक्षित रखकर ज्यों की त्यों दुहरा देती थीं।[१५५]

स्थूलभद्र भी अत्यन्त मेधावी था, किन्तु था कामभोग से अत्यन्त उदासीन। उसकी ऐसी वृत्ति से चिन्तित हुए महामात्य ने उसे कामकला के प्रशिक्षण हेतु उर्वशी के समान रूप-सम्पन्न गणिका 'कोशा' के पास भेजा। षोडशवर्षीय नवयुवक स्थूलभद्र कोशा के यहाँ पहुँचा कि फिर लौटकर घर आने का नाम नहीं लिया। बारह वर्ष का दीर्घकाल व्यतीत हो गया। जब मगध के विद्वान् कवीश्वर वररुचि ने अपने अपमान से क्षुब्ध होकर महामात्य शकडाल पर 'राजद्रोह' का आरोप लगाया और राजा भी जब उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखने लगे, तब अपने ही पुत्र श्रीयक द्वारा शिरोच्छेद करवाकर उन्होंने अटूट राजभक्ति का परिचय दिया।[१५६]

शकडाल की मृत्यु के पश्चात् स्थूलभद्र के पास अमात्यपद ग्रहण करने के लिए नरेश्वर नन्द ने निमंत्रण भेजा तो स्थूलभद्र की मोह-तन्द्रा को एक झटका-सा लगा। उन्होंने चिन्तन की गहराई में डुबकी लगाई–यह (अमात्य का) पद सदैव राजा से ही अनुशासित रहा है, रहता है। मेरे पिता की मृत्यु का प्रमुख कारण भी यही बना। अतः मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं राजतंत्र के प्रपंचों में पड़कर अपनी आत्मा को अकल्याण की ओर न ले जाकर, स्व-पर-कल्याणकारक श्रमण-पथ पर ले जाऊँ। फलतः स्थूलभद्र ने प्रेय से श्रेय की ओर यानी भोग से योग की ओर जाने का निश्चय करके आचार्य सम्भूतविजय के चरणों में पहुँचकर ३० वर्ष की वय में, वीर निर्वाण १४६ (विक्रम पूर्व ३२४) में श्रमण-दीक्षा अंगीकार की। संयम ग्रहण के बाद उन्होंने

आचार्य सम्भूतविजय से आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन किया। तदनन्तर गुरु-आज्ञा प्राप्त कर कोशा गणिका की चित्रशाला में चातुर्मास व्यतीत कर साधु-जीवन का उज्ज्वल उद्य आदर्श स्थापित किया कि सभी लोग कह उठे– काजल की कोठरी में रहकर भी वे बेदाग रहे। आचार्य सम्भूतविजय से भी उन्हें दुष्कर-महादुष्कर क्रिया के साधक का सम्मान प्राप्त हुआ। आचार्य भद्रबाहु से उन्होंने समग्र चतुर्दश पूर्व का ज्ञान अत्यन्त धैर्य के साथ ग्रहण किया। यद्यपि किंचित् ज्ञानपद के दण्डस्वरूप अर्थवाचना तो वे दो वस्तु कम दशपूर्व की ही ले पाये थे, अन्तिम ४ पूर्व की उन्हें मूल पाठ-वाचना ही प्राप्त हुई।

आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् वीर निर्वाण सं. १७० (विक्रम पूर्व ३००) में आर्य स्थूलभद्र आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए। अत्यन्त दक्षता के साथ आचार्यपद का निर्वहन करते हुए वैभारगिरि पर ९९ वर्ष की वय में १५ दिनों का अनशन कर वीर निर्वाण २१५ (विक्रम पूर्व २५५) में वे स्वर्गवासी हुए।

आर्य स्थूलभद्र श्रमण-शिरोमणि एवं महान् तेजस्वी आचार्य थे। मंगलाचरण में तीर्थंकर प्रभु महावीर और गणधर गौतम के पश्चात् आपका नामस्मरण आपके विशिष्ट व्यक्तित्व का सूचक है।[१५७]

विशेष ज्ञातव्य

(१) स्थूलभद्र ने अपने पर अत्यन्त अनुरक्त कोशा गणिका को अध्यात्म का मर्म समझाकर व्रतधारिणी श्राविका बनाया। उसने अपने शेष जीवन में पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया।

(२) मगध-सम्राट् उदायी की मृत्यु के पश्चात् प्रथम नन्द के समय से नवम नन्द के समय तक निरन्तर महामात्य शकडाल के पूर्वपुरुष कल्पक ही मगध के महामात्य पद पर सुशोभित होते रहे थे। नवम नन्द के महामात्य का नाम शकटार या शकडाल था।

(३) आचार्य सम्भूतविजय के स्वर्गारोहण से पूर्व मध्य प्रदेश में भीषण दुष्काल पड़ा था। फलतः श्रुत (शास्त्रों) का परावर्तन (पारायण) न होने के कारण एकादशांगी के पाठ भी विस्मृत होने लगे थे।[१५८] बारहवें दृष्टिवाद का ज्ञाता एक भी श्रमण नहीं बचा था। उस समय आगमों की प्रथम बृहद् वाचना पाटलिपुत्र में वीर निर्वाण सं. १६० में की गई। यह वाचना स्वर्गस्थ आचार्य सम्भूतविजय के शिष्य आर्य स्थूलभद्र के तत्त्वावधान में हुई थी।

(४) आचार्य भद्रबाहु ही उस समय श्रमणसंघ के मात्र एक आचार्य थे, जिन्हें चतुर्दश पूर्व का सम्पूर्ण ज्ञान था। वे उस समय नेपाल में महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। स्थूलभद्र आदि मुनियों को ८ वर्ष तक उन्होंने प्रतिदिन ७ वाचनाएँ देना स्वीकार किया था।[१५९]

(५) आचार्य स्थूलभद्र के आचार्यत्वकाल के ४४ वर्ष बीत जाने पर वीर निर्वाण सं. २१४ में श्वेताम्बिका नगरी में आषाढाचार्य के शिष्यों से तीसरे निह्नव अव्यक्तवादी की उत्पत्ति हुई थी।

(६) भारतीय इतिहास की दृष्टि से आर्य स्थूलभद्र का युग राज्य-परिवर्तन अथवा राज्य-विप्लव का युग रहा। भारत पर यूनानियों के आक्रमण, महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य का अभ्युदय, नन्दराज्य का पतन और मौर्य राज्य का उदय, ये सब आर्य स्थूलभद्र के काल की प्रमुख राजनैतिक घटनाएँ हैं। वीर निर्वाण २०० में भारत के उत्तर-पश्चिम प्रदेश में यूनान के शाह सिकन्दर (एलेक्जेंडर दी ग्रेट) ने एक प्रबल सेना लेकर आक्रमण किया। ईसा पूर्व ३२३ में बैबिलोन पहुँचते-पहुँचते सिकन्दर की मृत्यु हो गई थी।[१६०]

(७) स्थूलभद्र आचार्य के दो युगप्रधान शिष्य थे—आर्य महागिरि एवं आर्य सुहस्ती।[१६१]

जिनकल्पतुल्य साधनाशील आचार्य महागिरि : नवम आचार्य

आर्य महागिरि एक मेधावी तथा जिनकल्पतुल्य साधना करने वाले महामना आचार्य थे। उनका जन्म वीर निर्वाण सं. १४५ (विक्रम पूर्व ३२५) में हुआ। वे एलापत्य गोत्रीय थे। ३० वर्ष की उम्र में उन्होंने आचार्य स्थूलभद्र के समीप दीक्षा ग्रहण की। आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती इन दोनों का लालन-पालन आर्या यक्षा ने किया था। इस कारण इन दोनों श्रमणवीरों के नाम के साथ 'आर्य' शब्द जुड़ गया है।[१६२]

कतिपय विद्वानों का यह भी मन्तव्य है कि जिन मुनियों के साथ आर्य शब्द संलग्न है, वह इनके तप का अनुसरण कर किया गया है, परन्तु हमारी दृष्टि से यह केवल कल्पना ही है, क्योंकि महागिरि के पूर्व भी श्रमणों के नाम के साथ आर्य शब्द व्यवहृत हुआ है। दीक्षा ग्रहण के पश्चात् आर्य महागिरि ने आर्य स्थूलभद्र से १० पूर्वों का अध्ययन किया। जीवन की सान्ध्य-बेला में आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती, इन दोनों को आचार्य स्थूलभद्र ने अपना

उत्तराधिकार प्रदान किया।[१६३] किन्तु आर्य सुहस्ती और आर्य महागिरि में परस्पर वात्सल्य की अत्यधिकता के कारण दोनों साथ-साथ विचरण करते थे।[१६४] आर्य महागिरि आगमों के गम्भीर ज्ञाता थे। उन्होंने अनेक श्रमणों को आगम की वाचनाएँ प्रदान कीं।[१६५] आर्य सुहस्ती-जैसे मेधावी आचार्य भी उन्हें अपने गुरु-सदृश मानकर उनका सम्मान करते थे।

एक दिन आर्य महागिरि के अन्तःकरण में यह चिन्तन स्फुटित हुआ कि 'आत्म-विशुद्धि की महती साधना-जिनकल्प है, जो इस समय विच्छिन्न है, तथापि वह तप भी पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट कर सकता है। मेरे अनेक मेधावी शिष्य सूत्र और अर्थ के पूर्ण ज्ञाता हो चुके हैं और आर्य सुहस्ती संघ का दायित्व वहन करने में समर्थ हैं। अतः मैं उन्हें गण का भार सौंपकर जिनकल्पतुल्य साधना में संलग्न हो जाऊँ।' फलतः संघ का दायित्व आर्य सुहस्ती को सौंपकर आर्य महागिरि श्मशान भूमि में जाकर साधना में तल्लीन हो गए।[१६६] उनके द्वारा धारण किये गए अनेक अभिग्रहों में से आहार का अभिग्रह विशेष कठोर था।

'उपदेशमाला' की बृहद् वृत्ति में उनके आहार से सम्बन्धित अभिग्रह का एक प्रसंग है–एक बार पाटलिपुत्र के वसुभूति श्रेष्ठी को विशेष उपदेश देने हेतु आर्य सुहस्ती वहाँ पधारे। उस समय आर्य महागिरि भी अनायास ही उक्त श्रेष्ठी के यहाँ पधार गए। उन्हें देखते ही आर्य सुहस्ती ने उठकर उन्हें वन्दन किया। जब आर्य महागिरि लौट गए तो श्रेष्ठी ने पूछा–"क्या ये महामुनि आपके गुरु हैं?" आर्य सुहस्ती ने कहा–"हाँ, ये मेरे गुरु हैं; विशिष्ट साधक और घोर तपस्वी हैं। गृहस्थ के यहाँ जो आहार नीरस, रूक्ष और फेंकने योग्य होता है, उसे ही ये ग्रहण करते हैं।" आर्य सुहस्ती के इस प्रकार कहने पर वसुभूति श्रेष्ठी के मन में आर्य महागिरि के प्रति श्रद्धा-भक्तिभाव जगा। उन्होंने अपने पारिवारिक जनों से कहा कि ये (आर्य महागिरि) महान् तपस्वी कदाचित् अपने यहाँ भिक्षा के लिए पधारें तो इनके अभिग्रह की पूर्ति यों कहकर करना कि "हम यह भोजन बाहर फेंकने वाले हैं, आप इसे ग्रहण कीजिए।" एक दिन आर्य महागिरि श्रेष्ठी के यहाँ भिक्षा के लिए पधारे। श्रेष्ठी के यहाँ बढ़िया मोदक तैयार रखे थे। उसके परिजनों ने कहा–"महामुने ! हमने बहुत ही बढ़िया भोजन कर लिया है। अतः इन मोदकों की इच्छा नहीं रही और हम इन्हें बाहर फेंकने वाले ही थे। अच्छा हुआ, आप पधार गए। आप इन्हें ग्रहण कीजिए।" इस प्रकार अनुनय-विनय करने पर भी आर्य महागिरि ने वे मोदक ग्रहण नहीं

किये।[१६७] जब आर्य सुहस्ती मिले, तब उन्होंने कहा–"उस दिन वसुभूति श्रेष्ठी के यहाँ आपने जो मेरा सम्मान किया, उसके कारण मेरे लिए उनके घर का आहार अनेषणीय बन गया।" आर्य सुहस्ती ने नतमस्तक होकर अपनी भूल के लिए उनसे क्षमा माँगी और भविष्य में इस भूल की पुनरावृत्ति नहीं होगी, ऐसा वचन दिया। इससे यह स्पष्ट है कि वे कितने कठोर अभिग्रहधारी श्रमण थे।[१६८]

कल्पसूत्र की स्थविरावली में आर्य महागिरि के ८ प्रमुख शिष्यों का उल्लेख है–(१) उत्तर, (२) बलिस्सह, (३) धनाक्ष्य, (४) श्रीआढ्य, (५) कौण्डिन्य, (६) नाग, (७) नागमित्र, और (८) रोहगुप्त। इनमें से उत्तर और बलिस्सह ये बहुत ही प्रभावशाली थे। उनसे कौशाम्बिक, शुक्तिमतिका, कोडवानी और चन्द्रनागरी; ये चार शाखाएँ निकलीं और रोहगुप्त से त्रैराशिक मत प्रकट हुआ। निह्नव परम्परा में रोहगुप्त का छठा क्रम है।[१६९]

आर्य महागिरि ३० वर्ष की वय में श्रमण बने और ७० वर्ष की आयु में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए। तत्पश्चात् ३० वर्ष तक आचार्यपद का गौरवपूर्ण निर्वाह कर वीर निर्वाण सं. २४५ (विक्रम पूर्व २२५) में मालव प्रदेश के गजेन्द्रपुर नगर में वे स्वर्गवासी हुए।

एलापत्य गोत्रीय आर्य सुहस्ती : दसवें पट्टधर

वाशिष्ठ गोत्रीय आर्य सुहस्ती का जन्म वीर निर्वाण सं. १९१ (विक्रम पूर्व २७९) में हुआ। उन्होंने तीस वर्ष की वय में आचार्य स्थूलभद्र के पास दीक्षा ग्रहण की। किन्तु आचार्य स्थूलभद्र का स्वल्प समय के पश्चात् स्वर्गवास हो जाने से उन्होंने आर्य महागिरि के पास पूर्वों का अध्ययन किया। वीर निर्वाण सं. २४५ (विक्रम पूर्व २२५) में वे आचार्यपद पर आसीन हुए।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार वे एक बार कौशाम्बी पधारे, उस समय वहाँ भयंकर दुष्काल था। एक भिखारी को कई दिनों से खाने को कुछ नहीं मिला। वह भिक्षाटन के लिए जा रहे श्रमणों के पीछे-पीछे चला। श्रमणों को एक श्रेष्ठी ने अपने यहाँ श्रद्धा-भक्तिपूर्वक स्वादिष्ट भोजन-सामग्री प्रदान की। रास्ते में चलते समय उसने श्रमणों से कहा–"आपको जो भोजन-सामग्री मिली है, उसमें से मुझे भी कुछ दें।" श्रमणों ने कहा–"हम गुरु-आदेश के बिना कुछ भी नहीं दे सकते।" वह भिखारी श्रमणों के साथ उपाश्रय में आया और आचार्य सुहस्ती से भोजन की याचना की। आचार्य सुहस्ती ने उसका चेहरा देखा और ज्ञानोपयोग से जाना कि यह रंक भविष्य में जिनशासन का आधार बनेगा।[१७०]

अतः आर्य सुहस्ती ने उस रंक से कहा–"यदि तुम श्रमणधर्म स्वीकार करो तो हम तुम्हें अपने नियमानुसार आहार दे सकते हैं, गृहस्थ को नहीं।" रंक ने सोचा–'भूख से छटपटाकर मरने की अपेक्षा तो श्रमणधर्म स्वीकार करना अच्छा है।'[१७१] आचार्यश्री ने उसे श्रमणधर्म का स्वरूप, माहात्म्य और फल के विषय में समझाया। इस पर श्रमणधर्म-पालन के लिए उद्यत होने पर उसे आचार्य ने दीक्षा प्रदान की।

दीक्षा ग्रहण करने के बाद नवदीक्षित मुनि को उन्होंने भरपेट सरस आहार कराया। किन्तु कई दिनों का भूखा होने से उसने अधिक मात्रा में सरस भोजन कर लिया।[१७२] फलतः श्वास-नलिका में श्वास-वायु का संचार रुक जाने से अत्यधिक पीड़ा हुई। आचार्यश्री सहित सभी साधु उसकी परिचर्या में लगे हुए थे। आचार्यश्री ने उसे प्रशस्त भावना और संयम का महत्त्व समझाया। उसका आयुष्यदीप बुझता देख सागारी संथारा करा दिया। उसी दिन प्रशस्त भावना से उस साधु ने आयुष्य पूर्ण किया और अवन्ती-नरेश अशोक के पौत्र–कुणाल के पुत्र–सम्प्रति के रूप में जन्म लिया। पूर्वकृत पुण्य एवं धर्मनिष्ठा के फलस्वरूप वह महान् साम्राज्य का अधिकारी बना।

एक दिन राजकुमार सम्प्रति महल के गवाक्ष में बैठा हुआ था। नीचे राजपथ से आचार्य सुहस्ती को साधु-मंडली सहित जाते देखकर वह विशेष रूप से चिन्तन करने लगा कि यह आकृति पूर्व-परिचित लगती है। ऊहापोह करते-करते जातिस्मरण ज्ञान हुआ, जिससे पूर्वभव का सारा चित्र उसके स्मृति पट पर चमक उठा। वह अपने प्रासाद से नीचे उतरकर आचार्य सुहस्ती के समक्ष हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। परम ज्ञानी आचार्य ने उपयोग लगाया तो उसका पूर्वभव उनके मस्तिष्क में चलचित्र की भाँति चमक उठा। तत्पश्चात् सम्प्रति ने गद्‌गद होकर कहा–"भगवन् ! आप मेरे परम उपकारी गुरु हैं। मैं आपका धर्मपुत्र हूँ। मुझे आदेश दें, जिससे मेरा जीवन मंगलमय और आपके असीम ऋण से उऋण हो सके।" आचार्य सुहस्ती ने कहा–"जिस धर्म के प्रभाव से तुम्हें यह सम्पदा प्राप्त हुई है, उस धर्म का पालन करो और उस धर्म की प्रभावना करो।" सम्प्रति ने आर्य सुहस्ती से श्रावक व्रत अंगीकार किया और अपने सामन्तों तथा राज्य-कर्मचारियों को भी जैन-संस्कार प्रदान किये। फिर उसने अपने सुभटों को श्रमण वेश पहनाकर आन्ध्र, द्रविड़ (तमिलनाडु), महाराष्ट्र आदि (उस समय के) अनार्य प्रदेशों में प्रेषित किये, ताकि वे वहाँ के निवासियों को श्रमणों के आचार-विचार से, संयम-नियमों से परिचित कर

सके। जब वहाँ के क्षेत्र श्रमणों के विहार के योग्य हो गए तो सम्प्रति ने आचार्यश्री से अपने श्रमणों को उन-उन सुलभ क्षेत्रों में भेजने की प्रार्थना की। इस प्रकार राजकुमार सम्प्रति ने धर्म-प्रचार में सहयोग देकर धर्म-प्रभावना की।[१७३]

एक बार आर्य सुहस्ती वाहनकुट्टी नामक स्थान में विराजे हुए थे, तब रात्रि के प्रथम प्रहर में नलिनीगुल्म नामक अध्ययन का स्वाध्याय कर रहे थे कि अवन्ति सुकुमाल ने सुना तो उसे यह सुपरिचित लगा।[१७४] ऊहापोह करते-करते जातिस्मरण ज्ञान हो जाने से अपना पूर्वभव जाना कि मैं पूर्वभव में नलिनीगुल्म विमान में था। उसे यह धुन लगी कि मुझे नलिनीगुल्म विमान में देव बनना है। आचार्यश्री के पास आकर साधु-दीक्षा ग्रहण करने की उत्कट इच्छा प्रगट की। आचार्यश्री ने संयममार्ग की कठोरता और उसकी सुकुमारता का प्रतिपादन करके समझाया। उसके दृढ़ आग्रह को देखकर आचार्यश्री ने दीक्षा का पाठ पढ़ाया। दीक्षा लेते ही उसने यावज्जीवन अनशन व्रत ग्रहण किया और श्मशान भूमि में पहुँच गया। नंगे पैर चलने से पैरों से रक्त की धाराएँ बहने लगीं। एक रक्तपिपासु सियारनी कायोत्सर्गस्थ मुनि के पास पहुँची और क्रमशः प्रथम पहर में मुनि के पैर, दूसरे पहर में जंघा, तीसरे पहर में उदर और चौथे पहर में समूचे शरीर को खा गई। मुनिवर उत्तरोत्तर विशुद्ध भावों में आगे बढ़ते गए और वहाँ से कालधर्म प्राप्त कर नलिनीगुल्म विमान में देव बने। उनकी गृहस्थ-पक्षीया ३२ पत्नियों में से ३१ पत्नियों ने दीक्षा ग्रहण कर ली। आचार्य सुहस्ती ही इन सबके संयममार्ग के प्रेरक बने।

आर्य सुहस्ती का शिष्य-परिवार अत्यधिक विशाल था। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार उनके शिष्य स्थविरों से अनेक गण बने। स्थविर रोहण से उद्देहगण, स्थविर श्रीगुप्त से चारणगण, भद्र से उडुपाटितगण, ऋषिगुप्त से मानवगण, कामर्धि से वेशपाटिकगण तथा अन्य अनेक अवान्तरगण भी निकले। आर्य सुहस्ती के समय जैनधर्म का बहुत प्रचार, प्रसार और विकास हुआ। अवन्ति और सौराष्ट्र में जैनधर्म का प्रभाव बढ़ा। आर्य सुहस्ती ने ३० वर्ष की उम्र में दीक्षा ग्रहण की और ७० वर्ष की वय तक संयम की आराधना की। वीर निर्वाण सं. २९२ (विक्रम पूर्व १७८) में आपका अवन्ति में स्वर्गवास हुआ।

आर्य सुहस्ती तक एक मात्र आचार्य ही गण के अनुशासन की और शिक्षण की दोनों व्यवस्थाएँ सँभालते थे। परन्तु आचार्य सुहस्ती के पश्चात् गण की रक्षा

करने वाले को गणाचार्य तथा गण की शैक्षणिक व्यवस्था सँभालने वाले को वाचनाचार्य कहा जाने लगा। गणाचार्य परम्परा को गणधर वंश कहा गया। इस कारण युगप्रधान आचार्यों की परम्परा एक गण से ही सम्बन्धित नहीं रही। कई गणों में युगप्रधान प्रभावशाली साधक हुए।

कौशिक गोत्रीय आर्य बलिस्सह : ग्यारहवें पट्टधर

आचार्य बलिस्सह अपने युग के एक प्रभावशाली आचार्य थे। ये महागिरि आचार्य के आठ प्रमुख शिष्यों में से एक थे। इनका गोत्र काश्यप था। आर्य महागिरि के स्वर्गवासी होने के पश्चात् ये श्रुत-सम्पन्न होने के कारण वाचनाचार्य के रूप में नियुक्त हुए। आचार्य बलिस्सह के गण की प्रसिद्धि उत्तर बलिस्सह के नाम से है। आचार्य बलिस्सह के ज्येष्ठ गुरुभ्राता का नाम 'बहुल' था, उनका उपनाम 'उत्तर' था। अतः दोनों गुरुभ्राताओं के नाम पर गण का नाम उत्तर बलिस्सह पड़ा।[१७५] आचार्य देववाचक ने आचार्य बलिस्सह को वन्दन करते हुए कहा–

"तत्तो कोसियगोत्तं बहुलस्स सरिव्वयं वंदे।"[१७६]

हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार सम्राट् खाखेल ने कुमारगिरि पर्वत पर श्रमण-सम्मेलन का भव्य आयोजन किया था। उस सम्मेलन में आचार्य बलिस्सह समुपस्थित थे। उन्होंने विद्यानुप्रवाद पूर्व से अंगविद्या-जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार उत्तरबलिस्सह गण से चार शाखाएँ निकली हैं–(१) कौसम्बिका, (२) सूक्तिमती, (३) कोडवाणी, और (४) चन्दनागरी।[१७७] आचार्य बलिस्सह का काल वीर निर्वाण २४५ (विक्रम पूर्व २२५) माना जाता है।

हारित गोत्रीय आर्य स्वाति एवं आर्य श्याम : बारहवें-तेरहवें पट्टधर

आर्य स्वाति एवं आर्य श्याम दोनों हारित गोत्रीय थे। आर्य स्वाति आर्य बलिस्सह के शिष्य थे। आर्य श्याम आर्य स्वाति के शिष्य थे। जैन परम्परा में कालक नाम के चार आचार्य हुए हैं। उनमें प्रथम कालक-आचार्य श्यामाचार्य के नाम से विश्रुत हैं। श्यामाचार्य को ही देववाचकगणी ने वाचनाचार्य माना है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने श्यामाचार्य को आचार्य गुणाढ्य के पश्चात् युगप्रधान आचार्य माना है। आप अपने युग के द्रव्यानुयोग-व्याख्याता युगप्रधान एवं

महाप्रभावक आचार्य थे। आपका जन्म वीर निर्वाण सं. २८० (विक्रम पूर्व १९०) में हुआ। आपने वीर निर्वाण सं. ३०० (विक्रम पूर्व १७०) में आर्हती दीक्षा ग्रहण की। उस समय आप २० वर्ष के थे। **'रत्नसंचय प्रकरण'** के अनुसार–आपकी प्रकृष्ट प्रतिभा से प्रभावित होकर चतुर्विध संघ ने आपको वीर निर्वाण सं. ३३५ (विक्रम पूर्व १३५) में युगप्रधान आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किया।[१७८] आपने ४१ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य और वाचनाचार्य रहकर जिनशासन की प्रबल प्रभावना की।

द्रव्यानुयोग के विशिष्ट ज्ञाता श्यामाचार्य ने प्रज्ञापना-जैसे विशाल आगम की रचना की। उपांग-साहित्य में प्रज्ञापना का विशिष्ट स्थान है। इसमें विविध विषयों पर पृथक्-पृथक् ३६ पद हैं। और जीव, कर्म, भाषा, ज्ञान आदि पृथक्-पृथक् विषयों का व्यवस्थित ढंग से इसमें संयोजन किया गया है।[१७९] आचार्य श्याम की प्रज्ञा प्रखर एवं निर्मल थी, इस कारण प्रज्ञापनासूत्र को आगमों में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ।

'विचारश्रेणी' में उल्लेख है कि श्यामाचार्य निगोद के विशिष्ट व्याख्याकार थे। एक बार सौधर्मेन्द्र ने सीमन्धर स्वामी से निगोद विशिष्ट व्याख्या सुनी। इस पर उन्होंने सीमन्धर स्वामी से पूछा–"भगवन् ! क्या भरत क्षेत्र में भी निगोद के सम्बन्ध में इस प्रकार की व्याख्या करने वाला कोई आचार्य, उपाध्याय या श्रमण है ?" सीमन्धर स्वामी ने आचार्य श्याम का नाम प्रस्तुत किया। सौधर्मेन्द्र वृद्ध ब्राह्मण के वेश में आचार्य श्याम के पास आए। उन्होंने आचार्य का ज्ञान-बल जानने हेतु अपना हाल उनके सामने रखा।

आचार्य श्याम ने गम्भीर दृष्टि से उनकी ओर देखकर कहा–"तुम मानव नहीं, देव हो।" फिर सौधर्मेन्द्र ने निगोद के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की। आर्य श्याम से निगोद की सांगोपांग व्याख्या सुनकर सौधर्मेन्द्र ने कहा–"मैंने निगोद के सम्बन्ध में जैसा विवेचन सीमन्धर स्वामी से सुना, वैसा ही विवेचन आपसे सुनकर बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ।"

इन्द्र (सौधर्मेन्द्र) की रूप-सम्पदा को निहारकर कोई श्रमण निदान न कर ले, इस दृष्टि से भिक्षाचरी के लिए गये हुए मुनियों के आगमन से पूर्व ही सौधर्मेन्द्र श्यामाचार्य की प्रशंसा करते हुए जाने लगा। श्यामार्य ने कहा–"जरा रुक जाओ, शिष्यों को आने दो।" सौधर्मेन्द्र ने कहा–"मैं इस समय रुक नहीं सकता। आचार्य के निर्देश से सौधर्मेन्द्र ने उपाश्रय का द्वार पूर्वाभिमुख से

पश्चिमाभिमुख कर दिया। शिष्य भिक्षा लेकर लौटे तो द्वार को परिवर्तित देखकर विस्मित हुए। आचार्य से सौधर्मेन्द्र के आने की घटना सुनी।

प्रज्ञापनासूत्र के प्रारम्भ में आर्य श्याम की स्तुतिपरक दो गाथाओं में उन्हें वाचक वंश का तेईसवाँ पुरुष बताया है। किन्तु पट्टक्रमानुसार आचार्य श्याम तेरहवें पट्टधर आचार्य होते हैं। 'विचारश्रेणी' तथा टीकाकार ने **'वाचकाः पूर्वविदः'** अर्थात् वाचक का अर्थ पूर्वविद् करके गणधरों को भी वाचक मानकर गणधरों को सम्मिलित करके श्यामाचार्य को तेईसवाँ वाचक बताया है।[१८०] चूँकि गणधरों का मुख्य कार्य आगमों की वाचना देना था, इस दृष्टि से गणधरों को वाचक कहना मेरुतुंग आचार्य का कथन युक्तियुक्त है। निगोद-व्याख्याता श्यामाचार्य का शासनकाल ४१ वर्ष तक चलता रहा। जैनशासन की प्रबल प्रभावना कर वीर निर्वाण ३७६ (विक्रम पूर्व ९४) में ९६ वर्ष की उम्र में वे स्वर्गवासी हुए।

द्वितीय कालकाचार्य

द्वितीय कालकाचार्य भी इन्हीं श्यामार्य (कालकाचार्य) के समकालीन हुए हैं। वे धारानगरी के वैरसिंह राजा के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सुरसुन्दरी था। इनकी लघु बहन का नाम सरस्वती था। गुणाकर मुनि के पावन प्रवचन को सुनकर कालककुमार और सरस्वती ने प्रव्रज्या ग्रहण की। अजोड़ विद्वत्ता और प्रतिभा के कारण गुरु ने उन्हें आचार्यपद प्रदान किया।[१८१] उज्जयिनी को राजा गर्दभिल्ल साध्वी सरस्वती के अद्भुत सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया और राजपुरुषों द्वारा साध्वी सरस्वती का अपहरण कर लिया। आचार्य कालक, अमात्यगण, श्रावकसंघ तथा प्रजाजनों के समझाने पर भी वह साध्वी को अन्तःपुर से मुक्त करने को तैयार न हुआ तो आचार्य कालक ने सिन्धुतटवासी शक राजा को प्रभावित कर उसे सैन्य सहित लाकर गर्दभिल्ल पर आक्रमण किया। उसे जीवित पकड़कर आचार्य कालक के समक्ष प्रस्तुत किया और राज्यपद से च्युत करके साध्वी सरस्वती को भी मुक्त कराया। साध्वी सरस्वती और स्वयं ने प्रायश्चित्त लेकर पुनः दीक्षा ग्रहण की। अतीव प्रभावशाली व्यक्तित्त्व होने से संघ का नेतृत्व आचार्य कालक को पुनः सँभालना पड़ा। अन्य कई घटनाएँ इनसे सम्बन्धित हैं, पर यहाँ आवश्यक न होने से नहीं दी जा रही हैं।

कौशिक गोत्रीय आर्य षाण्डिल्य (शाण्डिल्य) : चौदहवें पट्टधर

माथुरी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आचार्य श्याम के पश्चात् आर्य षाण्डिल्य हुए हैं। ये काश्यप गोत्रीय थे। ये जीत-व्यवहार के प्रतिपालन में अत्यन्त जागरूक थे।[१८२] साण्डिल्यगच्छ का प्रारम्भ इन्हीं से हुआ था और वह गच्छ आगे चलकर चन्द्रगच्छ में सम्मिलित हो गया। आर्य षाण्डिल्य का जन्म वीर निर्वाण सं. ३०६ में हुआ और २२ वर्ष की उम्र में उन्होंने श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। ४८ वर्ष तक सामान्य श्रमण-पर्याय में रहे। वीर निर्वाण सं. ३७६ में आपको वाचनाचार्य और युगप्रधान आचार्य, ये दोनों पद प्रदान किये गए। आपने ३८ वर्ष तक युगप्रधान आचार्य पद पर रहकर जिनशासन की प्रबल प्रभावना की।

आर्य समुद्र एवं आर्य मंगू : पन्द्रहवें-सोलहवें पट्टधर आचार्य

हिमवन्त स्थविरावली और नन्दी स्थविरावली के अनुसार आचार्य षाण्डिल्य के उत्तराधिकारी आचार्य समुद्र थे। आचार्य देववाचक जी ने आपके लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आपको द्वीप, समुद्र आदि का विशिष्ट ज्ञान था। आपकी कीर्ति आसमुद्रान्त तक व्यापक थी तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी आप समुद्र के समान अक्षुब्ध एवं गम्भीर थे।[१८३]

वीर निर्वाण सं. ४१४ में आप वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए। ४० वर्ष तक आचार्यपद पर रहकर आप जैनधर्म की प्रबल प्रभावना करते रहे। वीर निर्वाण सं. ४५४ में आपका स्वर्गवास हुआ।

शीलांकाचार्य ने आचार्य समुद्र के जीवन का एक प्रसंग दिया है—जीवन की सान्ध्यबेला में आचार्यश्री का जंघा-बल क्षीण हो गया था, जिससे वे विहार न कर सके। एक स्थान पर ही अवस्थित रहे और अपनी शेष आयु वहीं पूर्ण की।[१८४]

आर्य समुद्र के जीवन का दूसरा प्रसंग 'निशीथचूर्णि' में मिलता है—वे आहार के विषय में बहुत अनासक्त थे। भिक्षा में जो भी आहार प्राप्त होता, उसे स्वाद की अपेक्षा किये बिना, सभी पदार्थों को एक साथ मिलाकर प्रशान्त भाव से उसका उपभोग कर लेते थे। उनके अन्तर्मानस में ये विचार-लहरियाँ सदा तरंगित होती रहतीं कि कहीं मैं रसों में आसक्त होकर नवीन कर्म न बाँध लूँ। इसलिए वे सदा अनासक्त रहते थे।[१८५]

आर्य मंगू आर्य समुद्र के शिष्य एवं उत्तराधिकारी थे। वीर निर्वाण सं. ४५४ में वे वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए। आप ज्ञानी, ध्यानी और सम्यक् दर्शन के प्रबल प्रचारक थे। आप अपने शिष्यों को कुशलतापूर्वक सूत्र और अर्थ की वाचना देते थे। जीवन के ऊषाकाल और मध्याह्नकाल में आप बहुत ही जागरूक साधक थे। इसीलिए आचार्य देववाचक ने आचार्य मंगू को वन्दन करते हुए लिखा है–"आचार्य मंगू आगम-अध्येता, आचार-कुशल, सूत्र और अर्थ का मानसिक चिन्तन करने वाले, परवादी-विजेता, प्रवचन-प्रभावक, ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुण-सम्पन्न श्रुत-समुद्र पारगामी एवं धृतिधर आचार्य थे।"

जीवन के सन्ध्याकाल में आचार्य मंगू अपनी साधना में शिथिल हो गए थे। निशीथ भाष्य और चूर्णि में उनके जीवन का एक प्रसंग है–एक बार आचार्य मंगू अपने शिष्यों के साथ मथुरा पधारे। वैराग्य से छलछलाते हुए प्रवचनों को सुनकर मथुरा-निवासियों के हृदय में धार्मिक भावनाएँ उद्‌बुद्ध हुईं। वे श्रद्धा-भक्तिवश उन्हें वस्त्र, पात्र तथा स्निग्ध, सरस, स्वादिष्ट आहार आदि प्रतिदिन प्रतिलाभित करने लगे। प्रतिदिन सरस, स्वादिष्ट आहार प्राप्त होने से रसलोलुपतावश आचार्य मंगू ने वहीं स्थिरवास रहने का विचार कर लिया। जो आचार्य एक दिन उग्र क्रियावादी थे, वे प्रमादी हो गए। सदोष आहार आसक्तिपूर्वक सेवन करने की उन्होंने आलोचना नहीं की। इस प्रकार प्रमादभाव में अनाराधक बनकर आयु पूर्ण करके वे यक्षयोनि में उत्पन्न हुए। ज्ञान के द्वारा उन्होंने अपना पूर्वभव जाना और सोचने लगे–'अहो ! मैंने जिह्वालोलुपतावश यह दुर्गति-दुर्योनि प्राप्त की है। जिनधर्म प्राप्त करके भी मैं साधना से भ्रष्ट हो गया।' चतुर्दशपूर्व का ज्ञाता भी यदि प्रमाद के अधीर हो जाए तो अनन्तकाल में उत्पन्न होता है। इस प्रकार वे "हाय ! मैंने कितना पाप कर लिया"–यों पापों के लिए पश्चात्ताप करने लगे।[१८६]

एक दिन यक्ष (मंगू के जीव) ने अपने शिष्यों को देखा और सोचा कि मेरी तरह इन शिष्यों की भी दुर्गति न हो जाए। अतः इन्हें प्रतिबुद्ध कर देना चाहिए। शिष्यों को प्रतिबुद्ध करने हेतु वह (यक्ष) अपनी जीभ बाहर निकालकर लपलपाने लगा। उसके इस विचित्र रूप को देखकर शिष्य मन ही मन सोचने लगे 'यह ऐसा विचित्र रूप बनाकर हमें कुछ कहना चाहता है।' अतएव उन्होंने कहा "देवानुप्रिय ! आप अपने असली स्वरूप को प्रकट करके स्पष्ट करें कि आप हमें क्या कहना चाहते हैं ?" यक्ष ने कहा–"हे तपस्वियो ! पूर्वभव में मैं तुम्हारा गुरु मंगू था।[१८७] जिह्वालोलुपतावश होने से मेरी यह दुर्गति हुई है कि

मैं यक्षयोनि में पैदा हुआ हूँ। अतः मैं तुमसे यह कहना चाहता हूँ कि तुम भूलकर भी जिह्वालोलुप मत बनना। चारित्र का सम्यक् पालन करना।'' सभी शिष्य यक्ष के द्वारा प्रतिबुद्ध हुए। उन्होंने कहा–''हम संयम-साधना में शिथिल नहीं होंगे। उत्कृष्ट संयम-साधना कर जीवन को पावन बनाएँगे।'' इस प्रकार मंगू आचार्य यक्षयोनि पाकर पश्चात्तापपूर्वक पाप-प्रक्षालन करके आत्म-शुद्धि की दिशा में आगे बढ़ने लगे।

आर्य धर्म एवं आर्य भद्रगुप्त : सत्रहवें-अठारहवें पट्टधर

आर्य धर्म मूर्तिमान् धर्म थे। ये आर्य सुधर्मा से लेकर आर्य धर्म सत्रहवें पट्ट पर आसीन हुए थे। आर्य धर्म के सम्बन्ध में विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता। इनके उत्तराधिकारी अठारहवें पट्ट पर आर्य भद्रगुप्त हुए।

आचार्य भद्रगुप्त दशपूर्वधर थे। वे ज्योतिष विद्या के प्रकाण्ड पण्डित थे। आचार्य वज्र स्वामी दशपूर्वों का विवेचन ज्ञान प्राप्त किया। आचार्य भद्रगुप्त का जन्म वीर निर्वाण सं. ४२८ में हुआ था। वीर निर्वाण सं. ४४९ में इक्कीस वर्ष की आयु में इन्होंने आर्हती दीक्षा ग्रहण की तथा वीर निर्वाण सं. ४९४ में वे युगप्रधान आचार्य के पद पर आसीन हुए। और ३९ वर्ष तक जिनशासन-सेवा करने के बाद वीर निर्वाण सं. ५३३ में आपका स्वर्गवास हुआ।

यहाँ यह स्मरण रखना है कि आचार्य भद्रगुप्त का काल आचार्य वज्र स्वामी से कुछ पहले का है। कालक्रम की दृष्टि से आचार्य समुद्र और आचार्य मंगू का काल द्वितीय कालकाचार्य से पहले का है; जबकि आचार्य भद्रगुप्त का काल द्वितीय कालकाचार्य के पश्चात् का है।

व्रतों में वज्रवत् सुदृढ़ आर्य वज्र स्वामी : उन्नीसवें पट्टधर

आचार्य वज्र स्वामी का जीवन अनेक विलक्षणताओं से सम्पन्न था। वे बाल्यकाल से ही श्रुतपारगामी एवं उत्कृष्ट चारित्र-सम्पन्न तथा संसार की मोहमाया से विरक्त थे।

अवन्ती देश के अन्तर्गत तुम्बवन नगर में आर्य वज्र का जन्म हुआ था। उनकी माता का नाम सुनन्दा था, पिता का नाम था- धनगिरि। सांसारिक विषयों के प्रति जलकमलवत् निर्लिप्त धनगिरि ने अनिच्छा से धनपाल श्रेष्ठी की पुत्री सुनन्दा से विवाह किया। पत्नी के गर्भवती होने के बाद धनगिरि ने उसकी सहमति लेकर युवावस्था में ही गृह त्यागकर आचार्य सिंहगिरि के समीप दीक्षा

ग्रहण की। सुनन्दा ने जब शिशु को जन्म दिया तो उसका जन्मोत्सव मनाते समय उसकी सखियों ने उसे घेर रखा था। सखियों ने कहा–"यदि इस शिशु के पिता धनगिरि जैन-श्रमण न बनते और यहाँ उपस्थित होते तो जन्मोत्सव का रूप कुछ और ही होता।" सखियों के परस्पर वार्त्तालाप को नवजात शिशु ने सुना तो उसका ध्यान उसी बात पर विशेष रूप से केन्द्रित हुआ। ऊहापोह करते-करते ज्ञानावरण-कर्म के क्षयोपशम होने से बालक को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया।[१८८] उसने चिन्तन किया कि मेरे पूज्य पिता और मामा (समित आर्य) ने संयम ग्रहण किया है तो मेरे लिए भी यही मार्ग श्रेष्ठ है। परन्तु संयम-पथ का पथिक बनने में मेरी माँ की ममता बाधक बनेगी। अतः माँ की ममता के गाढ़ बन्धन को शिथिल करने के लिए बालक ने रुदन करना प्रारम्भ किया। सदा रोते रहने से उसकी माँ न तो सुखपूर्वक सो सकती थी, न ही उठ-बैठ सकती थी और न भोजन कर सकती थी। बालक के रुदन को कम करने के लिए सुनन्दा ने बहुत प्रयत्न किये, परन्तु सब व्यर्थ हुए। छह महीने तक सतत रुदन के कारण सुनन्दा खिन्न हो गई।

एक दिन आचार्य सिंहगिरि तुम्बवन में पधारे। धनगिरि और समित मुनि भी उनके साथ थे। आर्य समित और धनगिरि भिक्षा के लिए जाने लगे तो सिंहगिरि आचार्य ने उनसे कहा–"पक्षी का स्वर मुझे शुभसूचक लगता है, इसलिए आज तुम्हें भिक्षा में सचित्त, अचित्त जो भी प्राप्त हो, ले आना।" धनगिरि और समित आर्य ने गुरु का आदेश शिरोधार्य करके चल पड़े सुनन्दा के घर की ओर। वहाँ पहुँचे तो शिशु के अनवरत रुदन से परेशान सुनन्दा ने दोनों को वन्दन करके धनगिरि मुनि से निवेदन किया–"पुत्र के सतत रुदन ने मुझे खिन्न कर दिया है। संतान की सुरक्षा का भार माता-पिता दोनों पर होता है। इतने दिन इसका लालन-पालन मैंने किया है, अब आप इसे सँभालें।" धनगिरि ने सोचकर कहा–"तुम अगर सहर्ष इसे देती हो तो मैं स्वीकार करूँगा, किन्तु भविष्य में तुम इसे वापस न ले सकोगी, न ही कोई आपत्ति उठाओगी, सोच लो।" सुनन्दा ने कहा–"आर्य समित और ये मेरी सखियाँ इस बात की साक्षी हैं, मैं भविष्य में अपने पुत्र को लेने के लिए कोई प्रश्न उपस्थित नहीं करूँगी।"[१८९] सुनन्दा के अत्याग्रह से छह मास के उक्त बालक को धनगिरि ने अपनी झोली में ग्रहण कर लिया। धनगिरि के पास आते ही अपना उद्देश्य सफल हुआ देख बालक ने रोना बंद कर दिया। धनगिरि बालक को झोली में लेकर गुरु के पास पहुँचे।

आचार्य सिंहगिरि ने झोली अपने हाथ में ली तो बहुत ही भारी लगी। उन्होंने कहा–"यह वज्रसम क्या उठा लाये हो?" खोलकर देखा तो सौम्य वदन, तेजस्वी भाल और चमकते हुए दिव्य नेत्र देखकर आचार्यश्री को लगा–"यह बालक धर्म की अपूर्व प्रभावना करेगा।" आचार्यश्री के मुख से निकले हुए 'वज्र' शब्द के कारण शिशु का नाम 'वज्र स्वामी' रख दिया। आचार्यश्री ने साध्वियों के उपाश्रय की शय्यातर महिला को वज्र के लालन-पालन का भार सौंप दिया। संघ की धरोहर समझकर वह महिला श्राविका माँ की तरह उसका लालन-पालन करने लगी। बालक वज्र का अधिकांश समय पालिका माता के साथ श्रमणियों के पास ही व्यतीत होता था, इसलिए उनके मुख से स्वाध्याय सुनते-सुनते उसे ग्यारह अंगों का ज्ञान कण्ठस्थ हो गया।[१९०]

यदा-कदा सुनन्दा उपाश्रय में साध्वियों के दर्शनार्थ आती तो अपने प्रिय पुत्र को मुस्कराते देख उसकी ममता जाग उठती। उसने अपने पुत्र को ले जाने के लिए निवेदन किया तो साध्वियाँ तथा पालिका श्राविका ने कहा–"तुम इसे गुरुदेव को दे चुकी हो। गुरुदेव के आदेश के बिना हम तुम्हें इसे नहीं दे सकतीं।" पुनः आचार्य सिंहगिरि जब तुम्बवन में पधारे तो सुनन्दा ने मुनि धनगिरि से पुत्र की माँग की। धनगिरि मुनि ने कहा–"तुमने आर्य समित और अपनी सखियों की साक्षी से पुत्रदान दिया, अब उस पर तुम्हारा नहीं गुरु का अधिकार है।" सुनन्दा ने राजदरबार में न्याय की माँग की। राजा ने मुनि-संघ को आमंत्रित किया। दोनों ही पक्षों की बात सुनकर घोषणा की–"यह बालक अपनी इच्छा से जिसके पास जाना चाहे, उसी का है।" राजा ने पहला अवसर माँ को दिया। उसने खिलौने, मिठाई आदि आकर्षण की वस्तुएँ बालक को दिखाईं, पर बालक कथमपि सुनन्दा की ओर आकर्षित न हुआ। फिर धनगिरि मुनि ने बालक के सामने रजोहरण रखकर कहा–"वत्स ! तू तत्त्वज्ञ है। कर्मरज को हरण करने के लिए यह रजोहरण तेरे सामने है।" बालक ने प्रसन्न मन से उछलकर रजोहरण हाथ में ले लिया। राजा ने न्याय दिया–"बालक मुनि-संघ का है।" इस न्याय के बाद सुनन्दा ने सोचा–'मेरे पति और सहोदर भाई श्रमण हैं और पुत्र भी श्रमण बनने के लिए ललक रहा है। अतः अब मुझे भी गृहस्थ-जीवन में रहकर क्या करना है ? उसने भी आचार्य सिंहगिरि के पास ही दीक्षा ग्रहण कर ली और साध्वी-संघ में मिल गई।[१९१]

वीर निर्वाण ५०४ (विक्रम सं. ३४) में बालक वज्र ने ८ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की। बालक वज्र मुनि साध्वाचार-संहिता के प्रति पूर्ण निष्ठावान् थे।

इसीलिए नन्दी स्थविरावली में कहा गया है–"तव-नियम-गुणेहिं वइरसमं।" अर्थात् तप, नियम आदि गुणों से सम्पन्न वज्र के समान सुदृढ़ आचार्य वज्र स्वामी को वन्दन करता हूँ। उनके इन गुणों की कई बार कसौटी हुई, उसमें वह पूर्णतया उत्तीर्ण हुई। एक बार आचार्य सिंहगिरि वज्र मुनि आदि के साथ विहार करते हुए किसी पर्वत की तलहटी में पहुँचे, तभी घनघोर वर्षा शुरू हो गई। वर्षा से बचने के लिए वे गिरि-गुफाओं में प्रविष्ट हुए। तभी वज्र मुनि के पूर्वभव के मित्र जृम्भकदेव ने वैक्रिय-शक्ति से वहाँ पटमण्डप बना दिया और आहार बनाया। वज्र मुनि को आहार लेने के लिए भेजने की देव ने एक श्रेष्ठी के रूप में आकर विनती की। वज्र मुनि वर्षा बन्द होने पर वे पहुँचे तो उपयोग लगाकर देखा कि वह आहार देवपिण्ड है, आधाकर्मी-दोषयुक्त है। अतः ग्रहण नहीं किया। एक बार ग्रीष्म ऋतु में भिक्षा के लिए घूम रहे थे। जृम्भकदेव ने मानव रूप बनाकर भवन में पधारने और आहार लेने की प्रार्थना की। किन्तु भवन में प्रविष्ट होते ही देव ने मिठाई से भरा थाल प्रस्तुत किया। मगर वज्र मुनि ने देवभिक्षु समझकर ग्रहण नहीं किया। देव ने वज्र मुनि की जागरूकता को देखकर प्रसन्न होकर गगनगामिनी विद्या प्रदान की।

वज्र मुनि श्रुत सम्पदा के धनी थे। उन्हें पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त हो गई थी जिससे वे एक पद सुनकर उससे सम्बन्धित सौ पद का स्मरण कर लेते थे। एक बार आचार्य सिंहगिरि शौचार्थ बाहर गये हुए थे। उपाश्रय में एकाकी वज्र मुनि ही थे। उन्हें आगम-वाचना देने की भावना जागी। श्रमणों के उपकरणों को प्रतीक रूप में श्रमण मानकर रखे और वाचना देना प्रारम्भ किया। आगम-वाचना देने में इतने तल्लीन हो गए कि उन्हें समय का ध्यान नहीं रहा। आचार्यश्री के आगम की गाथाओं के अर्थ सुने तो वे भाव-विभोर हो गए कि कितनी स्पष्ट व्याख्या और विवेचन है। आर्य वज्र की ज्ञान-गरिमा देखकर वे प्रसन्न हुए। आर्य सिंहगिरि के विहार करने के बाद आगमपाठी मुनियों को वाचना का कार्य वज्र मुनि ने सँभाला।

प्रतिभा के धनी, आर्य वज्र का पूर्वों को विशेष अध्ययन करने हेतु सिंहगिरि आचार्य ने आचार्य भद्रगुप्त के पास भेजा। आर्य वज्र को पाकर वयोवृद्ध आचार्य भद्रगुप्त को प्रसन्नता हुई। उन्होंने वज्र मुनि को दशपूर्वों तक का अध्ययन कराया। अध्ययन पूर्ण करके ये पुनः आचार्य सिंहगिरि के पास पहुँचे।

सिंहगिरि ने भी अपने जीवन का सन्ध्याकाल जानकर वीर निर्वाण सं. ५४८ (विक्रम सं. ७८) में आर्य वज्र मुनि को आचार्यपद पर नियुक्त किया।[१९२] आचार्य वज्र स्वामी कुशलतापूर्वक संघ का नेतृत्व करते हुए ५०० श्रमणों के साथ भारत के विभिन्न अंचलों में विचरण करने लगे।[१९३]

एक बार आचार्य वज्र स्वामी पाटलिपुत्र पधारे। वहाँ के राजा ने उनका भव्य स्वागत और अभिवन्दन किया। पाटलिपुत्र की जनता उनके पावन प्रवचन सुनकर बहुत ही प्रभावित हुई। क्षीरास्रव-लब्धि और रूपपरावर्तन-लब्धि के धारक वज्र स्वामी के रूप और गुणों की प्रशंसा चारों ओर फैल रही थी। वहाँ के विपुल धन-सम्पन्न धनश्रेष्ठी की रूपवती कन्या रुक्मिणी ने मन ही मन प्रतिज्ञा ले ली कि मैं वज्र स्वामी के साथ ही पाणिग्रहण करूँगी, अन्यथा मैं अग्नि-ज्वाला की शरण ग्रहण करूँगी। पुत्री की चिन्ता से व्यथित धनश्रेष्ठी शतकोटि सम्पत्ति और पुत्री रुक्मिणी को साथ में लाकर आचार्य वज्र स्वामी के पास पहुँचे और उन्हें शतकोटि धन लेकर अपनी रूपवती पुत्री को स्वीकार करने की प्रार्थना की। किन्तु आचार्य वज्र स्वामी किसी भी मूल्य पर इस प्रलोभन के आगे नहीं झुके। प्रत्युत धनश्रेष्ठी को कामभोगों से होने वाले महाविनाश का स्वरूप समझाया। धनश्रेष्ठी को समझाया कि यदि तुम्हारी पुत्री मुझ पर अनुरक्त है तो वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र से युक्त श्रमणधर्म का स्वीकार करके मेरा अनुसरण करे।[१९४] आचार्य वज्र स्वामी के उपदेश से प्रभावित होकर रुक्मिणी ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की।

आचार्य वज्र स्वामी ने आचारांगसूत्र के महापरिज्ञा अध्ययन से गगनगामिनी विद्या प्राप्त की थी।[१९५] एक बार वे पूर्व भारत से विहार करके उत्तर भारत में पधारे। उस समय वहाँ भयंकर दुष्काल होने से जनता क्षुधा से पीड़ित थी। उस समय उन्होंने अपनी विद्या के बल पर एक विशाल चद्दर बिछा दी और शय्यातर सहित सारे संघ को उस चद्दर पर बिठाकर उत्तर भारत की महापुरी नगरी में लाए। वहाँ पर भी राजनैतिक संकट उपस्थित होने से वे संघ को आकाशमार्ग से माहेश्वरी उद्यान में ले गये। वहाँ सबने पर्युषण पर्व की सम्यक् आराधना की। उस अवसर पर हजारों लोगों ने जैनधर्म स्वीकार किया।

इस प्रकार धर्मशासन की प्रभावना करते हुए वे दक्षिणांचल में पधारे।[१९६] वहाँ एक बार कफज व्याधि की शान्ति के लिए लाया हुआ सौंठ का टुकड़ा वापस देना भूल जाने से उन्हें अपनी स्मृति क्षीणता का भान तथा आयुष्य की

अल्पता का ज्ञान हुआ। साथ ही ज्ञान-बल से यह भी जाना कि भविष्य में भयंकर दुष्काल पड़ने वाला है। अतः उन्होंने अपने शिष्य वज्रसेन को आदेश दिया कि वे ५०० शिष्यों के साथ सोपारक देश की ओर जायें और सुभिक्ष न हो जाये तब तक उसी क्षेत्र में विचरण करें। उन्होंने उसी प्रकार किया। आर्य वज्र स्वामी जिस क्षेत्र में विचर रहे थे, वहाँ अनशनपूर्वक उन सबने समाधिमरण प्राप्त किया। इस प्रकार वज्र स्वामी ने वीर निर्वाण सं. ५८४ में स्वर्गारोहण किया। वज्र स्वामी ८ वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे। ८० वर्ष तक संयम का पालन किया। ३६ वर्ष तक युगप्रधान आचार्य के रूप में रहे। इस प्रकार उनकी कुल आयु ८८ वर्ष की हुई। वज्र स्वामी के स्वर्गवास के पश्चात् दश पूर्व और चतुर्थ अर्ध-नाराच-संहनन का विच्छेद हो गया।[१९७] आर्य वज्रस्वामी के नाम पर वाज्रीशाख का प्रादुर्भाव हुआ।

अनुयोगरक्षक आर्यरक्षित : बीसवें पट्टधर

युगप्रधान आचार्यों की परम्परा में आर्यरक्षित का विशिष्ट स्थान है। मध्य प्रदेश के अन्तर्गत दशपुर (वर्तमान में मन्दसौर) नगर में वीर निर्वाण सं. ५२२ (विक्रम सं. ५२) में उनका जन्म हुआ। उनके पिता का नाम सोमदेव और माता का नाम रुद्रसोमा था, जो जैन श्राविका, उदार हृदया और अतिमधुरभाषिणी थी। पिता सोमदेव राजपुरोहित और कलाविद् भी थे। आर्यरक्षित के छोटे भाई का नाम फल्गुरक्षित था। दोनों ही पुत्र मेधावी थे।[१९८] उन्होंने वेदों का सांगोपांग अध्ययन किया था। किन्तु आर्यरक्षित का जिज्ञासु मन विशेष अध्ययन करने के लिए ललक रहा था। अतः पिता की अनुमति लेकर अध्ययन हेतु पाटलिपुत्र पहुँचे। अल्प समय में ही अध्ययन करके दशपुर लौटे। राजपुरोहित होने से दशपुर-नरेश ने तथा नागरिकों ने आर्यरक्षित का अभिवादन एवं विशिष्ट सम्मान किया। सभी के द्वारा सम्मान प्राप्त कर आर्यरक्षित माता रुद्रसोमा के पास पहुँचा। किन्तु माता ने सामायिक में होने से उसे बधाई और आशीर्वाद नहीं दिया। माँ का आशीर्वाद न मिलने से आर्यरक्षित के चेहरे पर उदासी छा गई।[१९९] उन्होंने माता से इसका कारण पूछा तो उसने कहा–"वत्स ! तूने वर्षों तक लौकिक शास्त्रों का अध्ययन किया है, पर जिस अध्ययन से आत्मबोध न हो, वह अध्ययन जीवन के लिए सार्थक नहीं है। मैं चाहती हूँ कि तू लोकोत्तर शास्त्र–'दृष्टिवाद' का अध्ययन कर।" आर्यरक्षित ने माँ से पूछा–"माताजी ! दृष्टिवाद का अध्ययन कराने वाला कौन प्राध्यापक है?" रुद्रसोमा बोली–

"वत्स ! इक्षुवाटिका में आर्य तोसलिपुत्र विराजमान हैं, वे दृष्टिवाद के ज्ञाता हैं। तुम उनके पास जाकर दत्तचित्त होकर अध्ययन करो।"

माँ का आशीर्वाद लेकर आर्यरक्षित दूसरे दिन प्रातःकाल ही इक्षुवाटिका की ओर चल पड़ा। मार्ग में उन्हें अपने पिता के मित्र वृद्ध ब्राह्मण नौ पूर्ण और आधा इक्षु लिए हुए मिला। आर्यरक्षित को उसने आशीर्वाद दिया। आर्यरक्षित ने इक्षुदण्ड देखकर अनुमान लगाया कि मैं सार्ध नौ पूर्वों का अध्ययन कर सकूँगा।[२००]

इक्षुवाटिका में पहुँचकर ढड्ढर नामक श्रावक को आचार्य को वन्दन करते देख उसी विधि से आर्यरक्षित ने आचार्य तोषलिपुत्र को वन्दन किया और अपने आने का प्रयोजन बताया। आचार्य ने कहा–"दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए तुम्हें श्रमण बनना आवश्यक है।" आर्यरक्षित ने सहर्ष स्वीकृति दे दी। अतः आचार्य तोषलिपुत्र ने वीर निर्वाण सं. ५४४ (विक्रम सं. ७४) में आर्यरक्षित को श्रमण-दीक्षा दी और वहाँ से अन्यत्र विहार कर दिया। आचार्य तोषलिपुत्र ने अपना सारा ज्ञान विनीत आर्यरक्षित को सहर्ष प्रदान कर दिया।[२०१] विशेष अध्ययन के लिए उन्होंने आर्यरक्षित को आर्य वज्र स्वामी के पास जाने का निर्देश दिया।[२०२] आर्यरक्षित ने वहाँ से प्रस्थान किया और रास्ते में अवन्तीनगरी में विराजित वज्र स्वामी के विद्यागुरु आचार्य भद्रगुप्त के दर्शनार्थ पहुँचे। उनसे जब वज्र स्वामी के पास अध्ययनार्थ जाने का जिक्र किया तो आचार्य भद्रगुप्त ने कहा–"तुम्हारी भावना प्रशंसनीय है। पर इस समय मेरा अन्तिम समय निकट होने से तुम मुझे संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण में सहयोग दो।" आर्यरक्षित ने प्रसन्न मन से दत्तचित्त होकर उनकी सेवा की, जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने आशीर्वाद दिया। इस प्रकार आचार्य भद्रगुप्त के स्वर्गवास होने पर आर्यरक्षित ने विहार किया और आचार्य भद्रगुप्त के परामर्शानुसार अपने आहार, शमनादि की व्यवस्था अलग की।

आर्य वज्र स्वामी को आर्यरक्षित के अध्ययनार्थ आने का पता चल गया। अतः आर्यरक्षित के पहुँचने पर उन्होंने उसे दृष्टिवाद पढ़ाना प्रारम्भ किया। आर्य रक्षित की बुद्धि तीक्ष्ण होने से अध्ययन द्रुतगति से चल रहा था। इसी बीच उनके संसार-पक्षीय माता-पिता का सन्देश लेकर उनका छोटा भाई फल्गुरक्षित आया और कहा–"माता-पिता आपके दर्शन के लिए तरस रहे हैं, अतः शीघ्र ही दर्शन देने पधारो।" आर्यरक्षित ने अनासक्तभाव से सुना और फल्गुरक्षित से कहा–"भाई ! यह सब मोह का नाटक है। जिसके कारण सारा संसार

दुःखी हो रहा है। तू भी मोह को छोड़कर अपना जीवन संयम-साधना में लगा। प्रबुद्ध होकर फल्गुरक्षित ने भी आर्यरक्षित के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। किन्तु फल्गुरक्षित बार-बार आर्यरक्षित को माता-पिता के दर्शन देने की याद दिलाता। किन्तु आचार्य वज्र स्वामी से उन्होंने अध्ययन के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा– "अभी तो सरसों के एक दाने जितना पढ़ा है, मेरुगिरि जितना पढ़ना बाकी है। जब नौ पूर्वों का अध्ययन पूर्ण कर लिया और दशवें पूर्व का आधा अध्ययन पूर्ण हो गया, तब आर्यरक्षित ने आर्य वज्र स्वामी से माता-पिता को दर्शन देने हेतु दशपुर जाने की आज्ञा माँगी। आर्य वज्र स्वामी गम्भीर हो गये और ज्ञान-बल से अपना आयुष्य कम है, पुनः मिलन नहीं हो सकेगा। दशवें पूर्व का ज्ञान मेरे साथ ही विच्छिन्न हो जायेगा।" अतः अनिच्छा से उन्होंने आज्ञा प्रदान की, अपने व्यवहार के लिए क्षमा माँगी। आर्यरक्षित और फल्गुरक्षित दोनों वज्र स्वामी को वन्दन कर पहले दीक्षा-प्रदाता आचार्य तोसलिपुत्र के पास पाटलिपुत्र पहुँचे। आचार्यश्री ने आर्यरक्षित को योग्य समझकर आचार्यपद प्रदान किया। आर्यरक्षित आचार्य बनकर दशपुर पहुँचे।[२०३]

जब फल्गुरक्षित मुनि के साथ आचार्य आर्यरक्षित ने बिना किसी आडम्बर के घर में प्रवेश किया। इस पर पिता सोमदेव ने कहा– "यह अच्छा नहीं किया। एक नये उत्सव के साथ मैं नगर में प्रवेश कराना चाहता था; दूसरे, तुम्हें श्रमण-वेश का त्यागकर गृहस्थाश्रम का वेश पहनकर विवाहादि करना चाहिए था। तो हम दोनों की आत्मा को सन्तोष होगा।" आचार्य आर्यरक्षित ने कहा– "इन सांसारिक सम्बन्धों से लाख गुना बेहतर है धार्मिक सम्बन्ध। उसी से उभय जीवन सफल हो सकेंगे। यदि आपका हार्दिक प्रेम हम पर है तो श्रमण बनकर हमारे साथ गुरुचरणों में चलिए।" पिता सोमदेव ने दीक्षा ग्रहण करना स्वीकार किया। परन्तु उन्होंने कहा–"मैं छत्र, जनेऊ, कोपीन और पादुका रखूँगा।" आर्यरक्षित ने यह सोचकर छूट दे दी कि कुछ दिनों बाद ये वस्तुएँ अपने आप छूट जायेंगी। ये चारों चीजें सोमदेव मुनि के शरीर पर रहीं, तब तक बालकों आदि ने अन्य साधुओं को तो वन्दन किया, किन्तु सोमदेव मुनि को नहीं करते थे, यह कहकर कि यह जैन-श्रमण के वेश में नहीं हैं। सोमदेव मुनि ने इसे अपना अपमान समझा और स्वयं उन्होंने अपने हाथों ये चारों चीजें क्रमशः उतारकर रख दीं। स्वयं उन चीजों का त्याग करके जब जैन-श्रमणोचित वेश में हो गये, तब सभी जैन श्रावक वर्ग उन्हें वन्दन करने लगा। अब सोमदेव मुनि संयममार्ग में तथा मुनि-साधना में स्थिर हो गये।

विशेष ज्ञातव्य

(१) आर्यरक्षित के पूर्व श्रमण एक पात्र रखते थे, परन्तु युग-परिवर्तन के साथ आर्यरक्षित ने चातुर्मास में दो पात्र रखने की नई परम्परा प्रचलित की।[२०४] दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि उनसे पहले आगमों का अध्ययन नयों और चारों अनुयोगों के साथ होता था, किन्तु आगम अध्ययन की यह व्यवस्था बहुत ही जटिल और कठिन थी। आचार्यश्री ने उस पर गहन चिन्तन किया और आगमाध्ययन व्यवस्था को सरल बनाने के लिए आगमों को द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग और धर्मकथानुयोग इन चार अनुयोगों में विभक्त किये।[२०५]

इस विभक्तिकरण के कारण जिन पापों से जो अनुयोग स्पष्टतः प्रतिभासित होता था, उस प्रधान अनुयोग को रखकर शेष अन्य गौण अर्थों का प्रचलन बन्द कर दिया। जैसे–ग्यारह अंगों, महाकल्पसूत्र और छेदसूत्रों का चरणकरणानुयोग में, ऋषिभाषितों, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा आदि का धर्मकथानुयोग में, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि का गणितानुयोग में और दृष्टिवाद का द्रव्यानुयोग में समावेश किया गया। इसके पश्चात् नयावतार अनावश्यक हो गया।[२०६]

(२) इतिहासकारों के मतानुसार यह आगम-वाचना वीर निर्वाण सं. ५९२ के लगभग हुई। इस आगम-वाचना में आर्य नन्दिल, गणाचार्य वज्रसेन तथा युगप्रधानाचार्य आर्यरक्षित आदि उपस्थित थे। आगम-वाचना की दिशा में यह एक शैक्षणिक क्रान्ति थी। आर्यरक्षित के तेजस्वी व्यक्तित्त्व के अत्यधिक प्रभाव के कारण उनके द्वारा की गई यह अनुयोग-व्यवस्था श्रीसंघ ने निर्विरोध स्वीकार की।[२०७]

(३) आर्यरक्षित के अनेक शिष्य थे, उनमें से तीन शिष्य–दुर्बलिकापुष्यमित्र, घृतपुष्यमित्र एवं वस्त्रपुष्यमित्र, विशिष्ट लब्धि-सम्पन्न थे।[२०८]

(४) आर्यरक्षित का विहार-क्षेत्र अवन्ति, मथुरा और दशपुर के आसपास था। उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाएँ इन नगरों से सम्बन्धित हैं। उन्होंने १३ वर्ष तक युगप्रधान आचार्यपद पर रहकर जैनधर्म की महती प्रभावना की।

(५) आपकी आयु के सम्बन्ध में इतिहासविज्ञों में दो मतभेद हैं। कितने ही विज्ञ उनकी आयु ७५ वर्ष की और कितने ही ९५ वर्ष की मानते हैं। ९५

वर्ष की आयु मानने वालों के अनुसार आर्यरक्षित का जन्म वीर निर्वाण सं. ५०२ (विक्रम सं. ३२) में सिद्ध होता है। ७५ वर्ष की आयु की मान्यता वालों के अनुसार उनका जन्म वीर निर्वाण सं. ५२२ में तथा वीर निर्वाण सं. ५४४ में २२ वर्ष की वय में दीक्षा-ग्रहण और वीर निर्वाण सं. ५८४ में युगप्रधान आचार्य-पदारूढ़ होना तथा ७५ वर्ष की सर्व आयु पूर्ण कर वीर निर्वाण सं. ५९७ में स्वर्गवासी होना सिद्ध होता है।

जो भी हो, आर्यरक्षित स्थितिपालक नहीं थे। वे स्वस्थ परम्परा के पोषक थे। क्रान्तिकारी सिद्धान्त-सम्मत विचारों के वे प्रबल समर्थक भी थे। उन्होंने कतिपय पुरातन परम्पराओं को नया मोड़ दिया और जनमानस की आस्थाओं को टिकाने का पुरुषार्थ किया।

आर्य नन्दिल क्षपण, नागहस्ती, रेवतीनक्षत्र एवं आर्य सिंह : इक्कीसवें से चौबीसवें पट्टधर तक

आर्य नन्दिल (आर्य आनन्दिल) क्षपण सदैव ज्ञान, दर्शन, तप, विनय और चारित्र के पालन में प्रतिक्षण प्रमादरहित होकर सदा उद्यत (तत्पर) रहते थे। राग-द्वेष अतीव मन्द होने से वे प्रसन्नचित्त समाहित मन्न रहते थे। जो मुनि निश्चयपूर्वक व्यवहार धर्म में उद्यमशील होते हैं, उन्हीं के मन में सदैव प्रसन्नता रहती है। अर्थार्थी को तीन लोक में सुदुर्लभ चिन्तामणि रत्न मिलने से अतीव प्रसन्न हो जाता है, वैसे ही संयम-नियमरूप चारित्र रत्न मिलने पर कौन प्रसन्नता से ओतप्रोत नहीं होता? नन्दिल श्रमण ऐसे क्षपण और गुणों से सम्पन्न थे। पिछली आगम-वाचना आर्यरक्षित के साथ आर्य क्षपण भी आगम-वाचना उपस्थित थे।[२०९]

आर्य नागहस्ती उस युग के अनुयोगधरों में धुरन्धर विद्वान् थे। उनका यशस्वी वाचक वंश मूर्तिमान यशो वंश की भाँति वृद्धि को प्राप्त हो, ऐसा कहकर देववाचक जी ने अपनी मनोमंगल भावना प्रकट की है। सम्भव है, वाचक वंश का उद्भव आर्य नागहस्ती से ही हुआ हो। वाचक वह होता है, जो जिज्ञासुओं और शिष्यों को शास्त्राध्ययन कराते हैं। वाचक वैसे उपाध्याय पद का भी प्रतीक है। आर्य नागहस्ती आचार्य (आनन्दिल) नन्दिल क्षपण के पट्टधर शिष्य थे ये व्याकरण (संस्कृत प्राकृत व्याकरण) तथा प्रश्नव्याकरण आदि विषयों और भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे तथा पिण्डविशुद्धि, भावना, समिति, भिक्षु-प्रतिमाएँ, इन्द्रिय-निरोध, प्रतिलेखन, गुप्ति और अभिग्रह, इन सबके समूह

रूप 'करण' के अप्रतिम विद्वान् थे तथा इनके साधक और आराधक भी थे। इसी प्रकार सप्तभंगी, प्रमाणभंगी, नयभंगी, गांगेय अनगार के भंगसमूह तथा अन्य जितने भी प्रकार के भंग (स्याद्वाद शैली के विकल्प) हैं, उन सबमें वाचक नागहस्ती की गति थी। कर्म-प्रकृतियों के भी वे विशेषज्ञ थे। अपने समुज्ज्वल चारित्र और विद्वत्ता से आर्य नागहस्ती वाचक और आचार्य बने।[२१०]

इसके पश्चात् २३वें पट्टधर आचार्य रेवतीनक्षत्र हैं, जो आचार्य नागहस्ती के शिष्य थे। आचार्य रेवतीनक्षत्र जाति-सम्पन्न होने पर भी इनके शरीर की दीप्ति अंजनधातु के सदृश थी। अंजन आँखों में ठण्डक पैदा करता है तथा चक्षुरोग भी मिटाता है, तथैव इनके दर्शनों से भव्य जीवों के नेत्रों को शीतलता प्राप्त होती है। इसी प्रकार इनके देह की कान्ति परिपक्व द्राक्षाफल तथा नीलोत्पल कमल अथवा नीलमणि (कुवलय) विशेष के वर्ण के सदृश कमनीय थी। सम्भव है, इनका जन्म रेवतीनक्षत्र में हुआ हो, इस कारण इनका नाम रेवतीनक्षत्र रखा गया हो। मुनि कल्याणविजय जी ने इन्हें रेवतीमित्र बताया है। आचार्य देववाचक जी ने इनको भी वाचक वंश का मानकर वाचक वंश की वृद्धि की कामना की है।[२११]

तदनन्तर २४वें पट्टधर सिंहाचार्य हैं, जो आर्य रेवतीनक्षत्र के शिष्य थे। ये ब्रह्मद्वीपक शाखा से उपलक्षित थे। ये उस समय में प्रसिद्ध नगर 'अचलपुर' से दीक्षित हुए थे। दीक्षित होने के बाद इन्होंने कालिक शास्त्रों (श्रुतों) का गहन अध्ययन किया और इसीलिए कालिकश्रुतों की व्याख्या करने में निष्णात थे। उस समय के अन्य वाचकों (आचार्यों = वाचनाचार्यों) से ये बढ़कर थे, उत्तम वाचक थे। आचार्य सिंह बुद्धिमान और धैर्यवान थे, इस कारण श्रीसंघ में सुशोभित थे। इन्हीं का दूसरा नाम आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह (नन्दीसूत्र के अनुसार) था। जैनकालगणना के अनुसार इन्हें ब्रह्मद्वीपिका शाखा के स्थविर 'सिंहरथ' भी कहा गया है। कई विज्ञ इन्हें ब्रह्मदीपकसिंह भी लिखते हैं।[२१२]

आचार्य स्कन्दिल, आचार्य हिमवन्त एवं आचार्य नागार्जुन : पच्चीसवें से सत्ताईसवें पट्टधर

वीर निर्वाण संवत् और जैनकालगणना के अनुसार आचार्य स्कन्दिल का जन्म मथुरा के ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम मेघरथ और माता का नाम रूपसेना था। मेघरथ और रूपसेना दोनों धर्मोपासना करने वाले,

जिनाज्ञा-प्रतिपालक श्रावक थे। गृहस्थ जीवन में आचार्य स्कन्दिल का नाम सोमरथ था।[२१३]

नीलोत्पल की भाँति श्यामवर्ण वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र के विद्वान् शिष्य ब्रह्मदीपकसिंह आचार्य स्कन्दिल के गुरु थे। प्रभावक चरित्र के अनुसार आचार्य स्कन्दिल विद्याधरी आम्नाय के आचार्य पादलिप्तसूरि की परम्परा के थे। जैनशासनरूपी नन्दनवन में कल्पवृक्ष के समान, समग्र श्रुतानुयोग को अंकुरित करने में आचार्य स्कन्दिल महामेघ सम बने। उनके लिए कहा गया– **"चिन्तामणिरिवेष्टदः।"** अर्थात् वे (संघ पर विपत्ति के समय) चिन्तामणि के समान इष्ट वस्तु के प्रदाता बने।

अगाध ज्ञान के धनी, वाचक वंश परम्परा के प्रभावक आचार्य स्कन्दिल एवं आचार्य नागार्जुन वाचनाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये अनुयोगधर आचार्य थे।[२१४]

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् अब तक चार वाचनाओं का उल्लेख मिलता है। प्रथम वाचना पाटलिपुत्र आचार्य भद्रबाहु की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई थी। उस समय दुष्काल के प्रभाव से श्रुतधर मुनियों की क्षति होने पर भी श्रुत की धारा सर्वथा विच्छिन्न नहीं हुई थी। उसके बाद वीर निर्वाण की नौवीं शताब्दी में द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण श्रुत विनाश का महान् आघात जैनशासन को लगा। इस द्वादशवर्षीय दुष्काल के प्रभाव से अनेक श्रुतधर मुनि वैभारगिरि तथा कुमारगिरि पर्वत पर अनशनपूर्वक स्वर्गस्थ हो चुके थे। इस अवसर पर आगमश्रुत की महती क्षति हुई। अनेक श्रुत-सम्पन्न मुनि काल के गाल में समा गये। सूत्रार्थग्रहण एवं उनके परावर्तन के अभाव में रहा-सहा श्रुत भी विस्मृत हो गया था। बहुसंख्यक मुनिगण सुभिक्ष वाले सुदूर प्रदेशों में विहार कर गये थे। जैनशासन के सामने श्रुतरक्षा का विकट प्रश्न था। ऐसी विकट परिस्थिति में दुष्काल की परिसमाप्ति के पश्चात् मथुरा में श्रमण-सम्मेलन हुआ। सम्मेलन का नेतृत्व आचार्य स्कन्दिल ने सँभाला। कतिपय श्रुत-सम्पन्न मुनि इस सम्मेलन में उपस्थित हुए। जिन-जिन मुनियों को जितना-जितना स्मृति में था, वह सर्वश्रुत एकत्रित किया गया। कालिकश्रुत तथा पूर्वश्रुत सब व्यवस्थित रूप से संकलित किया गया। इस द्वितीय आगम-वाचना का समय वीर निर्वाण ८२७ से ८४० (विक्रम सं. ३५७ से ३७०) का मध्यकाल है। यह आगम-वाचना मथुरा में होने से माथुरी वाचना कहलाई। आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में होने के कारण इसे स्कन्दिली वाचना भी कहा जाने लगा।

स्कन्दिली (माथुरी) वाचना के विषय में कतिपय विज्ञों का कहना है कि दुष्काल के इस क्रूर चपेट में आर्य स्कन्दिल के सिवाय सभी अनुयोगधर कालधर्म को प्राप्त हो गये थे, केवल आर्य स्कन्दिल ही बचे थे, जिन्होंने मथुरा में दुष्काल-समाप्ति के बाद अनुयोग प्रवर्त्तन किया था। अतः यह वाचना स्कन्दिली वाचना के नाम से प्रसिद्ध हुई।[२१५]

कहते हैं–दुष्काल समाप्त होने पर मथुरा में आयोजित श्रमणों के महासम्मेलन की अध्यक्षता आचार्य स्कन्दिल ने की थी। प्रस्तुत सम्मेलन में स्कन्दिल आचार्य के गुरुभाई, अचार्य मधुमित्र, महाप्राज्ञ आचार्य गन्धहस्ती (मधुमित्र के विद्वान् शिष्य) तथा तत्सम अनेक विद्वान् आदि लगभग १५० श्रमण उपस्थित थे। इन विद्वान् श्रमणों द्वारा स्मृत पाठों के आधार पर आगमों का संकलन हुआ। आर्य स्कन्दिल की प्रेरणा से विद्वान् शिष्य गन्धहस्ती ने ११ अंगसूत्रों पर विवरण लिखा।

आचार्य स्कन्दिल का गुण-गौरव

आचार्य स्कन्दिल के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए वाचक देवगणी लिखते हैं–"जिनका वर्तमान में उपलब्ध यह अनुयोग आज भी दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में प्रचलित है तथा बहुत से नगरों में जिनकी यशःकीर्ति फैल चुकी है, उन स्कन्दिलाचार्य को वन्दन करता हूँ।" वास्तव में स्कन्दिलाचार्य ने संकटकाल में भी अनुयोग की रक्षा की। आज इस अर्द्ध-भरत क्षेत्र में जो अनुयोग प्रचलित है, वह उनके ही पुरुषार्थ का मधुर फल है। नन्दीसूत्र के इस उल्लेख के अनुसार आचार्य स्कन्दिल के उदात्त व्यक्तित्त्व का प्रभाव पूरे भारत में प्रतीत होता है। आचार्य देवर्द्धिगणी ने आचार्य स्कन्दिल की वाचना को ही प्रमुख माना था। यह तथ्य भी उपर्युक्त गाथा से प्रमाणित होता है।[२१६]

आचार्य स्कन्दिल का कालनिर्णय

आचार्य मेरुतुंग के अनुसार–आचार्य स्कन्दिल की कालनिर्णयता इस प्रकार है–विक्रम सं. ११४ में श्री वज्र स्वामी का स्वर्गवास हुआ। आचार्य स्कन्दिल का समय आर्य वज्र के स्वर्गारोहण के २३९ वर्ष बाद का है। विद्वान् मुनि कल्याणविजय जी के अनुसार–वज्र स्वामी और आर्य स्कन्दिल दोनों का मध्यवर्ती समय २४२ वर्ष है। वज्र स्वामी के बाद १३ वर्ष आर्यरक्षित के, २० वर्ष पुष्यमित्र के, ३ वर्ष वज्रसेन के, ६९ वर्ष नागहस्ती के, ५९ वर्ष रेवतीमित्र के, ७८ वर्ष ब्रह्मदीपकसिंह के हैं। कुल जोड़ है–२४२। इस २४२ की संख्या

में वज्र स्वामी के ११४ एवं अनुयोग प्रवर्त्तक प्रसिद्ध वाचनाकार आचार्य स्कन्दिल के युगप्रधानकाल के १४ वर्ष मिला देने से आर्य स्कन्दिल का समय वीर निर्वाण ८२७ से ८४० तक का प्रमाणित किया गया है।[२१७]

आचार्य हिमवान् के विशिष्ट गुण

आचार्य स्कन्दिल के पश्चात् हिमालय की भाँति विस्तृत क्षेत्र में विचरण करने वाले या महान् विक्रमशाली अनन्त धैर्ययुक्त और पराक्रमी, भाव की अपेक्षा से अनन्त स्वाध्याय के धारक आचार्य श्री स्कन्दिल के शिष्य **आचार्य हिमवन्त** को वन्दन करता हूँ। आचार्य हिमवान् महामना, प्रतिभाशाली, धर्मनायक एवं प्रवचन-प्रभावक थे। वे अपरिमित धैर्य और पराक्रम से कर्मशत्रुओं का नाश कर रहे थे। आचार्य हिमवान् को हिमवान् पर्वत से उपमित करने का अभिप्राय यह भी है कि वे हिमालय की भाँति अपनी मर्यादा, प्रतिज्ञा और संयम में अचल एवं सुदृढ़ थे।[२१८]

आचार्य नागार्जुन का व्यक्तित्त्व और कर्तृत्व

इसके पश्चात् धृति-सम्पन्न, महापराक्रमी, स्वाध्यायी, उपसर्गादि प्रतिकूलताओं को सहने में सक्षम, हिमालयवत् अकम्प आचार्य **नागार्जुन** हुए। वे वाचनाचार्य हिमवन्त (हिमवान्) के शिष्य थे। आचार्य देववाचक ने उनका गुणानुवाद करते हुए कहा है–आचार्य नागार्जुन कालिकसूत्र सम्बन्धी अनुयोग के तथा उत्पाद आदि पूर्वशास्त्रों के धारक थे। वे हिमवान् पर्वत के समान क्षमावान् (क्षमाधर) श्रमण थे। वे कोमल, शान्ति, मार्दव, आर्जव, संतोष आदि गुणों से सम्पन्न होने से लोकप्रिय थे तथा वय-पर्याय एवं दीक्षा-पर्याय के क्रम से वाचकपद को प्राप्त हुए। इसी प्रकार वे ओघश्रुत यानी उत्सर्ग विधि का समाचरण करने वाले (उत्सर्ग-अपवादमार्ग के पूर्ण वेत्ता थे। वाचनाचार्य के (अध्ययन-कला में निपुण लब्धवर्ण, बुद्धिशाली प्रज्ञा स्कन्ध एवं शान्ति सरोवर) गुणों से युक्त थे।[२१९]

(माथुरी) स्कन्दिली वाचना के समय के आसपास एक आगम-वाचना वल्लभी में हुई थी आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में। इसे वल्लभी वाचना या नागार्जुनीय वाचना कहा जाता है। यद्यपि वल्लभी और मथुरा दोनों जगह संघों का सम्मेलन हुआ था। स्मृति के आधार पर सूत्रसंकलन होने के कारण वाचनादि (पाठभेद) रह जाना सम्भव है।[२२०]

आचार्य गोविन्द और आचार्य भूतदिन्न : अट्ठाईसवें-उनतीसवें पट्टधर

आचार्य गोविन्द और आचार्य भूतदिन्न इन दोनों आचार्यों की गुण-निष्पन्न विशेषणों से स्तुति एवं वन्दना की गई है।

आचार्य गोविन्द अनुयोग-सम्बन्धी विपुल धारणा रखने वालों में इन्द्र के समान थे तथा क्षमा, दया आदि की नित्य प्ररूपणा करने में इन्द्र के लिए भी दुर्लभ प्ररूपक थे। जैसे सर्व देवों में इन्द्र प्रधान होता है, वैसे ही तत्कालीन अनुयोगधर आचार्यों में गोविन्दाचार्य या गोपेन्द्राचार्य भी इन्द्र के समान प्रमुख थे। साथ ही उनमें सदैव क्षमाप्रधान दया थी अथवा दया का आचरण करने के लिए कितना ही कष्ट सहना पड़े, वे पीछे नहीं हटते थे।

इसके पश्चात् आचार्य भूतदिन्न हुए हैं। इनकी विशेषता यह थी कि वे तप, संयम की आराधना-साधना में भीषण कष्ट होने पर भी खेद नहीं मानते थे। साथ ही वे विद्वज्जनों द्वारा सम्मानित और सेवित थे एवं संयमविधि के विशेषज्ञ थे।

उनकी शारीरिक सम्पदा का वर्णन करते हुए देववाचक जी कहते हैं– उनके शरीर का वर्ण तपाये हुए उत्तम स्वर्ण के समान या स्वर्णिम वर्ण वाले चम्पक पुष्प के समान अथवा खिले हुए उत्तम जाति वाले कमल के गर्भ-पराग के तुल्य पीतवर्णयुक्त था। वे भव्य प्राणियों के हृदयवल्लभ थे। जनता में दयालुता का गुण उत्पन्न करने में विशारद थे, धैर्यगुणयुक्त थे, तत्कालीन दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में युगप्रधान थे, बहुविध स्वाध्याय के परम विज्ञाता तथा सुयोग्य साधुओं को यथोचित स्वाध्याय, ध्यान और वैयावृत्य आदि शुभ कार्यों में नियुक्त करने वाले, नागेन्द्र (नाहल) कुल की परम्परा को बढ़ाने वाले एवं प्राणिमात्र को उपदेश करने में सुनिष्णात, भवभीति को नष्ट करने वाले आचार्य नागार्जुन ऋषि के शिष्य श्री भूतदिन्न आचार्य को वन्दन करता हूँ।

इन गुणों से स्पष्ट है कि आचार्य भूतदिन्न अहिंसा का प्रचार केवल शब्दों द्वारा ही नहीं, बल्कि भव्य प्राणियों के हृदय में इस गुण के उत्पादक तथा हिंसक को अहिंसक बनाने में दक्ष थे। उन्होंने अनेक हिंसक प्राणियों को दयालु बनाया था।[२२१]

आचार्य लौहित्य एवं आचार्य दूष्यगणी : तीसवें-इकत्तीसवें पट्टधर

आचार्य लौहित्य पदार्थों के नित्य-अनित्य स्वरूप को भलीभाँति जानते थे कि समस्त पदार्थ द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य होते हैं। जैनधर्म के सिद्धान्तानुसार पदार्थ न तो एकान्त नित्य है और न ही एकान्त अनित्य है, बल्कि नित्यानित्य है। आचार्यश्री अपने समय में सूत्र और अर्थ के विशेषज्ञ थे,

क्योंकि जीवनोत्थान, मनःसंयम, वाक् संयम और काय संयम तथा आगमों का अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन करने से ही हो सकता है। पदार्थों को यथावस्थित रूप से प्रकट करने में वे सिद्धहस्त थे। उनके द्वारा की गई व्याख्या अविसंवादी, सत्य एवं सम्यक् होती थी।[२२२]

इसके पश्चात् दूष्यगणी के गुणों की प्रशंसा की गई है। दूष्यगणी शास्त्रों के अर्थ और महार्थ की खान के समान थे। सूत्र की व्याख्या को अर्थ और उसकी विभाषा, वार्तिक, अनुयोग, नय और सप्तभंगी आदि के द्वारा विशिष्ट अर्थ निकालने की शक्ति महार्थ है। वे विशिष्ट मूलगुण और उत्तरगुणों से सम्पन्न मुनिवरों के सम्मुख सूत्र की व्याख्या अपूर्व शैली से करते थे। धर्मोपदेश करने में दक्ष थे। श्रुतज्ञान-विषयक प्रश्न पूछने पर उनका पूर्णतया समाधान करते थे। स्वभाव से मधुरभाषी होने से ऐसी शिक्षा देते, जिससे वह पुनः वैसी भूल अपने जीवन में नहीं होने देता। उनका शासन और प्रशिक्षण शान्त एवं व्यवस्थित रूप से चल रहा था, क्योंकि हितपूर्वक मधुर वचन कोप को उत्पन्न नहीं करता। गुरु को सुशिष्यों को शिक्षण प्रदान करने से समाधि प्राप्त हो सकती है, न कि कुशिष्यों को।

इसके अतिरिक्त आचार्य दूष्यगणी बारह प्रकार के तप, अभिग्रह आदि नियम दस प्रकार का श्रमणधर्म, दस प्रकार का सत्य, सत्रह प्रकार का संयम, सात प्रकार का विनय, क्षमा, मार्दव, ऋजुता (सरलता), शील आदि विशिष्ट गुणों से विख्यात थे। उस युग में जितने भी अनुयोगाचार्य थे, उनमें वे प्रधान थे।

वे पूर्वोक्त विविध गुणों से विभूषित थे और उनके चरणकमल शब्द, चक्र, पद्म आदि शुभ लक्षणों से सुशोभित थे तथा वे (चरणकमल) कमल की भाँति सुकुमार एवं सुन्दर थे। उनकी वाणी में माधुर्य, मन में स्वच्छता, बुद्धि में स्फुरणा शक्ति तथा प्रवचन प्रभावना में अद्वितीय, चारित्र में समुज्ज्वला, दृष्टि में समता, करकमलों में संविभागता इत्यादि गुणों से वे सम्पन्न थे। सैकड़ों प्रातिच्छिकों द्वारा जिनके चरणकमल सेवित एवं वन्दनीय थे। प्रातिच्छिक मुनिवर वे कहलाते हैं, जो विशेष श्रुताभ्यास करने के लिए अपने-अपने आचार्य की आज्ञा प्राप्त करके अन्य गण से आकर विशिष्ट वाचकों से वाचना लेते हैं या उसी गण के जिज्ञासु वाचना ग्रहण करते हैं। आसन्न उपकारी होने से देववाचक जी ने पूर्वापेक्षया अधिक भावभीनी वन्दना करते हुए कहा–भगवद् वाणी के रहस्यों को जो अपने प्रातिच्छिक मुनिवरों के समक्ष वितरित करते हैं या खोलकर रखते हैं, ऐसे अनुयोगाचार्य दूष्यगणी के चरणों में शतशः वन्दन![२२३]

पहले कतिपय मनीषियों के मतानुसार कहा जा चुका है कि देववाचक और देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण एक ही हैं। वे अनुयोगाचार्य दूष्यगणी के शिष्य हैं। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के गुणों के विषय में पहले कह चुके हैं। कल्पसूत्र स्थविरावली में भी उनकी विशेषताएँ बताई गई हैं। वे ही अन्तिम वल्लभी वाचना के सूत्रधार थे।

अन्य अनुयोगधर कालिकश्रुत ज्ञाता आचार्यों को प्रणाम

स्थविरावली का उपसंहार करते हुए आचार्य देववाचकगणी अन्तिम (५०वीं) गाथा में कहते हैं–इन (पूर्वोक्त) युगप्रधान आचार्यों के अतिरिक्त अन्य जो भी कालिकश्रुतों के ज्ञाता, यानि अंगश्रुत और कालिकश्रुतों के विशिष्ट ज्ञाता एवं अनुयोगधर धीर आचार्य भगवन्त हुए हैं, उन सभी को नतमस्तक होकर प्रणाम करके मैं (देववाचक) ज्ञान की प्ररूपणा करूँगा।[२२४]

इस प्रकार अर्हत् वन्दना एवं स्तुति से लेकर युगप्रधान स्थविर आचार्य भगवंतों की स्तुति करने का आशय विशिष्ट भावमंगलाचरण तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम के महास्रोत गुणविधियों के प्रति विनय-भक्ति करना है, ताकि अपने में ज्ञानादि का अहंकार, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, प्रतिष्ठा, लालसा आदि दुर्गुणों से सर्वथा निर्लिप्त रहा जा सके।

परिषद् के तीन प्रकार

इसके पश्चात् नन्दीसूत्र के वाचन-श्रवण के अधिकारी-अनधिकारी श्रोताओं की तीन प्रकार की सभाओं (अज्ञा, अनज्ञा और दुर्विदग्धा) का वर्णन किया गया है। प्रत्येक परिषद् (सभा) के विविध स्वभावों का १४ दृष्टान्तों द्वारा विश्लेषण किया गया है।[२२५]

पंचविध ज्ञान प्रमाण की दृष्टि से दो भागों में समाविष्ट

तदनन्तर नन्दीसूत्र के मुख्य विषय–पंचविध ज्ञान (आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान) का विविध भेद-प्रभेदों द्वारा वर्णन किया गया है। इसी पंचविध ज्ञान को संक्षेप में दो प्रकार से प्ररूपित किया गया है–प्रत्यक्ष और परोक्ष। जैन सिद्धान्त की दृष्टि से प्रत्यक्ष के विषय में अन्य दर्शनों के साथ मतभेद है। जैन सिद्धान्त के अनुसार आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। परन्तु अन्य दर्शन प्रमाण के सन्दर्भ में इन्द्रियों के साथ वस्तु के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष और स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अनुमान, उपमान और आगम (शब्द) को परोक्ष प्रमाण मानते हैं।

अनेकान्तवादी समन्वयकारक जैनदर्शन ने मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष मानते हुए भी सापेक्ष दृष्टि से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष, ऐसे दो भेद किये हैं। दूसरे शब्दों में–परवर्ती जैन-दार्शनिकों ने इन्हें सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष और पारमार्थिक-प्रत्यक्ष कहा है। तथैव स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अनुमान, उपमान और आगम (शब्द) को अन्य दर्शनों द्वारा परोक्ष मानते हुए भी जैनदर्शन ने इन सबको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (सैद्धान्तिक दृष्टि से परोक्ष) की कोटि में माना है। परन्तु प्रमाण की दृष्टि से जब विविध दर्शनों की मान्यता और वैशेषिक दर्शन का विचार जाना गया तो निष्कर्ष यह निकला कि न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान ये चार प्रमाण मानते हैं। सांख्यदर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण, प्रभाकर अर्थापत्ति सहित पाँच प्रमाण, भाट्ट और वेदान्तदर्शन ये दोनों अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं, जबकि जैनदर्शन प्रत्यक्ष और परोक्ष, ये प्रमाण मानता है। जैनदर्शन-सम्मत पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण यह है कि जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आलोक या किसी भी बाह्य निमित्त की आवश्यकता नहीं रहती, सीधे आत्मा की अपनी-अपनी योग्यता एवं क्षमता (क्षय, क्षयोपशम, उपशम) के बल से जो ज्ञान प्रगट हो, उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इसके तीन भेद हैं–अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। इसके विपरीत जो ज्ञान इन्द्रियों और मन की सहायता से होता है, ऐसा अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहलाता है। स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। विकलादेश प्रत्यक्ष में आत्मा पर आये हुए आवरण का पूर्णतया नाश नहीं होता, जितने-जितने क्षयोपशम की तरतमता होती है, प्रत्यक्ष उतना-उतना स्पष्ट, स्पष्टतर कहलाता है। किन्तु एकलादेश प्रत्यक्ष में आवरण का सर्वथा क्षय हो जाता है। इस अपेक्षा से विकलादेश प्रत्यक्ष में अवधि और मनःपर्यायज्ञान को तथा सकलादेश प्रत्यक्ष में केवलज्ञान को परिगणित किया गया है।[२२६]

ज्ञान के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ : सम्यक् और मिथ्या दोनों प्रकार के ज्ञानों में घटित होते हैं

ज्ञान का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–"**ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्तु अनेनेति ज्ञानम्।**" –जिसके द्वारा वस्तु का बोध या विवेक होता है, वह ज्ञान है। अथवा "**तदावरण क्षयोपशमयुक्तो जानाति स्वविषयं परिच्छिनत्ति इति ज्ञानम्।**"–उस ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम से युक्त होकर जो अपने विषय या वस्तुस्वरूप को जानता है, वह भी ज्ञान है। इस अर्थ के अनुसार स्व और पर

(अपने आपको तथा पर-पदार्थों) को जानना, निश्चय करना ज्ञान है। ज्ञान के इन और ऐसे व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये अर्थ जैसे ज्ञान के हैं, वैसे अज्ञान (मिथ्या ज्ञान या कुज्ञान) में भी घटित होते हैं। अतः शंका होती है कि नन्दीसूत्र में वर्णित पंचविध ज्ञान में कौन-सा ज्ञान (सम्यक् ज्ञान, अज्ञान, मिथ्या ज्ञान) शास्त्रकार को अभीष्ट है?[२२७]

अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान का अन्तर

इसका समाधान यह है कि यों तो बेसमझ, अबोध, अज्ञ या पागल व्यक्ति भी या मिथ्या दृष्टि मानव भी या पंचेन्द्रिय तिर्यंच, देव, दानव, नारक भी वस्तु की जानकारी सम्यक् दृष्टि की तरह रखते हैं, प्राप्त कर लेते हैं, उन सबके ज्ञान को अथवा चार्वाक, नास्तिक, एकान्तमतवादी या मिथ्यात्वी या नरसंहारार्थ या भौतिक ज्ञान को संसार के भोगविलास रूप सुखार्थ विविध वैज्ञानिकों के बौद्धिक ज्ञान को सम्यक् ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संसाराभिमुखी भवाभिनन्दी (मिथ्यात्वी) आत्मा चाहे जितना अधिक ज्ञान प्राप्त कर ले, सारे विश्व के भूगोल, खगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र,राजनीतिशास्त्र, कामशास्त्र आदि की जानकारी हो, उन-उन विषयों पर वह हजारों पृष्ठ लिख सकता हो, कई घण्टों तक उन-उन भौतिक आदि विषयों पर धाराप्रवाह बोल सकता हो, यदि उसे सम्यक् दृष्टि प्राप्त नहीं है, उसकी दृष्टि मोक्षाभिमुख या आत्मलक्षी देव, गुरु, धर्मशास्त्रलक्षी नहीं, स्वात्मा तथा विश्व की आत्माओं के हित की दृष्टि नहीं है, आत्मा में प्रचुर मात्रा में समभाव, आस्था सहित कषायों का उपशमन, शान्ति, धैर्य, वैराग्य एवं मोक्ष-प्राप्ति की आकांक्षा न हो तो उसका सारा लौकिक ज्ञान और शास्त्रीय ज्ञान भी आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान ही है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, मिथ्या ज्ञान या कुज्ञान है। प्रमाणशास्त्र या न्यायशास्त्र की दृष्टि से प्रत्येक ज्ञान, चाहे वह सम्यक् हो या मिथ्या, स्व-पर-प्रकाशक होता ही है। प्रमाणशास्त्र या न्यायशास्त्र की दृष्टि में जिस ज्ञान का विषय यथार्थ हो, उसे व्यवहार में प्रमाण और सम्यक् ज्ञान मान लिया जाता है, तथा जिस ज्ञान का विषय यथार्थ न हो, उसे व्यवहार में प्रमाणाभास या असम्यक् ज्ञान (मिथ्या ज्ञान) माना जाता है। परन्तु अध्यात्मशास्त्र अथवा अध्यात्मलक्षी धर्मशास्त्र में न्यायशास्त्र-सम्मत सम्यक् ज्ञान असम्यक् ज्ञान का यह पृथक्करण व्यवहार दृष्टि से कथंचित् मान्य होने पर भी परमार्थ दृष्टि से यह पृथक्करण गौण है। यह भी सम्भव है कि मोक्षार्थी, मोक्षाभिमुखी, आत्मार्थी सम्यक् दृष्टि के क्षयोपशम की कमी से, इन्द्रियविकलता से अथवा बुद्धि-मन्दता के कारण किसी विषय में उसे

संशय हो, भ्रान्ति हो या स्पष्ट ज्ञान न हो; इसके विपरीत, मिथ्यात्वी नास्तिक, संसाराभिमुखी, भवाभिनन्दी, एकान्त भौतिकवादी में क्षयोपशम की अधिकता, बुद्धि की प्रखरता हो, तथा संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय न हो, भ्रान्ति या अस्पष्ट ज्ञान का अभाव हो, उसमें अपनी बात दूसरों को युक्तिपूर्वक समझाने, दूसरों के गले उतारने और बरगलाने की प्रवीणता हो, फिर भी उसका वह ज्ञान अध्यात्मशास्त्र की कसौटी पर मिथ्या ही सिद्ध होगा, क्योंकि उसमें आत्मलक्षी शम, सम, आध्यात्मिक श्रम (स्वयं पुरुषार्थ), संवेग, निर्वेद (वैराग्य) अनुकम्पा, आत्म-परमात्मलक्षी आस्था, सर्वभूतों में आत्मभाव की दृष्टि तथा आत्मौपम्य भाव, समत्व एवं मन, वचन, काय द्वारा की जाने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति में सर्वात्महित दृष्टि न होने से उसका वह ज्ञान सम्यक् ज्ञान की कोटि में नहीं आता। जिस सम्यक् दृष्टि व्यक्ति की दृष्टि एकान्ताग्रही, मताग्रही, मिथ्याग्रही या पूर्वाग्रही नहीं होती, उसी का ज्ञान सम्यक् ज्ञान होता है। अतः जिस ज्ञान से आत्मा स्व-पर-कल्याण कर सके, संसार-वृद्धि रोक सके, जो ज्ञान आत्मा को सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष की, स्वरूपरमण की ओर ले जा सके एवं जिस ज्ञान से व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास हो, ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थिरता रह सके, वह सम्यक् ज्ञान है, जिसका फल विरति, संयम, त्याग और वैराग्य है।[२२८]

प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के भेद-प्रभेद तथा स्वरूप का विस्तृत वर्णन

इस दृष्टि से नन्दीसूत्र में ज्ञान के सन्दर्भ में सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान का तथैव सम्यक् श्रुत और मिथ्या श्रुत का भलीभाँति निरूपण किया गया है और विवेक भी बताया गया है। इस कारण मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एवं अवधिज्ञान को जहाँ सम्यक् ज्ञान की कोटि में लिया गया है, वहीं मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान एवं विभंगज्ञान को अज्ञान की कोटि में लेकर स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार ज्ञान के मुख्य पाँच भेदों को प्रत्यक्ष और परोक्ष दो रूपों में वर्गीकृत करके तथा सांव्यवहारिक और पारमार्थिक प्रत्यक्ष का अन्तर बताकर, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को इन्द्रिय प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष को नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में प्रतिपादन किया गया है।

इसके पश्चात् सर्वप्रथम पारमार्थिक प्रत्यक्ष के अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान, ये तीन प्रकार बताये गये हैं। अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और क्षायोपशमिक ये दो भेद बताकर इनके स्वरूप का निर्देश किया गया है। तदनन्तर अवधिज्ञान के आनुगामिक आदि छह भेदों का तथा उनके स्वरूप का निरूपण किया गया है। फिर अन्तगत और मध्यगत अवधिज्ञान की विशेषता

बताई गई है। तदनन्तर अवधिज्ञान के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट क्षेत्र का निरूपण करके द्रव्य-क्षेत्रादि क्रम से अवधिज्ञान के स्वरूप तथा इनके अधिकारी का वर्णन किया गया है।

इसके पश्चात् मनःपर्यवज्ञान के अधिकारी का विश्लेषणपूर्वक निरूपण किया गया है। फिर मनःपर्यायज्ञान के मुख्य दो भेदों के स्वरूप एवं अन्तर का तथा द्रव्यादि चार प्रकार से उसकी प्रवृत्ति का वर्णन किया गया है।

तदनन्तर केवलज्ञान के स्वरूप का तथा भवस्थ एवं सिद्ध को होने वाले केवलज्ञान का निरूपण किया गया है। साथ ही भवस्थ केवलज्ञान के स्वरूप और प्रकार का एवं सिद्ध केवलज्ञान के दो प्रकारों का तथा अनन्तरसिद्ध एवं परम्परसिद्ध केवलज्ञान के स्वरूप तथा भेद-प्रभेदों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है।

इसके पश्चात् परोक्ष ज्ञान के आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान और श्रुत ज्ञान, ये दो भेद बताये गये हैं। ये दोनों ज्ञान साथ-साथ रहते हैं। श्रुत ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है, यह निरूपण करके मति और श्रुत के दो रूप सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान की दृष्टि से बताये गये हैं--मति-ज्ञान, मति-अज्ञान तथा श्रुत-ज्ञान, श्रुत-अज्ञान सम्यक् दृष्टि का श्रुत श्रुत-ज्ञान और मिथ्या दृष्टि का श्रुत श्रुत-अज्ञान है, यह भी स्पष्ट किया गया है। तदनन्तर आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान के श्रुत निश्रित और अश्रुत निश्रित, ये दो भेद बताकर अश्रुत निश्रित का स्वरूप तथा औत्पातिकी वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी, ये बुद्धि के ४ भेदों को अश्रुत निश्रित में परिगणित किया गया है। चारों का लक्षण तथा स्वरूप दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है। तदनन्तर श्रुतनिश्रित मति ज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, ये चार प्रकार हैं, फिर अवग्रह के अर्थावग्रह, व्यंजनावग्रह, उनके ४ और ६ भेद तथा अवाय, ईहा और धारणा के भेद-प्रभेद बताकर पुनः द्रव्य, क्षेत्र आदि से मतिज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

इसके पश्चात् श्रुतज्ञान के परोक्ष अक्षर, अनक्षर, संज्ञि, असंज्ञि, सम्यक्, मिथ्या, सादिक, अनादिक, समर्थवसित, अपर्यवसित, गमिक, अगमिक, अंगप्रविष्ट, अनंगप्रविष्ट ये १४ भेद बताकर प्रत्येक का सांगोपांग विश्लेषण किया गया है। साथ ही इनके भेद, प्रकार, अधिकारी तथा इनकी उत्पत्ति के प्रकार भी बताये गये हैं। गमिक अगमिक के अन्तर को स्पष्ट करते हुए गमिक में दृष्टिवाद को तथा अगमिक में कालिक को समाविष्ट किया गया। संक्षेप में इन दोनों का अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य में समावेश किया गया है। फिर अंगबाह्य को

आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त इन दो भागों में विभक्त किया गया है। आवश्यक में ६ आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त को कालिक, उत्कालिक इन दो भेदों में परिगणित करके दोनों के अनेक प्रकार बताये गये हैं। तदनन्तर अंगप्रविष्ट श्रुत में द्वादशांगी का नामोल्लेख करके प्रत्येक अंगसूत्र में क्या-क्या विषय हैं? उसका ब्यौरेवार वर्णन किया गया है। अन्त में, बारहवें अंग दृष्टिवाद का निरूपण करते हुए उसके पाँच प्रकार बताये गये हैं–परिक्रम, सूत्र, पूर्वगत (१४ पूर्व वर्णन), अनुयोग और चूलिका। साथ ही द्वादश अंगों में भाव, अभाव, हेतु, अहेतु आदि का वर्णन करके इनकी विराधना और आराधना के फल तथा इनके स्थायित्व एवं द्रव्यादि से जानने-देखने की क्षमता और इनके अध्ययन की पद्धति का निरूपण किया गया है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान के सम्बन्ध में सभी पहलुओं से नन्दीसूत्र में सांगोपांग निरूपण किया गया है।

उपसंहार

अन्त में श्रुतज्ञान के १४ भेदों (अक्षरश्रुत, अनक्षरश्रुत आदि) का पुनः एक गाथा द्वारा उल्लेख करके श्रुतज्ञान (शास्त्र) की पठनविधि तथा व्याख्या करने की विधि का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् श्रुत (शास्त्र) ज्ञान किसे दिया जाये? बुद्धि के अष्टगुणों द्वारा व्यक्त किया गया है कि श्रुतज्ञानी शास्त्रज्ञान करके सन्मार्ग पर चले, सम्यक् चारित्र की आराधना करके मुक्ति प्राप्त करे। सम्यक् चारित्र की आराधना सम्यक् श्रुतज्ञान की आराधना के बिना नहीं हो सकती है। अतः स्थानांगसूत्र में ज्ञानाराधना का जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट फल भी बताया गया है।

साथ ही शास्त्रज्ञान के अध्येता-श्रोता के लिए श्रवणविधि का एवं शास्त्र के अध्यापनकर्त्ता के द्वारा अध्ययन विधि का भी निरूपण किया गया है।

नन्दीसूत्र मूल का ग्रन्थाग्र

नन्दीसूत्र की रचना गद्य और पद्य दोनों में है। इसमें एक अध्ययन है तथा ७०० अनुष्टुप् श्लोक-परिणाम जितना इसका मूल पाठ है। वर्णछन्दों में एक अनुष्टुप् श्लोक होता है, जिसमें प्रायः ३२ अक्षर होते हैं। यद्यपि इस शास्त्र में गद्य की बहुलता है, पद्य तो बहुत कम हैं। लम्बे-लम्बे गद्यसूत्र ५७ हैं, और पद्यमय श्लोक (गाथाएँ) ९७ हैं। तथापि नन्दीसूत्र के गद्य-पद्यमय जितने अक्षर हैं, यदि उन अक्षरों के अनुरूप श्लोक बनाये जाएँ तो ७०० बन सकते हैं। अतः इस सूत्र का ग्रन्थाग्र ७०० श्लोक परिणाम है। आगम-संशोधक मुनि श्री

पुण्यविजय जी ने इस शास्त्र के अक्षरों की गणना के हिसाब से २०,६८६ अक्षर तथा तदनुसार ६४६ श्लोक एवं १४ अक्षर-परिमाण इसका ग्रन्थ-परिमाण निर्धारित किया है।[२२९]

नन्दीसूत्र पर व्याख्या ग्रन्थ

निर्युक्ति

आगमों पर लिखी हुई सबसे प्राचीन व्याख्या निर्युक्ति है। आगमों पर जितनी भी निर्युक्तियाँ मिलती हैं, वे सब पद्य में हैं। उसकी भाषा प्राकृत है। निर्युक्तियों में प्रत्येक अध्ययन की भूमिका तथा प्रकरण से सम्बन्धित विषयों के आशय को स्वयं करने का प्रयास किया गया है। निर्युक्ति के आद्य-प्रणेता आचार्य भद्रबाहु स्वामी जी माने जाते हैं। उन्होंने आवश्यकसूत्र, दशवैकालिक, निशीथसूत्र, बृहत्कल्प, उत्तराध्ययनसूत्र, आचारांग, सूत्रकृतांग एवं सूर्यप्रज्ञप्ति आदि सूत्रों पर निर्युक्तियों की रचना की है, किन्तु नन्दीसूत्र पर अद्यावधि किसी भी निर्युक्तिकार की निर्युक्ति देखने में नहीं आई। इतना अवश्य कहा जा सकता है, ये निर्युक्तिकार आचार्य देववाचकगणी से पहले हुए हैं।

नन्दीसूत्र पर चूर्णि

चूर्णिकारों में जिनदास महत्तर का स्थान प्रथम पंक्ति में आता है। चूर्णियाँ प्रायः गद्यात्मक हैं। जैसे चूर्ण में अनेक वस्तुओं का सम्मिश्रमण होता है, वैसे ही चूर्णि की मुख्य भाषा प्राकृत होते हुए भी उसमें संस्कृत भाषा के अतिरिक्त शौरसेनी, अर्ध-मागधी आदि देशीय भाषाओं का भी सम्मिश्रण है। चूर्णि की रचना का लक्ष्य भी क्लिष्ट विषय को विशद करके समझाने का रहा है। जिनदास महत्तर ने आचारांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, निशीथ, दशाश्रुतस्कन्ध एवं नन्दीसूत्र आदि सूत्रों पर चूर्णि की रचना की है। नन्दीसूत्रचूर्णि का ग्रन्थाग्र अनुमानतः १,५०० गाथाओं के परिमाण जितना माना जाता है।

नन्दीसूत्र पर मलयगिरि की बृहत् संस्कृत वृत्ति

आचार्य मलयगिरि अपने युग के महान् दार्शनिक, आगम व्याख्याकार आचार्य हुए हैं। उन्होंने राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, आवश्यकसूत्र, नन्दीसूत्र आदि आगमों पर दार्शनिक शैली में महत्त्वपूर्ण बृहद् वृत्तियाँ (व्याख्याएँ) लिखी हैं। नन्दीसूत्र पर आपके द्वारा लिखी हुई प्रांजल व्याख्या विशेष रूप से पठनीय है। जैन संस्कारों से सुसंस्कृत होने

से आपकी अभिरुचि आगमिक सिद्धान्तों का गूढ़ रहस्य प्रतिपादन करने की ओर रही है। आप वृत्तिकार ही नहीं, भाष्यकार भी थे। नन्दीसूत्र पर आपके द्वारा लिखी हुई बृहद् वृत्ति का ग्रन्थाग्र ७,७३२श्लोक परिमित माना गया है।

नन्दीसूत्र पर हारिभद्रीया वृत्ति

याकिनी महत्तरा के धर्मपुत्र हरिभद्रसूरि जी ब्राह्मण वर्ण से आए हुए वेद-वेदांग शास्त्रों के विद्वान्, जैनागमों के अनेकान्त सिद्धान्त-समन्वित युगप्रवर्त्तक, समन्वयवादी व्याख्याकार हुए हैं। आपने अपने जीवन में जैन सिद्धान्तों के रहस्य का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, योगदृष्टिसमुच्चय, विंशतिविंशिका धूर्त्ताख्यान, समराइच्चकहा आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। आवश्यकसूत्र, दशवैकालिक, नन्दीसूत्र, प्रज्ञापना आदि कतिपय आगमों पर संस्कृत में वृत्तियाँ लिखी हैं। कहते हैं, आपने अपने जीवन में १,४४४ ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से आज तो कतिपय ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। आपकी लेखनी संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं पर समान रूप से चली थी। नन्दीसूत्र पर आपकी लिखी हुई संस्कृत वृत्ति लघु होती हुई भी विराट् रहस्य को उद्घाटित करने वाली है। उसका ग्रन्थाग्र २,३३६ श्लोक परिमित माना गया है।[२३०] मेरुतुंगावार्य प्रणीत विचार श्रेणी के अनुसार आपका समय विक्रम संवत् छठी शताब्दी सिद्ध होता है। हरिभद्रसूरि जी विक्रम सं. ५८५ में दिवंगत हुए, इस गाथा के अनुसार छठी शताब्दी ही प्रमाणित होती है।[२३१]

नन्दीसूत्र पर टिप्पणी

नन्दीसूत्र पर चन्द्रसूरि जी ने ३,००० श्लोक-परिमाण टिप्पणी भी लिखी है।

नन्दीसूत्रगत विषय को विषयरूप से समझने हेतु विशेषावश्यक भाष्य

किसी जिज्ञासु को नन्दीसूत्रगत ज्ञान के विषय को स्पष्ट रूप से समझना हो तो जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण-प्रणीत विशेषावश्यक भाष्य तथा उस पर कोट्याचार्य की संस्कृत टीका देखनी चाही। यह आगमों का मन्थन महाकोष है। इसमें नन्दीसूत्र एवं अनुयोगद्वार दोनों शास्त्रों का विस्तृत विवेचन है। भाषा प्राकृत गाथाओं में रचित है, उस पर टीका संस्कृत भाषा में निबद्ध है। गाथाओं की कुल संख्या ३,६०० है। भाषा सुगम है, किन्तु भाव गम्भीर है। वैदिक, बौद्ध, जैन तथा चार्वाक दर्शन आदि का परिज्ञान हो तो इसे समझना आसान होगा। जिनभद्रगणी का समय ईस्वी सन् ६०९ निश्चित किया गया है।

नंदीसूत्र पर प्रभा टीका

नन्दीसूत्र पर एक जैनेतर विद्वान् ने संस्कृत विद्वान् विवृत्ति लिखी है जिसका नाम है–प्रभा विवृत्ति। यह विवृत्ति आचार्य मलयगिरिकृत वृत्ति को स्पष्ट करने के लिए लिखी गई है। बीकानेर ज्ञान भण्डार के संस्थापक यतिवर्य हितवल्लभ की शुभ प्रेरणा से दरबार हाईस्कूल के संस्कृत के प्रधान अध्यापक पं. जयदयाल जी ने १५६ पन्नों में लिखी है। उसकी प्रेस कॉपी श्री अमरचन्द जी नाहटा के भण्डार में सुरक्षित है। यह विवृत्ति विक्रम सं. १९५८ की वैशाख शुक्ला तृतीया तिथि को लिखी गई है।

नन्दीसूत्र पर हिन्दी आदि भाषाओं में व्याख्या-साहित्य

संस्कृत, प्राकृत टीकाओं का परिमाण इतना बड़ा है और विषयों की चर्चाएँ इतनी गहन एवं गम्भीर हैं कि साधारण साधक के हृदयंगम नहीं होती। अतः बाद में यह आवश्यक समझा गया कि आगमों का शब्दार्थ करने वाली संक्षिप्त टीकाएँ भी हों। समय की गति को देखते हुए संस्कृत, प्राकृत भाषा अब जनभाषा न रहकर मात्र साहित्य की भाषा बन गई। अतः नन्दीसूत्र आदि आगमों पर अपभ्रंश भाषा या कहीं गुजराती, मारवाड़ी मिश्रित भाषा में बालावबोध या टब्बा की रचना हुई। अठाहरवीं शताब्दी में हुए लोकागच्छ के धर्मसिंह मुनि तथा लव जी ऋषि एवं आचार्य धर्मदास जी म. आदि के लिखे हुए बालावबोध (टब्बा) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी दृष्टि प्राचीन टीकाओं के अर्थ को छोड़कर कहीं-कहीं स्व-सम्प्रदाय मान्य अर्थ करने की भी रही है।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में आचार्य अमोलक ऋषि जी म. ने नन्दीसूत्र पर पत्राकार रूप में हिन्दी भाषा में सुन्दर रूप से शब्दार्थ किया है, जो आगमबत्तीसी के प्रकाशन के साथ प्रकाशित हुई है। किन्तु आचार्य श्री आत्माराम जी म. ने नन्दीसूत्र पर हिन्दी भाषा में विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। साथ ही आचार्य हस्तीमल जी म. ने भी नन्दीसूत्र पर हिन्दी व्याख्या लिखी है। आचार्य श्री घासीलाल जी म. ने नन्दीसूत्र पर संस्कृत, हिन्दी और गुजराती भाषा में सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। ये तीनों व्याख्या-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इसके पश्चात् श्रमणसंघीय युवाचार्य पं. मधुकर मुनि जी म. के प्रधान सम्पादकत्व एवं तत्त्वावधान में विदुषी साध्वीरत्ना श्री उमराकुंवर जी 'अर्चना' ने नूतन परिवेश एवं भव्य शैली में नन्दीसूत्र का सम्पादन-विवेचन किया है, जो अपने आप में अनूठा है। जो आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर से प्रकाशित हुआ है। इस नन्दीसूत्र-विवेचन की यह विशेषता है कि न तो यह अत्यन्त विस्तृत है

और न ही अत्यन्त संक्षिप्त है, किन्तु नन्दीसूत्र के मूल पाठ का शब्दार्थ, भावार्थ देने के साथ-साथ सूत्रस्पर्शिक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है, यत्र-तत्र टिप्पणी से तथा अन्त में परिशिष्ट एवं प्रारम्भ में विषयानुक्रमणिका देकर व्याख्या ग्रन्थ को सर्वांग सम्पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है।

नन्दीसूत्र में वर्णित ज्ञान का अन्य आगमों में भी वर्णन

नन्दीसूत्र में प्रतिपादित 'ज्ञान' के विषय का वर्णन अन्य आगमों में भी मिलता है। जैसे कि अनुयोगद्वारसूत्र में पंचविध ज्ञान का सांगोपांग वर्णन है। आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यक भाष्य में भी पंचविध ज्ञान का विविध पहलुओं से वर्णन किया गया है। स्थानांगसूत्र के द्वितीय स्थान में विभिन्न प्रकार से दो-दो ज्ञानों का निरूपण किया गया है। इसी सूत्र के छठे स्थान में आभिनिबोधिक, अवधिज्ञान तथा मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के प्रत्येक के छह-छह भेदों का निरूपण है। समवायांगसूत्र के २८वें समवाय में मतिज्ञान के २८ भेदों का निरूपण है। इसके अतिरिक्त द्वादशांगी श्रुत (ज्ञान) का परिचय नन्दीसूत्र की तरह समवायांगसूत्र में भी किया गया है, परन्तु वह नन्दीसूत्र से कुछ भिन्न है। प्रज्ञापनासूत्र के ३३वें पद में अवधिज्ञान के विषय, संस्थान आदि पर प्रकाश डाला गया है। इसी सूत्र के २१वें पद में आहारकशरीर का वर्णन नन्दीसूत्र के मनःपर्यवज्ञान के वर्णन से मिलता-जुलता है। प्रज्ञापनासूत्र, सू. ६-७ में सिद्धपद का वर्णन है। भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र के श. २५, उ. ३ में गणिपिटक के प्रकार का वर्णन है तथा भगवतीसूत्र, श. ८, उ. २, सू. ३१८-३२३ में ज्ञान और ज्ञानी से सम्बन्धित विषयों का विस्तृत वर्णन है।

नन्दीसूत्र के स्वाध्याय से विशिष्ट लाभ

नन्दीसूत्र का स्वाध्याय प्रत्येक साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका के लिए अवश्य करणीय है। नन्दीसूत्र के अर्थ, विवेचन एवं हार्द को समझकर वाचनादि पंचांगयुक्त स्वाध्याय करने से आत्मा में निहित अनन्त ज्ञानविधि और उसे प्रगट करने के उपायों का ज्ञान होता है। ऐसे स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम भी होता है, ज्ञान की अभिवृद्धि होती है, दर्शन विशुद्ध बनता है। फलतः चारित्र निर्दोष हो जाता है। तीनों की पूर्णता से निर्वाण का महालाभ मिलता है। तथैव नन्दीसूत्र के स्वाध्याय से आनन्द और मंगल की अमृत-वृष्टि होती है। साथ ही लौकिक और लोकोत्तर ज्ञान की उपलब्धि, ज्ञाता-द्रष्टा भाव की सतत प्रबुद्धता (जागरूकता) की प्रेरणा, पूर्ण ज्ञान के लिए सतत स्वभाव में रमणतारूप समाधि ! यही है, नन्दीसूत्र के स्वाध्याय की अनुपम फलश्रुति !

प्रस्तावना-लेखन, सम्पादन की कहानी

यद्यपि स्व. आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी ने नन्दीसूत्र की प्रस्तावना का लेखन काफी समय से प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु इन्दौर चातुर्मास में तथा उसके पश्चात् भी उनका स्वास्थ्य बहुत ही शिथिल रहा। बाद में विहार में भी उनका स्वास्थ्य समीचीन नहीं रहा। फिर उन पर आचार्यपद का गुरुतर भार होने के कारण दिनभर अत्यन्त व्यस्तता रहती थी, इस कारण वे प्रस्तावना-लेखन तथा परिष्कृत सम्पादन पूर्ण नहीं कर सके। अतएव उन्होंने मुझ पर इस शास्त्र की प्रस्तावना के परिष्कार का भार डाला। यद्यपि मुझमें उनके-जैसी अगाध विद्वत्ता और क्षमता कहाँ? फिर भी उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करके प्रस्तावना के परिष्कृत सम्पादन का दायित्त्व सँभाला।

बीच-बीच में कार्य-व्यस्तता, अस्वस्थता आदि कारणों से सम्पादन-कार्य में व्यवधान आता रहा। आचार्यश्री का भी बार-बार परिष्कृत प्रस्तावना सम्पादित करके शीघ्र भेजने का तकाजा आता रहता था। अतएव चैत्र महीने की नवरात्रि के नौ दिन समौन एकाशन करके मैंने इसके सम्पादन को पार लगाने का दृढ़ निश्चय किया। फलतः २२ अप्रैल तक ७७ पेज का सम्पादित किया हुआ मैटर स्थानीय संघ के अध्यक्ष एवं मंत्री के साथ आचार्यश्री की सेवा में अवलोकनार्थ मुम्बई भेजा। किन्तु आचार्यश्री अस्वस्थ थे; इस कारण वे इस मैटर का अवलोकन न कर सके। यह किसने जाना था कि आचार्यश्री इस प्रस्तावना के सम्पादित मैटर को सदा के लिए नहीं देख सकेंगे और न ही इसकी प्रकाशित पुस्तक को देख सकेंगे? हमारे दुर्भाग्य से ता. २६ अप्रैल, १९९९ को वह मनहूस दिन आया और आचार्यश्री सदा के लिए इस लोक से महाप्रयाण कर गए।

प्रस्तावना का अवशिष्ट अंश भी सम्पादित हो चुका है और मुद्रणार्थ प्रसिद्ध मुद्रण-कला विशेषज्ञ, साहित्य महारथी श्री श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' को आगरा भेज दिया गया है। उनके हाथों से अद्यावधि अनेक ग्रन्थ और पुस्तकें सुन्दर ढंग से मुद्रित और प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत शास्त्र की प्रस्तावना के सम्पादन में जिन-जिन महामनीषियों, आचार्यों, मुनिवरों आदि के ग्रन्थों, आगमों, पुस्तकों के वचनामृतों का उपयोग किया है या सहयोग लिया है, उनका मैं हार्दिक ऋणी हूँ तथा उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना आवश्यक समझता हूँ।

उद्धृत संदर्भ-स्थल सूची

१. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ३२, गा. २
२. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ६, गा. १
३. "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः।" —भगवद् गीता ५/१५
४. (क) "जे आया से विन्नाणे, जे विन्नाणे से आया।"
—आचारांग, श्रु. १, अ. ५, उ. ५, सू. १६६
(ख) "उपयोगो लक्षणम्।" —तत्त्वार्थसूत्र, अ. २/८
(ग) "णाणे पुण नियमं आया।" —भगवतीसूत्र १२/१०
५. वेदान्तसार
६. "नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥"
—उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. ३०
७. "सव्वसुत्त-खंधतादीणं मंगलाधिकारे नंदि त्ति वत्तध–णंदणं णंदी, नंदंति वा तेण त्ति नंदी। नंदी प्रमोदो हरिसो कंदप्पो इत्यर्थः।" —नन्दीसूत्रचूर्णि
८. "भावणंदी–णंदिसद्दोवउत्त भावो, अहवा–इमं पंचविहणाण-परूवणं णंदित्ति अज्झयणं।" —नन्दीसूत्र
९. (क) देखें–स्वरूप सम्बोधन (३) में आत्मा और ज्ञान की भिन्न-भिन्नता का प्रतिपादन–
"ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोऽयमात्मेति कीर्तितः॥"
(ख) "ज्ञानाधिकरणमात्मा।" —तर्कसंग्रह
१०. (क) "स्व-पर-व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।" —प्रमाणनय तत्त्वालोक
(ख) "ज्ञानं स्व-पर-प्रकाशकम्।"
११. (क) चतुर्विंशतिस्तव आवश्यकसूत्र में
(ख) भक्तामर स्तोत्र, श्लो. १६
१२. उत्तराध्ययन ३२/२
१३. (क) देखें–प्रबुद्ध जीवन में (परमानन्द कापड़िया का लेख)
(ख) आज का आनन्द (दैनिक) ता. २३/११/१९९८ से
१४. "Ignorance is the root of all evils." —Plato
१५. "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" —भगवद् गीता
१६. आज का आनन्द (दैनिक) ता. २३/११/१९९८ से
१७. प्रबुद्ध जीवन (परमानन्द कापड़िया) से संक्षिप्त भाव ग्रहण
१८. वही
१९. "नासिद्धं सुख-दुःखादि ज्ञानादर्थान्तरं यतः।
चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित्।।" —पंचाध्यायी १४

२०. (क) प्रबुद्ध जीवन से संक्षिप्त भाव ग्रहण
(ख) भगवतीसूत्र
(ग) ब्रह्मचर्य विज्ञान (उपाध्याय पुष्कर मुनि जी)

२१. (क) पंचविध आचार के लिए देखें–स्थानांग, समवायांग, निशीथचूर्णि आदि
(ख) ज्ञातासूत्र, अन्तकृद्दशासूत्र में देखें इनका वृत्तान्त

२२. प्रबुद्ध जीवन से संक्षिप्त भाव ग्रहण

२३. प्रबुद्ध जीवन, ज्ञातासूत्र, अन्तकृद्दशासूत्र आदि से भाव ग्रहण

२४. नन्दीसूत्र–विवेचन में नन्दीसूत्र दिग्दर्शन (उपाध्याय पं. फूलचन्द जी म. 'श्रमण') से भाव ग्रहण

२५. नन्दीसूत्र विवेचन में नन्दीसूत्र दिग्दर्शन (उपाध्याय फूलचन्द जी म. 'श्रमण') से भाव ग्रहण, पृ. ५

२६. (क) "सूत्रार्थोभयरूपः आगमः।" –आवश्यक ५२४
(ख) "आचार्यपारम्पर्येणागतः, आप्तवचनं वा।" –अनुयोगद्वार वृत्ति ३८
(ग) "गुरुपारम्पर्येणागच्छतीति आगमः; आ = समन्तात् ज्ञायन्ते = गम्यन्ते जीवादयः पदार्था अर्ननेति वा।" –वही २१९/५
(घ) "आप्तप्रणीतः आगमः।" –आचारांग वृत्ति ४८
(ङ) "आप्तवचनादाविर्भूतमर्थ-संवेदनमागमः। उपचारादाप्तवचनं च।" –प्रमाणनय तत्त्वालोक ४/१-२

२७. (क) "आप्तो रागद्वेषादि वियुतः।" –तत्त्वार्थ सिद्धसेनीया वृत्ति १/२०
(ख) "यथार्थवक्ता स आप्तः।"
(ग) "अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः।" –प्रमाणनय तत्त्वालोक ४/४

२८. "आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा–सुत्तागमे य अत्थागमे य तदुभयागमे।" –अनुयोगद्वार, सू. ४७०, आवश्यकसूत्र

२९. "अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।" –आवश्यकनिर्युक्ति ९२

३०. (क) "अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा–अत्तागमे, अणंतरागमे परंपरागमे य। तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे, अत्थस्स अणंतरागमे, गणहरसीसाणं सुत्तस्स अणंतरागमे, अत्थस्स परंपरागमे, तेणं परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे, णो अणंतरागमे, परंपरागमे।" –अनुयोगद्वार, सू. ४७०
(ख) स्थानांगसूत्र, स्था. ३

३१. प्रशमरति, श्लो. १८६-१८७

३२. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, न्यायावतार वार्तिक वृत्ति

३३. "जहा सूइ ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ॥" –उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. ५९

३४. पाणिनीय व्याकरण महाभाष्य

३५. उत्तराध्ययन, अ. २९ का प्रारम्भ, तथा भगवती, अन्तकृद्दशा आदि शास्त्र-पाठों का प्रारम्भ।

३६. नन्दीसूत्र दिग्दर्शन (सम्पादक–उपाध्याय श्री फूलचन्द जी म. 'श्रमण') से भाव ग्रहण, पृ. ५८

३७. (क) श्री अनुयोगद्वारसूत्र (आत्मज्ञान पीयूषवर्षिणी टीका समन्वित) के आमुख से भाव ग्रहण, पृ. १०-११

(ख) "श्रूयते आत्मना तदिसि श्रुतशब्दः।" –विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति

(ग) "श्रुतं शब्दः, कर्मसाधनश्च।" –तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/९/२

(घ) तत्त्वार्थभाष्य के विश्रुत टीकाकार सिद्धसेनगणी

३८. अनुयोगद्वार सूत्र (आत्मज्ञान पीयूषवर्षिणी, हिन्दी टीका समन्वित) के आमुख से भाव ग्रहण, पृ. ११

३९. वही, पृ. ११

४०. वही, पृ. १२

४१. "सुय-सुत्त-गंथ-सिद्धंत चवयणे आण-वयण-उवएसे पण्णवण आगमे वा एगट्ठा पज्जया सुत्ते।" –अनुयोगद्वार ४, विशेषावश्यक भाष्य, गा. ८/९७

४२. (क) नन्दीसूत्र दिग्दर्शन (उपाध्याय श्री फूलचन्द जी म. 'श्रमण') से साभार भाव ग्रहण, पृ. १०

(ख) इह हि यद् भूतभावं भाविभावं वा वस्तु तद् यथाक्रमं, विवक्षित भूत भावि भावापेक्षया द्रव्यमिति तत्त्ववेदिनां प्रसिद्धिमुपागमत्। उक्तं च–

"भूतस्य भाविनो भावा, भावस्य हि कारणं यथोके।
तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः, सचेतनाचेतनं कथितम्॥"

४३. (क) नन्दीसूत्र दिग्दर्शन (उपाध्याय श्री फूलचन्द जी म. 'श्रमण') से साभार भाव ग्रहण, पृ. ११

(ख) "उपयोगो भावलक्षणम्।"

(ग) "भावम्मि पंच नाणाई।"

४४. देखें–दशवैकालिकसूत्र, अ. ९, उ. ४, सू. ३ में श्रुतसमाधि का वर्णन

४५. स्वाध्याय के पाँच अंगों से होने वाले लाभ–(१) सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ। (२) वायणाए णिज्जरं जणयइ, सुयस्स अणासायणाए वहइ। अणासायणाए वट्टमाणे तित्थ धम्मं अवलंबइ, तित्थ धम्मं अवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ। (३) पडिपुच्छणयाए सुत्तत्थ-तदुभयाइं विसोहेइ। कंखामोहणिज्जं कम्मं वोछिंदइ। (४) परियट्टणाए वंजणाइं जणयई। वंजण लद्धिं च उप्पाएइ। (५) अणुप्पेहाए आउय वज्जाओ सव्वकम्म पगडीओ.... पगरेइ... अणाइयं चं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं खिप्पमेव वीइवयइ। (६) धम्म कहाए निज्जरं जणयइ।.... पवयणं पभावेइ। पवयणपभावेणं जीये आगमेस्स भद्दताए कम्मं निबंधइ। –उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २९, सू. १८-२३

४६. नन्दीसूत्र दिग्दर्शन से भाव ग्रहण

४७. (क) विशेष जानकारी के लिए देखें–'नन्दिसुत्तं अणुओगदाराइं च' (सं. मुनि श्री पुण्यविजय जी म.)

(ख) अणुओगद्दाराइं (सं. आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. १४-१५

४८. (क) देखें–'नन्दिसुत्तं अणुओगदाराइं च' (सं. मुनि श्री पुण्यविजय जी म.)

(ख) अणुओगद्दाराइं (विवेचन : आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण

(ग) "अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–आवस्सयं च आवस्सयवइरित्तं च। आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं। ....आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–कालियं च उक्कालियं च।" –नन्दीसूत्र, सू. ४३

४९. "प्रथमं पूर्वं तस्य सर्वप्रवचनात् पूर्वं क्रियमाणत्वात्।" –समवायांग वृत्ति, पत्र १०१

५०. देखें–दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति तथा उत्तराध्ययन शान्त्याचार्यकृत बृहद्वृत्ति

५१. विशेष जानकारी के लिये देखें–जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन (श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री), पृ. २०-२३

५२. (क) जैनदर्शन (डॉ. मोहनलाल मेहता), पृ. ८९

(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (पं. दलसुख मालवणिया), पृ. २८

(ग) अनुयोगद्वारसूत्र (आत्मज्ञान पीयूषवर्षिणी हिन्दी टीका), पृ. ३९-४०

(घ) जैनतत्त्व प्रकाश, पृ. २१८

(ङ.) नन्दीसूत्रम् (आचार्य आत्माराम जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. १३

५३. (क) अनुयोगद्वारसूत्र (आत्म-ज्ञान पीयूषवर्षिणी हिन्दी टीका) से भाव ग्रहण, पृ. ४०

(ख) नन्दीसूत्र विवेचन (आचार्य आत्माराम जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. १३-१४

५४. अनुयोगद्वारसूत्र, पृ. ४०

५५. (क) "तस्स पुणो सव्व-सुत्तब्भंतरता पढम मंगलग्गहणा।
जं च ण पिधो पठिज्जइ, णंदीए सो सुयक्खंधो॥"
–विशेषावश्यक भाष्य, गा. १०

(ख) "अहवा मंगला णंदी, सा चतुर्विधा-णामादि। इहंपि णाम-ट्ठवणा-दव्वनंदी-वक्खाणे-कते भावनंदीऽवसरे पत्ते भणति–णाणं पंचविधं पण्णत्तं।"
–अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ. १

(ग) "सव्वसुत्त-खंधतादीणं मंगलाधिकारे नंदित्ति वत्तव्वा।" –नन्दीसूत्रचूर्णि

(घ) "मंगलपहवा नंदी, चउव्विहा मंगलं च सा नेया।
दव्वे तूर-समुद्दओ, भावम्मि य पंचनाणाइं॥" –विशेषावश्यक भाष्य

५६. (क) देखें–नन्दी स्थविरावली में–
"अत्थ-महत्थखाणिं, सुसमण-वक्खाण-कहण-निव्वाणिं।
पयइए महुरवाणिं पयओ पणमामि दूसगणिं।।" –नन्दी स्थविरावली, गा. ४७

(ख) "दूसगणिसीसो देववायगो।" –नन्दीसूत्रचूर्णि, पृ. १३

५७. देखें–'नंदीसुत्तं अणुओगद्दाराइं च' (मुनि श्री पुण्यविजय जी) से भाव ग्रहण, पृ. ३१

५८. नन्दीसूत्र विवेचन के अन्तर्गत नन्दीसूत्रदिग्दर्शन (आ. आत्माराम जी म.), पृ. ६३

५९. कल्पसूत्र स्थविरावली, गा. १४

६०. (क) "देववायगो साहुजणहियट्ठाए इणमाह।" —नन्दीचूर्णि, पृ. २०
(ख) "देववाचकोऽधिकृताऽध्ययन-विषयभूतस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां कुर्वन्निदमाह।"
—नंदी हारिभद्रीया वृत्ति, पृ. ३७

६१. जैनकालगणना (मुनि श्री कल्याणविजय जी)

६२. नन्दीसूत्र की प्रस्तावना (नन्दीसूत्र दिग्दर्शन) (आचार्य श्री आत्माराम जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. ८

६३. (क) वही, पृ. २
(ख) उत्तराध्ययन, अ. ३२, गा. २

६४. (क) नन्दीसूत्र प्रस्तावना (नन्दीसूत्र दिग्दर्शन) (आचार्य श्री आत्माराम जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. ८
(ख) "एकादश अंगानि गणधर-भाषितानि, अन्यागमाः सर्वेऽपि छद्मस्थैरंगेभ्य उद्धृताः सन्ति।"
—समाचारीशतक (उपाध्याय समयसुन्दर जी) से भाव ग्रहण, पृ. ७७

६५. श्रीमन्नन्दीसूत्रम् (आचार्य हस्तीमल जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. २

६६. (क) "मंगलमहवा नंदी, चउव्विहा मंगलं च सा नेया।
दव्वे तूस्समुदओ, भावम्मि य पंचनाणाइं॥" —विशेषावश्यक भाष्य
(ख) नन्दीसूत्र (आचार्य आत्माराम जी म.) प्रस्तावना के आधार पर, पृ. ३, २

६७. बहुविघ्नानि श्रेयांसि, तेन कृतमंगलोपचारैः।
गृहीतव्यः सुमहानिधिरिव, यथा वा महाविद्या॥
तत्र मंगलभादौ, मध्ये पर्यन्तकं च शास्त्रस्य।
प्रथमं शास्त्रार्थाऽविघ्न-पारंगमनाय निर्दिष्टम्॥
तस्यैव च स्थैर्यार्थं, मध्यमकमन्तिममपि तस्यैव।
अव्यवच्छित्ति-निमित्तं, शिष्य-प्रशिष्यादि वंशस्य॥"
—विशेषावश्यक भाष्य, प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया

६८. (क) नंदीसूत्र (आचार्य आत्माराम जी म.) की प्रस्तावना से भाव ग्रहण, पृ. ३
(ख) "थय-थुइ मंगलेणं नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभं जणयइ। नाणदंसणचरित्त-बोहिलाभ-संपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ।" —उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. १४

६९. नन्दीसूत्र (आचार्य आत्माराम जी म.) की प्रस्तावना से भाव ग्रहण, पृ. ४

७०. (क) "जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ, जग गुरु जगाणंदो।
जगणाहो जगबंधु जयइ, जगप्पियामहो भयवं।।
जयइ सुआणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ।
जयइ गुरु लोगाणं, जयइ महप्पा महावीरो॥
भद्दं सव्व जगुज्जोयगस्स, भद्दं जिणस्स वीरस्स।
भद्दं सुरासुरनमंसियस्स, भद्दं धुयरयस्स॥" —नन्दीसूत्र, मूल पाठ, गा. १-३
(ख) नन्दीसूत्र (आचार्य आत्माराम जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. १-८

७१. देखें–आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन ९ का विवेचन
७२. देखें–आचारांगसूत्र प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भगवान महावीर की जीवन-गाथा
७३. (क) विशेष जानकारी के लिए देखें–भगवान महावीर : एक अनुशीलन (आचार्य देवेन्द्र मुनि)
(ख) तीर्थंकर महावीर (उपाध्याय अमर मुनि)
७४. वही (लेखक–आचार्य देवेन्द्र मुनि)
७५. "गुण-भवण-गहण ! सुय-रयण-भरिय ! दंसण-विसुद्ध-रत्थागा।
संघनगर ! भद्दं ते, अखंड-चारित्त-पागारा॥
संजम-तव-तुंबारयस्स, नमो सम्पन्न-पारियल्लस्स।
अपडिचक्कस्स जओ, होउ सया संघ-चक्कस्स॥
भद्दं सील-पडागूसियस्स, तव-नियम-तुरय-जुत्तस्स।
संघरहस्स भगवओ, सज्झाय-सुनंदिघोसस्स॥
कम्म-रय-जलोह-विणिग्गयस्स, सुय-रयण-दीह-नालस्स॥
.....
संघ-पउमस्स भद्दं, सयण-गण-सहस्स-पत्तस्स॥
तव-संजम-मय-लंछण, अकिरिय-राहु-मुह-दुद्धरिस ! भिद्धं।
जय संघचंद ! निम्मल-सम्मत्त-विसुद्ध-जोण्हागा॥
पर-तित्थिय-गह-पह-नासगस्स, तव-तेय-दित्त-लेसस्स।
नाणुज्जोयस्स जए, भद्दं दमसंघसूरस्स॥" –सिरि नंदीसुत्तं, गा. ४-१०
७६. "संघो गुणसंघाओ, संघो य विमोचिओ य कम्माणं।
दंसण-णाण-चरित्ते संघायंतो हवे संघो॥" –भगवती आराधना ७१४
७७. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, पृ. २४९
७८. व्यवहार भाष्य ३२६
७९. "नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य।" –बृहत्कल्प भाष्य, गा. ५७१३
८०. सिरि नंदीसुत्तं, गा. ११
८१. (क) "(वंदे) उसभं अजियं संभवमभिनंदण-सुमइं सुप्पभं सुपासं।
ससि-पुप्फदंत-सीयल-सिज्जंसं वासुपुज्जं च॥
विमलमणंतं य धम्मं, संतिं कुंथुं अरं च मल्लिं च।
मुणिसुव्वयं नमि नेमिं, पासं तह वद्धमाणं च॥ –नंदीसूत्र, गा. २०-२१
(ख) "धम्मतित्थयरे जिणे''''।" –आवश्यकसूत्र में चतुर्विंशतिस्तव पाठ
(ग) "नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥" –*उत्तराध्ययनसूत्र २८/२*
(घ) "सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः॥
देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्म-निवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्वान्, यो धरम्युत्तमे सुखे॥"
–रत्नकरण्डक श्रावकाचार, श्लो. ३, २

८२. (क) ''पढमित्थ इंदभूई, बीए पुण होइ अग्गिभूइत्ति।
तइए य वाउभूइ, तओ वियत्ते सुहम्मे य॥
मंडिय-मोरियपुत्ते, अकंपिए चेव अचलभाया य।
मेयज्जे य पहासे, गणहरा हुंति वीरस्स॥'' –सिरि नंदीसुत्तं, गा. २२-२३
(ख) ''अनुत्तर ज्ञान-दर्शनादिगुणानां गणं धारयन्तीतिगणधरः।''
–विशेषावश्यक भाष्य टीका, गा. १०६२
(ग) ''समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा, एक्कारस गणहरा होत्था।''
–कल्पसूत्र स्थविरावली, सू. २०१
(घ) ''समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारस्स गणा, एक्कारस गणहरा होत्था।''
–समवायांगसूत्र, समवाय ११
८३. (क) ''मगहा गुब्बरगामे जाया तिन्नेव गोयमसगुत्ता।''
–आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ६४३
(ख) देखें–आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ६४७-६४८
८४. ''गोभिस्तमो ध्वस्तं यस्य, असौ गौतमः।'' –अभिधान राजेन्द्रकोष, भा. ३
८५. जे गोयमा, ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा–ते गोयमा, ते गग्गा, ते भारहा, ते अंगिरसा, ते सक्कराभा, ते उदगत्ताभा।'' –स्थानांगसूत्र, स्थान ७, सू. ५५१
८६. देखें–भारतीय प्राचीन चरित्रकोश, पृ. १९३, १९५
८७. कल्पसूत्र की सुबोधावृत्ति, पृ. ३८९
८८. (क) कषायपाहुड की टीका, पृ. ७६
(ख) षट्खण्डागम धवला, पृ. ६२
८९. (क) उपासकदशांगसूत्र, अ. १
(ख) वही, अ. १
९०. (क) उपासकदशासूत्र, अ. १
(ख) वही, अ. १
(ग) वही, अ. ३
९१. अन्तकृद्दशासूत्र, वर्ग ६
९२. भगवतीसूत्र, श. २, उ १
९३. सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. २/७/३६-३८
९४. (क) भगवतीसूत्र १४/७
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका सहित २३
(ग) विपाकसूत्र
९५. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २३
(ख) भगवतीसूत्र, श. १
९६. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ६५०-६५५
९७. वही, गा. ६५०-६५५
९८. वही, गा. ६४३-६५५

९९. (क) वही, गा. ६५५

(ख) "जीवंते चेव भट्टारए णवहिं जणेहिं अज्ज-सुहम्मस्स गणो णिक्खित्तो दीहाउग्गेत्ति णातुं।" —कल्पसूत्रचूर्णि २०१

(ग) "परिनिव्वुया गणहरा जीवंते नायए नव जणा उ।
इंदभूई सुहम्मो अ, रायगिहे निव्वुए वीरे॥" —आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ६५८

१००. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ६५४-६६०

१०१. वही, गा. ६४४-६५५

१०२. (क) "तंमि चेव मगहा जणवते मोरिय-सन्निवेसे मंडिया मोरिया दो भायरो।" —आवश्यकचूर्णि उपोद्घात, पृ. ३३७

(ख) "पत्न्यां विजयदेवायां, धनदेवस्य नन्दनः।
मण्डिकोऽभूत्तत्र जाते, धनदेवो व्यपद्यत॥
लोकाचारो ह्यसौ, सत्रेत्यभार्यो मौर्यकोऽकरोत्।
भार्यां विजयदेवां तां, देशाचारो हि न ह्रिये॥
क्रमाद् विजयदेवायां, मौर्यस्य तनयोऽभवत्।
स च लोके मौर्यपुत्र, इति नाम्नैव प्रपथे॥"
—त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र १०/५/५३-५५

(ग) "Besides Sthavira Mandita and Sthavira Mauryaputra were brothers, having one mother Vijayadevi, but have different Gotras, derived from the Gotras of their different fathers, the father of Mandit was Dhanadeva of Vashistha gotra, and the father of Mauryaputra was 'Maurya' of Kasyapa gotra; as it was not forbidden for a widowed female in that country, to have a re-marriage with another person, after the death of her former husband."

(घ) गणधरवाद प्रस्तावना (पं. दलसुखभाई मालवणिया), टिप्पण, पृ. ६३

(ङ) समवायांगसूत्र, समवाय ८३

१०३. समवायांगसूत्र, समवाय ३०

१०४. वही, समवाय ६५

१०५. देखें–गणधरवाद, पृ. ६४ का चार्ट

१०६. Ganadhara Maharaja Mandit was fifty three years old when he renounced the world....After a period of fourteen years of ascetic life, Mandit acquired Keval Gnana....and he acquired Moksha Pada.....when he was eighty three years old. (p. 122)

Ganadhara Maharaja Mauryaputra was sixty five years old when he renounced the world. After a period of fourteen years of ascetic life Ganadhara Mauryaputra acquired Kevala Gnana.....at the age of seventy nine.

Ganadhara Maharaja Mauryaputra remained a Kevali for sixteen years and he acquired Moksha Pada.....when he was ninty five years old. (p. 124)

१०७. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ६४४-६५६
१०८. वही, गा. ६४४-६५६
१०९. वही, गा. ६४५-६५६
११०. वही, गा. ६४५-६५६
१११. "इन्द्रभूतिर्विभाव्यैवं, शिष्याणां पंचभिः शनैः।
स्वयं जग्राह धर्मोपकरणं त्रिदर्शार्पितम्॥"
—त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ५, श्लो. ९३
११२. आवश्यकचूर्णि, महावीर चरित्र, त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र
११३. (क) आवश्यकचूर्णि, पृ. ३७०
(ख) त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र १०/५/१७६-१८०
(ग) महावीर चरित्र (गुणचन्द्रगणी), पत्र २५८
११४. (क) "उप्पन्ने इ वा, विगइ वा, धुव्वेइ वा।" —भगवती ५/९
(ख) "जाते संघे चतुर्धैवं, ध्रौव्योत्पाद-व्ययात्मिकाम्।
इन्द्रभूति-प्रभृतानां, त्रिपदीं व्याहरत् प्रभुः॥"
—त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र १०/५
११५. (क) "जम्हा तित्थगरो तित्थपवत्तण काले गणधराणं सव्व-सुत्त धारत्तणतो पुव्वं पुव्वगय-सुत्तत्थं भासइ, तम्हा पुव्वत्ति भणिया, ..."
—नन्दी, हारिभद्रीया वृत्ति, पृ. १०७
(ख) "सूत्रितानि गणधरै रंगेभ्यः पूर्वमेव यत्।
पूर्वाणीत्यभिधीयन्ते तेनैतानि चतुर्दश॥" —त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र १०/५
११६. "जग्रन्थ द्वादशांगी भवजलधि-तरी ते निषद्यात्रयेण।"
—अपायाकल्प विविध तीर्थकल्प, पृ. २५
११७. "मम णव गणा एक्कारस गणधरा।" —ठाणं ९/६२
११८. समवायांग, समवाय ११
११९. "निव्वुइ-पह-सासणयं, जयइ सया सव्व-भाव-देसणयं।
कुसमय-मय-नासणयं, जिणिंद-वर-वीर-सासणयं॥" —सिरि नंदीसुत्तं, गा. २४
१२०. "शिष्यतेऽनेनेति शासनम्, निर्वृति (निर्वाण) पथस्य प्रतिपादकं शासनम् निर्वृति शासनम्।" —नन्दीसूत्र वृत्ति
१२१. (क) "इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं, नेयाउयं, संसुद्धं, सल्लकत्तणं, सिद्धिमग्गं, मुत्तिमग्गं, निज्जाणमग्गं, निव्वाणमग्गं, अवितहमविसंदिद्धं, सव्वदुक्ख-पहीणमग्गं, इत्थंठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणयंतं करेंति।"
—आवश्यक सूत्रान्तर्गत श्रमणसूत्र पाठ
(ख) देखें—'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) में इसका विवेचन
१२२. "अत्र चाऽयं वृद्धसम्प्रदायः—स्थूलभद्रस्य शिष्यद्वयम् आर्य महागिरिः, आर्य सुहस्ती च। तत्र आर्य महागिरेर्या शाखा, सा मुख्या।" —मेरुतुंगीया स्थविरावली

१२३. "यश्च यश्च कालं करोति, स स सुधम्मस्वामिनो गणं ददाति।"
—आवश्यक मलय वृत्ति, भा. २, पृ. ३३९

१२४. "तित्थं च सुहम्माओ, निरवद्या गणहरा सेसा।" —नन्दीवृत्ति

१२५. जैनधर्म के प्रभावक आचार्य (साध्वी संघमित्रा) से भाव ग्रहण

१२६. "अधुनैकादशांग्यस्ति सुधर्मास्वामिभाषिता॥११४॥" —प्रभावक चरित, पत्रांक ८

१२७. "गोदम सामिम्हि णिव्वुदे संते लोहज्जाइरिओ केवलणाण-संताणहरो जादो।"
—षट्खण्डागम वेदना खण्ड, धवला, पृ. १३०

१२८. "आसीत् सुधर्मा गणभृत्सुतेषु श्रीवर्धमान-प्रभु-पट्ट-धुर्यः॥११॥"
—पट्टावली समुच्चय श्री महावीर पट्ट परम्परा, पृ. १२१

१२९. "थित्तं न नीतं वनिता विकारैर्वित्तं न नीतं चतुरैश्च चौरैः॥२॥"
—पट्टावली समुच्चय (तपागच्छ), पृ. ४२

१३०. "पंचमगणहारि सुहम्मसामिणा दिन्न पुन्न पवज्जो।"
—उपदेशमाला, विशेषवृत्ति जम्बूचरियं, पत्रांक १८५

१३१. "बीओ जम्बू त्ति''' स च षोडश वर्षाणि गृहस्थपर्याये, विंशति वर्षाणि व्रतपर्याये, चतुश् चत्वारिंशत् वर्षाणि युगप्रधानपर्याये चेति, सर्वायुरशीति वर्षाणि परिपाल्य श्रीवीरात् चतुष्षष्टिवर्षे सिद्धः।" —पट्टावली समुच्चय (तपागच्छ), पृ. ५

१३२. देखें—रत्नप्रभसूरिरथित जम्बूचरित्र

१३३. वही

१३४. "मनःपरावधीश्रेण्यौ, पुलाकाहारकौ शिवम्।
कल्प-त्रिसंयमा ज्ञानं, नासन् जम्बूसुनेरनु॥" —परिशिष्ट पर्व

१३५. 'जम्बूस्वामीचरित्र'—वीरकवि

१३६. "महापुण्य प्रभावस्य, तस्याय वचमेदृशा।
ते चौराः स्तब्धवपुषोऽभूवन् लेप्यसया इव॥७९॥" —परिशिष्ट पर्व, सर्ग २

१३७. "वयस्य देहि मे विद्यां, स्तम्भनीं नवीं मोक्षणीमपि।
अवस्वापनिका-तालोद्घाटिन्यौ तं ददाम्यहम्॥८२॥" —परिशिष्ट पर्व, सर्ग २

१३८. "सुहम्मो नाम गणधरो आसी, तस्स वि जम्बू णामो, तस्स वि य पभवो त्ति। तस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तम्मि चिंता समुप्पन्ना—को मे गणहरो होज्ज त्ति। अप्पणो गणे य संघे य सव्वओ व उवओगो कओ। ण दीसइ कोइ अव्वोच्छित्तिकरो। ताहे गारत्थेसु उवउत्तो, उवओगे कए रायगिहे सेज्जंभवं माहणं जन्नं जयमाणं पासइ।"
—दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्रांक ११/१

१३९. "अहो शय्यंभवो भट्टो, निष्ठुरेभ्योऽपि निष्ठुरः।
स्वां प्रियां यौवनवतीं, सुशीलामपि योऽत्यजत्॥" —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

१४०. "अपश्चिमो दशपूर्वी, श्रुतसारं समुद्धरेत्।
चतुर्दशपूर्वधरः, पुनः केनाऽपि हेतुना॥" —वही, सर्ग ५, श्लो. ८३

१४१. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गा. १६-१७

१४२. "आणंद-अंसुपायं कासी, सिज्जंभवा तहिं थेरा।
जसभद्दस्स य पुच्छा, कहणा य वियालणा संघे॥"
—दशवैकालिकनिर्युक्ति, गा. ३७१

१४३. पट्टावली समुच्चय (श्री गुरुपट्टावली), पत्रांक १६४

१४४. "जसभद्दं तुंगियं वंदे।" —नन्दीसूत्र

१४५. "मेधाविनो भद्रबाहु-सम्भूतविजयैः मुनि।
चतुर्दशपूर्वधरौ, तस्स शिष्यौ बभूवतुः॥" —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

१४६. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

१४७. थेरस्स णं अज्जसंभूय विजयस्स···· इमे दुवालस थेरा अंतेवासी होत्था, तं जहा–
"नंदण भद्दे उवनंदभद्दे, तह तीसभद्द जसभद्दे।
थेरे य सुमिअणभद्दे, मणिभद्दे य पुन्नभद्दे य॥१॥
थेरे य थूलभद्दे, उज्जुमती जंबूनामधेज्जे य।
थेरे य दीहभद्दे, थेरे तह पंडुभद्दे य॥२॥" —कल्पसूत्र, स्थविरावली २०८

१४८. (क) उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ. २३७-२३९
(ख) "अब्भुट्ठिया मणागं, दुक्करकारीणं सागयं तुब्भं।
आसासिया कमेण गुरुणा, ता थूलभद्दोति॥"
—उपदेशमाला, विशेष वृत्ति २३८-२३९

१४९. थेरस्स णं अज्ज संभूइविजयस्स···· इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिमाताओ होत्था, तं जहा–
"जक्खा य जक्खदिन्ना य, भूया तहेव भूई दिन्ना य।
सेणा वेणा रेणा, भगिणीओ थूलभद्दस्स॥१॥" —कल्पसूत्र २०८

१५०. "श्रीसंघायोपदां प्रैषीन्, मन्मुखेन प्रसादभाक्।
श्रीमान् सीमन्धरस्वामी, चत्वार्यध्ययनानि च॥
भावना च विमुक्तिश्च, रतिकल्पमथापरम्।
तथा विचित्रचर्यां च, तानि चैतानि नामतः॥"
—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९, श्लो. ९७-९८

१५१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९

१५२. वही, सर्ग ७, श्लो. ४

१५३. उक्त ध्यान-साधना से १४ पूर्वशास्त्रों की समग्र ज्ञान-राशि का मुहूर्त्त मात्र में परावर्तन (पारायण) कर लेने की क्षमता आ जाती है।
—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९, श्लो. ६२

१५४. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९, श्लो. १७२

१५५. उपदेशमाला, गा. ४, पत्र २३४

१५६. "सयडालेणं भणियं, तालउडे भक्खियंमि मयि पुव्वं।
निव-पाय-पडण-काले, परिज्झंसु तं गयासंको॥३८॥"
—उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ. २३६

१५७. "मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमप्रभुः।
मंगलं स्थूलभद्राद्या, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥"

१५८. "अह वारस-वारिसिओ आओ, कूरो कयाइ दुक्कालो।
सव्वो साहुसमूहो, तओ गओ कत्थइ कोइ॥२२॥
तदुवरमे सो पुण रवि, पाडिले पुत्ते समागओ विहिया।
संघेणं सुय-विसया चिंता, किं कस्स अत्थित्ति॥२३॥
जं जस्स आसि पासे, उद्देसज्झयणगाइ तं सव्वं।
संघडियं एक्कारसं, गाइं तहेव ठवियाइं॥२४॥
—उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक २४१

१५९. आवश्यकचूर्णि, भा. २, पृ. १०७

१६०. "In June 323 B.C. Alexander died at Babylone and no permanent incumbent in Philip's place could ever be appointed."
—V.A. Smiths Ashotza P.I. Cambridge History, p. 428-1-23-8

१६१. "थूलभद्दस्स जुगप्पहाणा दो सीसा, अज्ज महागिरि य अज्ज सुहत्थी य।"
—संभाष्य निशीथचूर्णि, पत्रांक ३६१

१६२. "तौ हि यक्षार्या, बालादपि मात्रेव पालितौ।
इत्यार्योपपदौ जातौ, महागिरि-सुहस्तिनौ॥३७॥" —परिशिष्ट पर्व, सर्ग १०

१६३. परिशिष्ट पर्व २०/४०

१६४. निशीथचूर्णि संभाष्य, भा. २, पृ. ३६१

१६५. परिशिष्ट पर्व ११/२

१६६. उपदेशमाला विशेष वृत्ति, श्लो. २-७, पत्रांक ३६९

१६७. वही, श्लो. १२-१८, २१-२४, पत्रांक ३७०

१६८. "अब्भुट्ठाणं बहुमाणमायरं तारिसं कुणंतेण।
तइ तइया विहियाणेसणा हि तब्भनिजणणाओ॥२६॥"
—उपदेशमाला बृहद् वृत्ति, पत्रांक ३७०

१६९. "रोहगुत्तेहिंतो कोसियगुत्तेहिंतो तत्थ णं तेरासिया निग्गया।"
—कल्पसूत्र स्थविरावली, सू. २०९

१७०. "भावी प्रवचनाधारो रंकोऽयं भवान्तरे।" —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११

१७१. "कोसंबाऽऽहारकते, अज्जसुहत्थीत दमग-पवज्जा।
अव्वत्तेणं सामाइएणं, रण्णो घरे जातो।।" —बृहत्कल्प भाष्य, विभाग ३/३२७५

१७२. "अज्ज-सुहत्थाऽऽगमणं दट्ठुं, सरणं च पुच्छणा कहणा।
पावयणम्मि य भत्ती, तो जाता संयतीरण्णो॥" —वही, विभाग ३/३२७७

१७३. ''ततः प्रेषीदनार्येषु साधुवेषधरान् नराम्।''
—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११/९१, ११/९९, ११/१७१

१७४. वही ११/१३३

१७५. ''थेरेहिंतो उत्तरबलिस्सहेहिंतो तत्थ णं उत्तरबलिस्सहे नामं गणे निग्गए।''
—कल्पसूत्र स्थविरावली

१७६. (क) नन्दीसूत्र स्थविरावली, गा. २७
(ख) ''हारियगोत्तं साइं च, वंदियो हारियं च सामज्जं।'' —नन्दी स्थविरावली २८

१७७. कल्पसूत्र स्थविरावली २०९

१७८. ''सिरि-वीराओ गएसु, पणतीसहिएसु तिसय (३३५) वरिसेसु।
पढमो कालगसूरी जाओ, सामज्ज-नामुत्ति॥५५॥'' —रत्नसंचय प्रकरण, पत्रांक ३२

१७९. ''निज्जूढा जेण तथा, पन्नवणा सव्वभावपन्नवणा।
तेवीसइमो पुरिसो, पवरो सो जयइ सामज्जो॥''
—परिशिष्ट पर्व १८८, ऋषिमंडल पत्रांक ३५३

१८०. ''सिद्धान्ते श्री वीरादन्वेकादशगणभृद्भिः सह त्रयोविंशतितमः पुरुषः श्यामार्य इति व्याख्यातः।'' —विचारश्रेणी

१८१ ''स्वपट्टे कालकं, योग्यं प्रतिष्ठाप्यगुरुस्ततः।
श्रीमान् गुणाकरः सूरिः, प्रेत्य कार्याण्यसाधयत्॥''
—प्रभावक चरित, पत्रांक २२/२५

१८२. ''वंदे कोसियगोत्तं'' संडिल्लं अज्ज-जीयधरं।'' —नन्दी स्थविरावली, गा. २८

१८३. ''तियमुद्द-खायकित्तिं, दीवसमुद्देसु गहिय-पेयालं।
वंदे अज्जसमुद्दे अक्खुभिय-समुद्द-गंभीरं॥''

१८४. ''जंघाबल-परिक्षीणानामुदधिनाम्नामार्य समुद्राणामपराक्रमं मरणमभूदिति वृद्धंप्रसिद्धिः।'' —आचारांग वृत्ति १/८/१ उ.

१८५. ''पडिपक्खे अज्ज समुद्दा, ते रसगिद्धीए भीता, एक्कतो, सव्वं मेलेउं भुंजति।''
—निशीथचूर्णि

१८६. निशीथचूर्णि, गा. ३/३२००, पृ. १५२-१५३

१८७. ''चउद्दसपुव्वधरा वि, पमायओ जंतिऽनंतकायेसु।
एयं पिह हा हा पावं, जीवन्ताए तया सरियं॥'' —आर्य मंगू कथा १०

१८८. ''ता ऊसवो स सन्नी, निम्मल-मइ-नाण-संगओ सुणइ।
महिलाणं तमुल्लावं, जाइसरणो तओ॥३१॥''
—उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पत्रांक २०८

१८९. ''अतिखिन्ना च सावादीदत्रार्यसमितो मुनिः।
साक्षी सख्यश्च साक्षिण्यो, भाषे नाऽतः किमप्यहम्॥९४॥''
—प्रभावक चरित, पत्रांक ४

१९०. ''निवसंतो तो तासिं, समीवदेसे सुणइ अंगाइं।
एक्कारस वि पढंतीया, ताव तेणोवलद्धाणि॥९८॥''
—उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पत्रांक २१०

१९१. उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पत्रांक २१०, श्लोक ९७-९८

१९२. "वज्रप्राग्जन्य-सुहृदो ज्ञानाद् विज्ञाय ते सुराः।
तस्याचार्य-प्रतिष्ठायां चक्रुरुत्सवमद्भुतम्॥" —प्रभावक चरित, पत्रांक ९

१९३. "वयरसामि वि पंचहिं अणगार सएहिं संपरिवुडो विहरइ।"
—आवश्यक मलय वृत्ति ३८९/२

१९४. "तत्रैव महाधन-धनश्रेष्ठि-नन्दना रुक्मिणी।
प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभ-चूडामणिना प्रव्राजिता॥"
—विविध तीर्थकल्प—पाटलिपुत्र नगरकल्प, पृ. ६९

१९५. "जेणुद्धरिया विज्जा, आगासगमा महापरिन्नाओ।
वंदामि अज्जवइरं, अपच्छिमो यो सुयधराणं॥७६९॥"
—आवश्यक मलय वृत्ति, भाग २, पत्रांक ३९०

१९६. "इतो य वइरसामी दुक्खिणावहे, विहरति ज दुब्भिक्खं च।
जायं वारस-बरिसगं सव्वतो, समंता छिन्नपथा निराधारजातं॥"
—आवश्यकचूर्णि, पत्रांक ४०४

१९७. (क) "वास पंचसएहिं अज्जवहरे दसमं पुव्वं, संघयणचउक्कं च अवगच्छिहो।"
—विविध तीर्थकल्प, पृ. ३८

(ख) "जावंत अज्जवइरा, अपुहुत्त कालिआणुओगस्स।
तेणारेण पुहुत्तं, कालिअसुइ दिट्ठिवाए अ॥"
—आवश्यक मलय वृत्ति, पृ. ३८३

१९८. "सूर्याश्वयोरिव ययौ, तयोः पुत्रौ बभूवतुः।
आर्यरक्षित इत्यायोः द्वितीयः फल्गुरक्षितः॥९॥" —प्रभावक चरित, पत्रांक ९

१९९. "धिक् ! समाधीत, शास्त्रौघं बह्वायवकरप्रभम्।
येन मे जननी, नैव परितोषमवापिता॥१९॥" —वही, पत्रांक ९

२००. "नवाण्हे दृष्टिवादस्य, पूर्वाण्यध्ययनानि वा।
दशमं खण्डमध्येष्ये, दध्यौयानिति सोऽभूः॥५४॥" —परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३

२०१. "श्रीमन्तोसलिपुत्राणां, मिलितः परमामुदा।
पूर्वाणां नवके सार्द्धे, संगृहीतो गुणोदधिः॥११७॥"

२०२. आवश्यक मलय वृत्ति, पत्रांक ३९४

२०३. (क) "तं च सूरिपदे न्यस्य, गुरवोऽगुः परं भवम्।
अथार्यरक्षिताचार्यः, प्रायात् दशपुरं पुरम्॥" —प्रभावक चरित, पत्रांक १२
(ख) वही, पत्रांक २१, श्लो. ११७-११८

२०४. व्यवहारचूर्णि, उ. ८

२०५. "देविंद-वंदिएहिं, महाणुभावेहिं रक्खिअ-अज्जेहिं।
जुगमासज्ज विहत्तो, अणुओगो वा कओ चउहा॥७७४॥"
—आवश्यक मलय वृत्ति, पत्रांक ३९१

२०६. (क) आवश्यकनिर्युक्ति ३६५-३७०
(ख) विशेषावश्यक भाष्य, गा. २२८४-२२९५
(ग) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ७६२
(घ) विशेषावश्यक भाष्य, गा. २२७९

२०७. "वंदामि अज्जरक्खिय-समणे, रक्खिय चरित्त सव्वस्से।
रयणकरंडगभूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं॥" –नन्दीसूत्र स्थविरावली, गा. ३२

२०८. "इन्थं वसु-पूसमित्तो धयपूसमित्तो दुब्बलियापूसमित्तो अ लद्धिसंपन्ना विहरिया।"
–विविध तीर्थकल्प, पृ. १९

२०९. देखें–नन्दीसूत्र स्थविरावली, गा. ३३

२१०. "वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्ज-नागहत्थीणं।
वागरण-करण-भंगिय-कम्मपयडी-पहाणाणं॥३४॥"
–नन्दी स्थविरावली, मलय वृत्ति

२११. "जच्चंजण-धाउ-समप्पहाणं, मुद्दिय-कुवलय-निहाणं।
वड्ढउ वायगवंसो, देवइ-नक्खन्त-नामाणं॥३५॥"
–नन्दी स्थविरावली हिन्दी टीका (आचार्य श्री आत्माराम जी म.)

२१२. "अयलपुराणिक्खंते, कालिय-सुय-आणुओगिए धीरे।
बंभदीवक-सीहे, वायग-पयमुत्तमं पत्ते॥३६॥" –वही

२१३. वीर निर्वाण संवत् और जैनकालगणना (हिमवन्त स्थविरावली) (पं. कल्याण – विजय जी)

२१४. जैनधर्म के प्रभावक आचार्य (साध्वी संघमित्रा) से भाव ग्रहण, पृ. १८४-१८५

२१५. (क) वही, पृ. १८३
(ख) "बारस-संवच्छरिए महंते दुब्भिक्खकाले भत्तट्ठा अण्णण्णतो किडिताणं गहण-गुणणाणुप्पेहा भावातो सुत्ते विप्पणट्ठे। पुणो सुब्भिक्खकाले जाए मधुदाए महते साधुसमुदए खंधिलायरिय-प्पमुह-संघेण जो जं संभरति त्ति एवं संघडितं॥ (जे. १९० प्र.) कालियसुत्तं। जम्हा य एवं मधुराए कत्तं, तम्हा माधुरा वायणा भण्णति।" –नन्दीसूत्रचूर्णि, पृ. ९

२१६. नन्दीसूत्र स्थविरावली, गा. ३७, हिन्दी टीका

२१७. जैनधर्म के प्रभावक आचार्य (साध्वी संघमित्रा) से भाव ग्रहण, पृ. १८४-१८५

२१८. नन्दीसूत्र स्थविरावली, गा. ३८, हिन्दी टीका से भाव ग्रहण, पृ. ४१

२१९. वही, हिन्दी टीका, गा. ३९ से भाव ग्रहण, पृ. ४२

२२०. "....." तत्तो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत्। तद्यथा–एकोवल्लभ्याम् एकोमथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थ-संघटने परस्पर-वाचना भेदो जातः। विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा भवत्यवश्य-वाचनाभेदो न काचिदनुमपत्तिः।" –ज्योतिष्करण्डक टीका

२२१. (क) नन्दीसूत्र स्थविरावली, गा. ४१-४५
(ख) नन्दीसूत्र विवेचन (हिन्दी भाषा टीका सहित) (आचार्य श्री आत्माराम जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. ४३-४६

२२२. (क) नन्दीसूत्र स्थविरावली, गा. ४६
(ख) नन्दीसूत्र विवेचन (हिन्दी भाषा टीका सहित) (आचार्य श्री आत्माराम जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. ४६-४७

२२३. (क) नन्दीसूत्र स्थविरावली, गा. ४७-४९
(ख) नन्दीसूत्र विवेचन (वही), पृ. ४७-५०

२२४. (क) वही, गा. ५०
(ख) वही (विवेचन), पृ. ५०

२२५. देखें–नन्दीसूत्र, मूल पाठ, गा. ५१-५४

२२६. (क) वही, सूत्र १-५
(ख) नन्दीसूत्र हिन्दी टीका सहित (आचार्य श्री आत्माराम जी म.) की प्रस्तावना से भाव ग्रहण

२२७. अनुयोगद्वारसूत्र, खण्ड १ (आत्मज्ञान पीयूषवर्षिणी व्याख्या सहित) (पं. र. ज्ञान मुनि जी) से भाव ग्रहण, पृ. ५२

२२८. (क) देखें–वही, पृ. ५३-५६
(ख) इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए देखिये–वही, व्याख्या, पृ. ५०-५९

२२९. (क) नन्दीसूत्र की प्रस्तावना (मुनि श्री पुण्यविजय जी)
(ख) अन्यत्र नन्दीसूत्र के प्रारम्भ में ९० पद्यात्मक गाथाएँ तथा ५९ गद्यसूत्र हैं, ऐसा उल्लेख है।
देखें–प्राकृत भाषा का इतिहास (डॉ. नेमिचन्द्र जैन) में

२३०. नन्दीसूत्र विवेचन (हिन्दी भाषा टीका सहित) (आचार्य श्री आत्माराम जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. ५९-६०

२३१. "पंचसए पणसीए, विक्कमकालाओ झत्ति अत्थमिओ।
हरिभद्दसूरि सूरो, भवियाणं दिस्सउ कल्लाणं॥" –विचारश्रेणि